

संस्थापक संपादक : दूधनाथ सिंह : 1975

# पक्षधर

प्रतिरोध की संस्कृति का रचनात्मक हस्तक्षेप

वर्ष : 10 अंक : 20

जनवरी-जून, 2016

उपन्यास आलोचना  
महाविशेषांक  
भाग-2

संपादक  
विनोद तिवारी

संपादन सहयोग  
अजय आनंद  
आशीष मिश्र

वेब पता

[www.pakshdhar.com](http://www.pakshdhar.com)

## अक्षर संयोजन

कम्प्यूटेक सिस्टम

ई-17, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

आवरण : कुँअर रवींद्र

## मूल्य

एक प्रति : ₹ 75 यह अंक ₹ 100

## सदस्यता

वार्षिक : ₹ 200, संस्थाओं के लिए : ₹ 300 (डाक खर्च सहित)

पंचवार्षिक : ₹ 1000

आजीवन : ₹ 2500

विदेश के लिए : 75 \$

## संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

स्वामी-संपादक-प्रकाशक-मुद्रक विनोद तिवारी, सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 के लिए बी.के. ऑफसेट, एफ-93, पंचशील गार्डन, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से प्रकाशित और मुद्रित।

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है। संपादक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित सामग्री के किसी भी तरह के उपयोग की अनुमति नहीं होगी।

## सम्पर्क

सी-4/604, ऑलिव काउण्टी, सेक्टर-5

वसुंधरा, गाजियाबाद-201012

फ़ोन : 0120-4572303

मो. 09560236569

ई-मेल : pakshdharwarta@gmail.com

## PAKSHDHAR

A Bi-Annual Literary Magazine

Editor : Vinod Tiwari

Language : Hindi

केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त

ISSN : 2231-1173

## अनुक्रम

<b>गोपाल राय</b>	
औपन्यासिक संरचना की समस्या	5
<b>अजित कुमार</b>	
उपन्यास की विकास यात्रा : रोमांस से सामाजिक यथार्थ तक	40
<b>भोलाभाई पटेल</b>	
बृहत्कथा से नॉवेल तक	53
<b>परमानन्द श्रीवास्तव</b>	
भारतीय उपन्यास : एक खोज	70
<b>राजी सेठ</b>	
उपन्यास में समय की सत्ता	81
<b>रमेशचंद्र शाह</b>	
चेतना का पुनर्संगठन : भारतीय उपन्यास की भूमिका	86
<b>नित्यानंद तिवारी</b>	
उपन्यास-कला	101
<b>मैनेजर पाण्डेय</b>	
उपन्यास और लोकतंत्र	122
<b>सत्यप्रकाश मिश्र</b>	
हिन्दी उपन्यास का कुल-शील	143
<b>शंभुनाथ</b>	
भारतीय इतिहास की पहचान और उपन्यास	151
<b>वीरेन्द्र यादव</b>	
हिंदी उपन्यास : एक सबाल्टर्न प्रस्तावना	158

<b>जवरीमल्ल पारख</b>	
समय और समाज के मध्य उपस्थित उपन्यास	167
<b>मदन सोनी</b>	
हिन्दी उपन्यास की अल्पता पर कुछ ऊहापोह	177
<b>विनोद शाही</b>	
कथा का समाजेतिहास और उपन्यास	194
<b>रोहिणी अग्रवाल</b>	
उपन्यास में स्त्रियाँ और स्त्रियों का उपन्यास	207
<b>अवधेश कुमार सिंह</b>	
भारतीय उपन्यास की परिकल्पना : एक पुनर्विचार	218
<b>प्रणय कृष्ण</b>	
भारतीयता और हिन्दी उपन्यास	228
<b>आशुतोष कुमार</b>	
औपन्यासिकता और समय	240
<b>वैभव सिंह</b>	
उपन्यास और सुधारवाद	244

## औपन्यासिक संरचना की समस्या

---

गोपाल राय

साहित्य में वस्तु और रूप की प्रकृति तथा सम्बन्ध की समस्या एक जटिल और शाश्वत समस्या है, जिसकी पहचान और प्रयोग में ही रचनाकार की परख होती है। सच यह है कि वस्तु और रूप अभिन्न हैं 'कहियत भिन्न न भिन्न'। रचना में 'वस्तु' का 'रूप' से स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता, न ही 'रूप' की 'वस्तु' से निरपेक्ष कल्पना की जा सकती है। यह बात प्रकृति में भी देखी जा सकती है जहाँ नानात्व अपनी विविधता और विराटता में विद्यमान है और प्रत्येक पदार्थ अपनी विशिष्ट वस्तु और रूप के साथ दृष्टिगोचर है। प्रकृति में भी रूप और वस्तु के सम्बन्ध की व्याख्या करना बहुत कठिन काम है, क्योंकि यह सम्बन्ध बहुत जटिल होता है। यही बात साहित्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

उपन्यास की संरचना का विषय से अनिवार्य और घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। विषय से अलग संरचना की कल्पना असम्भव है; उसका अस्तित्व ही विषय सापेक्ष होता है। यद्यपि कुछ आलोचक विषय को ही रूप का अनुवर्ती मानते हैं, पर यह मान्यता तर्कसंगत नहीं है।<sup>1</sup> विषय के बिना रूप का अस्तित्व उसी प्रकार सम्भव नहीं है, जिस प्रकार आत्मा के बिना शरीर का। यदि द्रव्य (मैटर) को भी मूल तत्त्व मानें तो उसका रूपायन नाना प्रकार की वस्तुओं में होता है। इससे रूप का ही विषय का अनुवर्ती होना सिद्ध होता है। इसके साथ यह भी कम सच नहीं है कि संरचना की विशिष्टता के चलते ही विषय-विशेष को वैशिष्ट्य प्राप्त होता है। विषय और संरचना दोनों परस्परवलम्बी हैं। 'घी का लड्डू टेढ़ा भी भला' कहावत अपनी जगह ठीक है, पर घी का लड्डू सुडौल भी हो तो उसका आकर्षण निश्चय ही अधिक होता है। एक उदाहरण से इसकी पुष्टि की जा सकती है। एक मन्दिर का रूप वही नहीं होता, जो मस्जिद या गिरजाघर का होता है। व्याख्यान-कक्ष की बनावट शयन-कक्ष या पुस्तकालय या दूकान की बनावट से भिन्न होती है। यदि मन्दिर की संरचना लेकर शयन-कक्ष का निर्माण किया जाए तो या तो

सामग्री का अपव्यय होगा या उसमें रहना मुश्किल होगा। यही बात और भी जटिलता के साथ कला-वस्तुओं पर लागू होती है। उपन्यास के 'रूप' पर विषय का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि कला के रूप या आकार की सार्थकता विषयानुकूलता में है। कुछ आलोचक 'विषय' पर 'रूप' को तरजीह देने की बात करते हैं। कुछ का यह भी कहना है कि 'रूप' का चुनाव कर लेने पर कथ्य उससे निर्देशित हुए बिना नहीं रहता। पर यह कथन तर्कसंगत नहीं है। श्रेष्ठ कलाकार 'रूप' का चुनाव पहले नहीं करते। पहले 'रूप' का चुनाव करने का अर्थ यह है कि वह पहले से कहीं विद्यमान है, अर्थात् बासी है। 'विषय' भी स्वयं में नया नहीं होता। उसमें नयापन तब आता है जब वह कलाकार के 'विजन' से उद्भासित होता है। कोई वस्तु या विषय स्वयं में चाहे कितना भी सुन्दर या उपयोगी क्यों न हो यदि वह कलाकार के विजन में परिणत नहीं होता और उसे उसके अनुरूप आकार नहीं मिलता तो उसकी उत्तमता बाधित हो जाती है। कलाकार का विजन अपना 'रूप' स्वयं ही ढूँढ लेता है। यदि कलाकार ऐसा करने में समर्थ नहीं होता और वह कहीं से उधार लेकर या किसी अन्य कलाकार का अनुकरण करके अपनी कला के 'रूप' का निर्धारण करता है तो निश्चय ही वह श्रेष्ठ कलाकार नहीं हो सकता।

अतः उपन्यास की संरचना का विवेचन करते समय सर्वप्रथम उसके विषय या केन्द्र का निर्धारण अनिवार्य होता है। टालस्टॉय के युद्ध और शान्ति के विषय में आलोचकों का मत है कि वह एक महान रचना तो है, पर उसकी संरचना दोषपूर्ण है। इस कथन में विरोधाभास दीखता है। पर वास्तविकता यह है कि युद्ध और शान्ति अपवाद की श्रेणी की एक असाधारण रचना है। पर्सी लुबॉक के अनुसार युद्ध और शान्ति में सामग्री का दुरुपयोग हुआ है। पर, टालस्टॉय के पास सामग्री का इतना प्राचुर्य और समृद्धि है कि वह उसका दुरुपयोग करके भी महान बना रहता है। युद्ध और शान्ति की संरचना का दूसरा दोष यह माना जाता है कि उसमें दो विषय एक दूसरे से चिपके हुए हैं। संरचना के एकल सौन्दर्य के लिए उपन्यास के केन्द्र में एकल कथ्य का, चाहे वह जितना भी फैला हुआ और युगव्यापी क्यों न हो, होना जरूरी है। युद्ध और शान्ति में टालस्टॉय एक तरफ 'यौवन और उम्र' की कहानी कहता है और दूसरी तरफ उसमें रूसी इतिहास के एक संकटपूर्ण संघर्ष को चित्रित करने का प्रयास भी दिखायी पड़ता है। पहली कहानी में कुछ युवकों और उनकी संवेदनाओं की कहानी कही गयी है। जो युवावस्था को पार कर प्रौढ़ावस्था में पहुँच जाते हैं। समय का जगन्नाथी चक्का एक चौथाई या उससे भी कुछ कम घूम जाता है। इस कालचक्र की गतिमानता युद्ध और शान्ति में अत्यन्त प्रभावशाली रूप में व्यंजित हुई है। दूसरी तरफ इतिहास के संकटपूर्ण संघर्ष का, जिसमें नेपोलियन और कुतुजोव तथा असंख्य सेनाध्यक्षों की गतिविधियाँ प्रस्तुत की गयी हैं अंकन भी उतने ही प्रभावशाली ढंग से हुआ है। पर्सी लुबॉक के अनुसार यदि टालस्टॉय इन दो विषयों के आधार पर दो उपन्यास लिख डालता तो भी उसकी अद्वितीयता में कोई कमी नहीं आती। इन दोनों को मिलाकर भी उसकी महानता अक्षुण्ण है। टालस्टॉय ने अपने समस्त अनुभव को उसकी विशालता और वैविध्य में ही रख दिया है : चयन और छँटाई को, जो संरचना की आवश्यक शर्त मानी जाती है, उसने आवश्यक नहीं समझा है। इसे 'जबर्दस्त की लाठी' कहा जा सकता है। टालस्टॉय के अनुभव का संसार इतना विशाल और वैभवपूर्ण तथा उनकी संवेदना इतनी गहरी और सर्वातिशायी है कि संरचना की कमजोरी उसका कुछ बिगाड़ नहीं पाती। हिन्दी में इसके उदाहरण कबीरदास हैं जो कविता के रूप पक्ष की अवमानना करके भी अपनी संवेदना और सच के प्रति कठोर निष्ठा के कारण महान कवि बने रह जाते हैं।

‘युद्ध और शान्ति’ ऐसा उपन्यास है जिसमें जीवन का सैलाब उमड़ता हुआ सा प्रतीत होता है। यदि कोई उपन्यास जीवन के समान ही व्यापक और वैविध्यपूर्ण हो सकता है, तो उसका एक मात्र उदाहरण युद्ध और शान्ति है। टालस्टॉय की जीवन पर महान पकड़ का कोई अन्त नहीं दीखता। वह जीवन के एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र को प्रस्तुत करने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। इसके साथ ही वह प्रत्येक दृश्य के सूक्ष्म ब्योरों और पात्र विशेष की सूक्ष्मता विशेषताओं को भी अद्भुत सुकुमारता और यथार्थता के साथ अभिलेखित करता है। पर्सी लब्बॉक आश्चर्य के साथ स्वीकार करते हैं कि इतने बृहत् पैमाने पर प्रभावशाली रचना असम्भवप्राय है, पर टालस्टॉय से कहाँ चूक हुई है, इसे बताना बहुत मुश्किल है। चरित्रों पर उसकी पकड़ अद्वितीय है। दृश्यों और प्रसंगों की अन्तहीन शृंखला में कहीं कोई त्रुटि नजर नहीं आती। कथासंसार धीरे धीरे खुलता है और पाठक उसके साथ बिना किसी तरह का सन्देह किये बढ़ता जाता है। इस बहाव में इस बात का पता तक लगाना कठिन हो जाता है कि उपन्यास का विषय क्या है?

इसके लिए हमें पहले ‘युद्ध और शान्ति’ की कहानी पर ध्यान देना होगा। सर्वप्रथम इस कहानी में कतिपय पीढ़ियों के जीवन की विभिन्न मंजिलों की शृंखला दीख पड़ती है। जवानी प्रौढ़ावस्था में बदल जाती है, वैभव आपस में मिलते हैं टकराते हैं और पुनर्निर्मित होते हैं। कुछ की आशाएँ पनपती हैं, मुरझाती हैं, और फिर दूसरों के जीवन में प्रकट होती हैं; एक पूरी पीढ़ी समाप्त हो जाती है और जीवन की मशाल युवा पीढ़ी को पकड़ा देती है। इस प्रकार पीढ़ियों के गतिशील जुलूस का अंकन ही युद्ध और शान्ति का है। उपन्यास में प्रस्तुत युवा पात्र आकृति, प्रकृति, बुद्धि और भावदशा में एक दूसरे से भिन्न हैं पर उनका यौवन सार्वभौम और सार्वकालिक है। रोस्तोव-परिवार यौवन के संगीत से अनुगुंजित है। एंड्रयू और पीटर बेजुकोव जैसे उदार और समृद्ध युवकों तथा नताशा जैसी संवेदनशील और प्यारी लड़कियों से, जो नयी पीढ़ी में अपनी जगह बनाने के लिए बेताब हैं, उपन्यास भरा हुआ है। इस तरह के परिव्याप्त विषय को नाटकीय रूप में प्रस्तुत करना किसी महान प्रतिभा के लिए ही सम्भव है, और वह टालस्टॉय में है।

उल्लेखनीय है कि ‘युद्ध और शान्ति’ उपन्यास का शीर्षक होने पर भी वह केन्द्रीय विषय नहीं है। नेपोलियन और रूस के बीच युद्ध के ऐतिहासिक दृश्य की योजना मूल नाटक की पृष्ठभूमि के रूप में ही हुई है। यौवन और वय के ज्वार-भाटे का चित्रण ही इस उपन्यास का कथ्य है। पर्सी लब्बॉक के अनुसार शाश्वत जीवन-चक्र में राष्ट्र का विशोभ एक आकस्मिक घटना है, जो शान्त हो जाता है। इसके बरक्स यौवन और उम्र की कहानी एक शाश्वत सत्य है, जिसका कभी अन्त नहीं होता। टालस्टॉय एक तरफ तो मानव जीवन की शाश्वत कहानी लेते हैं, और फिर मानो उससे सन्तुष्ट न होकर एक महान् ऐतिहासिक संघर्ष का चित्रण करने लगते हैं। वे जैसे इस बात से अवगत ही नहीं हैं कि वे एक साथ दो उपन्यास लिख रहे हैं। लब्बॉक टालस्टॉय की महान् प्रतिभा के सामने नतमस्तक होते हुए यह स्वीकार करते हैं कि उन्होंने दो अविस्मरणीय महाकाव्यों को इस प्रकार आपस में गूँथ दिया है कि उन्हें एक-दूसरे से अलग करना असम्भव है। वे युद्ध और शान्ति की तुलना इलियड और एनीड से करते हुए कहते हैं कि यह इलियड की तरह कुछ व्यक्तियों की कहानी भी है और एनीड की तरह राष्ट्र की गाथा भी। पर लुब्बॉक मानते हैं कि टालस्टॉय ने इन कहानियों को साभिप्राय एकबद्ध नहीं किया है। उनके अनुसार इसकी पुष्टि उपन्यास से नहीं होती; उसमें कोई ऐसा कोण नहीं दिखायी देता, जहाँ दोनों कहानियाँ आपस में मिलती और किसी एकल मनःप्रभाव में विलीन

होती हों। इनमें से कोई भी गौण नहीं है। समय-समय पर बिना किसी स्पष्ट तर्क और बिना किसी पूर्व सूचना के एक कहानी समाप्त होती है और दूसरी शुरू हो जाती है। प्रथम कहानी में टालस्टॉय युवा पीढ़ी के प्रेम और महत्वाकांक्षा की कहानी कहता है और दूसरी कहानी में सेनाध्यक्ष, सामन्त और सम्राट रंगमंच पर उपस्थित होते हैं। पहली कहानी जो अब तक केन्द्र में थी, किनारे पड़ जाती है बहुत दूर तक उसके दर्शन ही नहीं होते। इस प्रकार पर्सी लुबॉक के अनुसार युद्ध और शान्ति में दो आकल्पनों या डिजाइनों का घालमेल हो गया है। इसमें केन्द्र का अभाव है। इसके बावजूद लुबॉक बार-बार इस बात को दुहराते थकते नहीं कि युद्ध और शान्ति विश्व के महानतम उपन्यासों में एक है। उनके अनुसार यह जीवन का ऐसा चित्र है, जो अपने वैभव और सौन्दर्य में अद्वितीय है।

पर्सी लुबॉक किंचित् निराशा के स्वर में कहते हैं कि युद्ध और शान्ति में साफ और सुसंगत रूप का अभाव है। पर लुबॉक की निराशा का कारण शायद यह है कि वे उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासों की यथार्थवादी संरचना से अभिभूत या बेहद प्रभावित हैं। वे मानते हैं कि उपन्यास में किसी न किसी रूप में संरचना का सुगठित और सुडौल होना जरूरी है। यदि उन्होंने महाभारत पढ़ा होता तो देखा होता कि कैसे कोई कथा-रचना बिखरी हुई प्रतीत होने पर भी महान हो सकती है। जैसे ब्रह्मांड के सौन्दर्य से अभिभूत होने पर भी उसके आकल्पन को समझना कठिन है, उसी प्रकार महाभारत या युद्ध और शान्ति जैसी कथा-रचनाओं के आकलन को समकालीन रचनाओं के निकष पर आँकना मुश्किल है। कोई रचना जीवन जैसी ही विराट और मनुष्य के बनाए नियमों से परे हो तो इसे उसका दोष नहीं माना जा सकता। जीवन एक साथ ही शाश्वत भी है और क्षणिक भी। शाश्वत यदि अपनी विशालता में अभिभूत करनेवाला है तो क्षण अपनी गहनता में बेधने वाला। दोनों को एक साथ, और समान उदात्ता के साथ, चित्रित करने के लिए महर्षि व्यास या महामना टालस्टॉय जैसी प्रतिभा और असाधारण अनुभव-सम्पदा चाहिए। वे इस बात की चिन्ता नहीं-करते कि आप उन्हें उपन्यासकार मानें ही। उनके मूल्यांकन के लिए प्रचलित कसौटियाँ पर्याप्त नहीं हो सकती। अतः यदि लुबॉक को युद्ध और शान्ति में 'केन्द्र' नहीं दिखायी देता तो यह उपन्यास के 'रूप' की कमजोरी नहीं है। वह केन्द्र से परिधि की ओर अग्रसर होनेवाली रचना नहीं है। वह एक ऐसे बृहद् वृत्त की तरह है जिसमें अनेक छोटे-बड़े वृत्त हैं और ये सभी वृत्त किसी अदृश्य केन्द्र से जुड़े हुए हैं। युद्ध और शान्ति में यह केन्द्र है मनुष्य की नियति जो व्यक्तियों को ही नहीं, बल्कि पूरे परिवेश को भी नचाती है। युद्ध और शान्ति के पात्र - प्रिंस एंड्रयू, नताशा, पीटर बेजुकोव आदिउसी प्रकार नियति के समक्ष विवश हैं, जैसे अपनी सारी सेनाओं और सेनाध्यक्षों के साथ नेपोलियन और कुतुजोव। उपन्यास के पात्र प्रेम और अपनी पहचान के लिए संघर्ष करते हैं, सामन्ती परिवार अपने अन्तर्विरोधों में जीते और दुःख झेलते हैं, नेपोलियन अपनी साम्राज्य-लिप्सा और कल्पित शक्ति के नशे में अन्धा है। रूस आत्मरक्षा की लड़ाई में सन्नद्ध है। इन सबमें नियति के अलावा दूसरा केन्द्र क्या हो सकता है 'जैसे महाभारत का केन्द्र 'धर्म' और उसके लिए युद्ध है, उसी प्रकार युद्ध और शान्ति का केन्द्र 'नियति' और उससे व्यक्ति और राष्ट्र का संघर्ष है।

अब हम इस दृष्टि से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ माने जानेवाले उपन्यास गोदान पर विचार करें। गोदान एक श्रेष्ठ उपन्यास तो है, पर उसकी तुलना युद्ध और शान्ति से नहीं की जा सकती। गोदान में औपनिवेशिक परतन्त्रता झेलते भारत के कृषक जीवन और ग्राम संस्कृति की करुण गाथा अत्यन्त सजीव और मार्मिक रूप में चित्रित है। इसका केन्द्रीय कथ्य है, औपनिवेशिक



भारतीय समाज का शोषणचक्र। यदि इसी कथ्य को केन्द्र में रख कर गोदान की संरचना निर्मित की गयी होती तो 'रूप' की दृष्टि से भी यह उपन्यास निर्दोष होता। पर इस केन्द्रीय अभिप्राय के साथ प्रेमचन्द की एक आदर्शवादी धारणा भी जुड़ गयी है। यह आदर्शवादी धारणा नारी विषयक है। प्रेमचन्द के अनुसार समाज में नारी का स्थान घर के भीतर है। वह पुरुष की प्रतिद्वन्द्वी होकर नहीं, पूरक बन कर समाज को पूर्णता प्रदान कर सकती है। नारी को ममता, स्नेह, दया, करुणा, मातृत्व, त्याग, बलिदान आदि गुणों से सम्पन्न होना चाहिए। एक दूसरा आदर्श प्रेम विषयक है। मालती-मेहता और खन्ना-गोविन्दी की कहानी के मूल में यही आदर्श निहित है जो मूल कहानी से उपनिवेशीकृत भारतीय समाज में व्याप्त शोषणचक्र-बेमेल होने के कारण ऊपर से चिपकाई हुई सी जान पड़ती है। नलिन विलोचन शर्मा के अनुसार गोदान में भारतीय ग्राम जीवन और नगर जीवन का साथ-साथ, समानान्तर रूप में चित्रण हुआ है, अतः इसके लिए प्रेमचन्द ने कथा की 'समानान्तर संक्रमण प्रविधि' का प्रयोग किया है। यह व्याख्या तब सटीक होती जब प्रेमचन्द ने ग्राम जीवन और नगर जीवन का समान रूप में चित्रण किया होता। गोदान में उपनिवेशीकृत भारतीय ग्राम जीवन का अंकन तो उसकी समग्रता में हुआ है, पर नगर जीवन का चित्रण बहुत गौण होकर रह गया है। लखनऊ शहर और प्रो. मेहता, मि. खन्ना, मिर्जा साहब, मालती और उसका परिवार, पं. ओंकारनाथ आदि नागरिक पात्र उपन्यास में आते तो हैं, पर उनका नागरिक जीवन अपनी सम्पूर्णता में उपन्यास का विषय नहीं बन सका है। उसके स्थान पर कथाकार का नारी और प्रेम विषयक सिद्धान्त ही, जो किसी गम्भीर चिन्तन और विमर्श का बोध नहीं कराता, दूसरी कथा का विषय बन गया है। इस कारण नगर-जीवनवाली कथा मूल कथा से अलग-थलग पड़ गयी है। युद्ध और शान्ति की तरह गोदान की कथाएँ भी एक ही बृहत् आकल्पन का अंग नहीं बन सकी हैं।

कथा का सर्वोत्तम रूप (फॉर्म) वह होता है, जिसमें विषय का उपयोग सर्वोत्तम रूप में हुआ हो। सामग्री का अपव्यय और अभाव दोनो ही कला के लिए दोष है। सुनिर्मित उपन्यास वह है, जिसमें विषय और रूप अविभाज्य और परस्परावलम्बी होते हैं; जहाँ सामग्री 'रूप' में पूर्णतः खप जाती है और 'रूप' समस्त सामग्री को अभिव्यक्त करता है। जहाँ दोनो में असामंजस्य या विरोध दिखायी पड़े, वहाँ दो ही बातें सम्भव हैं : या तो सामग्री अत्यधिक है या उसका अभाव है। पर्सी लुब्लॉक के अनुसार युद्ध और शान्ति में 'विषय का अपव्यय' हुआ है। इसके शिथिल 'रूप' के सम्बन्ध में यही सबसे बड़ी आपत्ति हो सकती है। उपन्यास का रूप विषय को आयत्त करने में असफल रहने के कारण बिखर गया है। बहुत से लोग इससे सहमत भी हैं; पर ऐसा होने पर युद्ध और शान्ति को महान रचना मानने का तर्क नहीं बनता। पर गोदान के प्रसंग में यह सच नहीं है। गोदान में सामग्री के अपव्यय की बात नहीं कही जा सकती, पर मूल विषय के साथ एक पूर्वग्रहयुक्त आदर्श जोड़ देने के कारण उसकी संरचना एकलता का प्रभाव पैदा करने में असफल रह जाती है।

किसी उपन्यास में विषय का एकलपन है या नहीं, इसे जानने के लिए हमें यह कसौटी अपनानी चाहिए कि उपन्यासकार का अभिप्राय एक वाक्य में रखा जा सकता है या नहीं। यदि यह अभिप्राय एक वाक्य में संघनित किया जा सके तो समझना चाहिए कि वह 'एक' है। यह मान्यता कथ्य के आकार अथवा जटिलता पर निर्भर नहीं करती। कार्य-व्यापार चाहे सरल हो अथवा प्रसंगों का विस्तृत तन्तुजाल, कहानी में कोई एक पात्र हो अथवा व्यापक और उलझे हुए सम्बन्ध-सूत्रों में जुड़ा जनसमूह यदि उसे दसक शब्दों में व्यक्त किया जा सके तो वह विषय की एकता का द्योतक होगा। पुस्तक का 'रूप' इसी पर आधृत होता है और

इसे तय किये बिना किसी उपन्यास की संरचना के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। महाभारत और मेरी दृष्टि में युद्ध और शान्ति भी इस कसौटी पर खरे उतरते हैं, इसलिए उनकी संरचना के सम्बन्ध में एकमत न होने पर भी आश्वस्त हुआ जा सकता है। टालस्टॉय महान प्रतिभा से सम्पन्न आपवादिक उपन्यासकार है, इस कारण ऊपर से अव्यवस्थित प्रतीत होने पर भी युद्ध और शान्ति में एक अनभिज्ञेय व्यवस्था है। पर गोदान के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। यदि उसमें केवल उपनिवेशकालीन शोषण-चक्र को प्रस्तुत करनेवाली होरी और उसके गाँव की तथा रायसाहब, खन्ना और गोबर की कथाएँ होतीं तो इसकी संरचना सर्वथा निर्दोष होती। पर मालती-मेहता और खन्ना-गोविन्दी की आदर्श नारी और आदर्श प्रेम की लेखकीय मान्यता को निदर्शित करनेवाली कहानी उस लता की तरह हो गयी है जो वृक्ष से सटी हुई होने पर भी अपने अलग अस्तित्व की घोषणा करती रहती है।

औपन्यासिक संरचना की समस्या अन्य ललित कलाओं की तुलना में अपेक्षाकृत जटिल है। वास्तु, मूर्ति, चित्र आदि ललित कलाएँ ठोस, दृश्य और स्थिर रूप में हमारे अवलोकन और परीक्षण का आधार बन सकती हैं। पर उपन्यास, या काव्य मात्र, के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। हमारे सामने उपन्यास की एक किताब होती है, जिसके भीतर उपन्यासकार द्वारा प्रदत्त एक अनुभव, संवेदना और चिन्तन से भरापूरा कल्पना-संसार होता है। इस संसार तक पहुँचने का एकमात्र माध्यम छपे हुए शब्द है, जो उस कल्पनाप्रसूत संसार को पाठक या आलोचक की चेतना में पुनःसृजित करते हैं। इस कथासंसार के धुँधले और छायामय रूप को पकड़ना, उसके द्वारा निर्मित बिम्ब को ग्रहण करना पाठक के लिए ही नहीं, प्रबुद्ध आलोचक के लिए भी दुस्साध्य होता है। पुस्तक हमारे सामने स्थिर और गतिहीन वस्तु के रूप में सामने नहीं आती जिससे हम उसके आकार और आकल्पन का परीक्षण सुविधा के साथ कर सकें। पढ़ने की क्रिया के साथ ही पुस्तक हमारी स्मृति में रूपान्तरित और विलीन होती जाती है; यहाँ तक कि जब हम पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ उलटते होते हैं तब तक उसका एक बड़ा अंश, उसके सूक्ष्म ब्योरे, धुँधले और बेहद सन्देहग्रस्त हो चुके रहते हैं। कुछ दिन या कुछ महीनों के बाद पुस्तक के नाम पर जो कुछ बचा रहता है वह मनप्रभावों के जमघट से अधिक नहीं होता। पर यह किसी पुस्तक के प्रशंसन या मूल्यांकन के लिए पर्याप्त नहीं माना जा सकता। कला का कोई भी आलोचक किसी भवन, मूर्ति या चित्र की आलोचना केवल पहले से प्राप्त झलक के आधार पर नहीं कर सकता। पुस्तक के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसके मूल्यांकन या प्रशंसन के समय हम उसके पृष्ठों को फिर से उलट-पुलट कर मनःप्रभावों को ताजा कर सकते हैं। पर पुस्तक हम चाहे कितनी ही बार क्यों न पढ़ जाँय यह वास्तु, मूर्ति, चित्र आदि दृश्य कलाओं की भाँति हमारे मन में स्थिर और ठोस पदार्थ के रूप में स्थापित नहीं हो सकती। जिस प्रकार हम किसी भवन या मूर्ति को एक दृष्टि में सम्पूर्ण रूप में देख सकते हैं, उस प्रकार पुस्तक को देखना सम्भव नहीं है। पुस्तक के पृष्ठों में निहित कला को उसी प्रकार आँख उठाकर स्पष्टतापूर्वक देख पाना सम्भव नहीं, जिस प्रकार अन्य दृश्य कलाओं को। उपन्यास का 'रूप' वस्तुतः ऐसी वस्तु है, जिसका मानसिक प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं। यह थोड़ा थोड़ा करके, पृष्ठ-दर-पृष्ठ, उद्घाटित होने के साथ-साथ विलीन भी होता जाता है। अपने सम्पूर्ण और निर्दोष रूप में वह किसी वैसी अतिदृढ़ग्राही स्मृति-कथासरित्सागर के श्रुतिधर की तरह--की पकड़ में आ सकता है, जो दुर्भाग्यवश दुर्लभ होती है। हमारी आलोचनात्मक क्षमता प्रशंसनीय हो सकती है, हम किसी पुस्तक का समुचित मूल्यांकन करने की योग्यता से सम्पन्न हो सकते हैं, पर यदि पुस्तक के रूप-बिम्ब को ही पकड़ना सम्भव न हो तो हमारी

परिष्कृत रुचि और सूक्ष्म संवेदनशीलता का क्या लाभ? यह एक रोचक किन्तु अनुभूत तथ्य है कि उपन्यास का बिम्ब हमारी स्मृति से हवा में उड़ते बादलों की तरह बनकर खिसक जानेवाला होता है। उसके 'रूप' को पकड़ना छाया को पकड़ने के समान होता है। साहित्य का विद्यार्थी इस असुविधा का इतना अभ्यस्त होता है कि प्रायः इसकी ओर उसका ध्यान भी नहीं जाता। हम प्रायः यह मानकर चलते हैं, या यह भ्रम पालते हैं कि साधारणतः एक अच्छी स्मृति में इसका व्यावहारिक दृष्टि से कामचलाऊ अंश सुरक्षित रहता है। उदाहरण के लिए हम गोदान, शेखर : एक जीवनी या झूठा सच को पढ़ने के बाद उनके प्रमुख पात्रोंहोरी, शेखर, तारा को भूल नहीं सकते, भले ही स्वयं उपन्यास हमारी स्मृति में धुँधले और अस्पष्ट हो जाएँ। ये पात्र अपने इतिहास के कठ दृश्यों और घटनाओं के साथ मस्तिष्क में उसी प्रकार दर्ज हो जाते हैं। जिस प्रकार हमारे जीवन में आये हुए व्यक्ति। इन पात्रों के साथ-साथ कुछ नाटकीय दृश्य, कठ प्रभावोत्पादक वर्णन और विशिष्ट पात्र भी हमारी स्मृति में अंकित हो जाते हैं।

इसलिए यह कहना तो शायद असंगत है कि पुस्तक पूरी तरह से मस्तिष्क की पकड़ से छूट जाती है, पर ध्यान देने की बात है कि पुस्तक के बारे में बात करते समय हम उपन्यासकार की प्रतिभा, उपन्यास के पात्रों या उसमें व्यक्त जीवन की चर्चा अधिक करते हैं, उस चीज का नहीं जो किताब के पन्नों में बन्द है; सब कुछ कह लेने के बाद भी उसका 'रूप' या 'ढाँचा' अविवेचित ही रह जाता है।

वस्तुतः उपन्यास के 'रूप' को समझने के लिए उसे विशेष ढंग से पढ़ना अपेक्षित है। उपन्यास पढ़ते समय हम शायद ही प्रयत्नपूर्वक पुस्तक के विकास पर दृष्टि रखते हैं। हम पुस्तक पढ़ते समय पृष्ठ-दर-पृष्ठ, जैसे-जैसे उसका रूप क्रमशः हमारे सामने खुलता जाता है, उसके बिम्ब के निर्माण का प्रयास नहीं करते। उस समय हम यह नहीं सोचते होते कि पुस्तक एक कलावस्तु है। दरअसल हम उसमें इतने लीन हो जाते हैं कि उसे अपने चारों ओर व्याप्त जीवन का ही एक खंड मान लेते हैं। पुस्तक का जो अंश हमें विशेष प्रभावित करता है, उदाहरणतः कोई मार्मिक प्रसंग या प्रभावशाली चरित्र उसी को हम विषय के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। ये चीजें हमारी चेतना में आकार ग्रहण कर लेती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे भी अपने ढंग से कला की वस्तु हैं, पर वे लेखक द्वारा प्रदत्त समूची पुस्तक नहीं होतीं। उपन्यास, जैसा कि हम कहा करते हैं, हमारी चेतना में एक नया संसार प्रस्तुत कर देता है, और यह कभी-कभी, कुछ उपन्यासों में, इतना सुखद भ्रम पैदा कर देता है कि हम अपने को उसमें पूरी तरह खोकर सन्तोष का अनुभव करते हैं। पर इस स्थिति में हमारे लिए उपन्यास के 'रूप' के अन्वेषण, प्रत्यक्षीकरण या पुनःसृष्टि की कोई सम्भावना नहीं रह जाती। अतः औपन्यासिक संसार में पूरी तरह 'खो जाने' के स्थान पर हमें अपने को उससे थोड़ा अलग रख कर उसका अवलोकन करना होगा और पुस्तक में प्रदत्त पूरी सामग्री के आधार पर उसके निर्माण का प्रयत्न करना होगा।

यद्यपि उपन्यास के व्यापक और गतिशील संसार को उससे बिलकुल अलग होकर देखना कठिन है, पर जब हम उपन्यास पढ़ते होते हैं, उस समय हमें स्पष्ट अनुभव होता है कि किसी पात्र विशेष से हमारा परिचय दृढ़ से दृढ़तर होता जा रहा है। उस पात्र को अपने मस्तिष्क में रूप देने में हमें विशेष श्रम नहीं करना पड़ता, यद्यपि यह भी स्पष्ट है कि अनेक यौगों की सहायता से ही हम उस पात्र को व्यक्तित्व प्रदान करते हैं। यही बात अन्य पात्रों और प्रसंगों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पाठक मुद्रित शब्दों के माध्यम से अपने मानस-पटल पर पात्रों या प्रसंगों के बिम्ब का निर्माण करता है। पर इनमें से कुछ ही इतने 'सुनिर्मित' होते

है कि ये स्मृति में दीर्घजीवी बन सकें। उनमें कुछ तो बहुत शीघ्र विलुप्त हो जाते हैं। इसमें दोष पाठक का भी हो सकता है और लेखक का भी। लेखक का दोष तब होता है, जब वह पात्रों या प्रसंगों का अंकन पर्याप्त कौशल के साथ नहीं करता और पाठक का दोष वहाँ होता है जहाँ उसका पठन पर्याप्त रूप से रचनात्मक नहीं होता। उपन्यास पढ़ते समय हम अपनी कल्पना शक्ति से पात्रों और दृश्यों को मस्तिष्क में 'रूप' देते हैं। लेखक उनका वर्णन इस रूप में करता है कि वे अपने समस्त आयामों से सम्पन्न होकर 'वास्तविक' प्रतीत होते हैं। एक अच्छा उपन्यास पाठक या आलोचक से इसी 'कल्पना-शक्ति' की अपेक्षा रखता है।

उपन्यास जीवन का चित्र है, और जीवन से हम प्रायः सुपरिचित होते हैं। अतः आवश्यक है कि हम पहले उपन्यास का सही रूप में 'प्रत्यक्षीकरण' करें और तब देखें कि क्या वह जीवन के समान ही सत्य, सजीव और विश्वसनीय हो पाया है। अन्य कलाकृतियों की तरह उपन्यास में भी रूप, आकल्पन, रचना आदि की तलाश अपेक्षित है। यदि उपन्यास कलाकृति है तो उसमें भी ये चीजें होनी ही चाहिए। इसके साथ यह भी सच है कि कलाओं में उपन्यास की विशिष्ट स्थिति है। यह उन बन्धनों से मुक्त है जो अन्य कलाओं पर लागू हैं, वास्तु के लिए ईंट-पत्थर मूर्ति के लिए प्रस्तर और चित्र के लिए फलक और रंग अपरिहार्य हैं। उन्हें छुआ और देखा जा सकता है। उपन्यास शब्दाश्रित होता है, पर शब्द, ईंट-पत्थर, प्रस्तर और फलक की तरह, स्थूल नहीं होते। वे केवल अनुभवों, संवेदनाओं और विचारों के प्रतीक होते हैं। उनसे जो रूप या आकार बनता है, वह केवल मानसिक रूप में ही 'प्रत्यक्षीकृत' हो सकता है। यह भी कहा जाता है कि उपन्यास 'सुनिर्मित', 'आकल्पित' या अनुपातयुक्त न होने पर भी महान रचना के रूप में स्वीकृत हो सकता है। इसके उलट एक टेढ़ी-मेढ़ी मूर्ति या कुविन्यस्त चित्रकारी, चाहे जीवन का चित्र उसमें कितनी ही कुशलता के साथ क्यों न प्रस्तुत किया गया हो, आँखों को स्पष्टतः आघात पहुँचाती है। यदि दोष बहुत स्पष्ट है तो यह उपन्यास के लिए भी उतना ही सत्य है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि उपन्यास के लिए यह दोष 'जानलेवा' है। इस तरह की त्रुटि के बावजूद कोई उपन्यास श्रेष्ठ माना जा सकता है। विश्व साहित्य में अनेक ऐसे उपन्यास हैं, जिनके बारे में आलोचक एकमत है कि वे 'सुनिर्मित' नहीं हैं, पर उनमें 'जीवन' का पुंज इतना अधिक है कि इस दोष का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। टालस्टॉय का युद्ध और शान्ति इसका सर्वाधिक सटीक उदाहरण है। प्रेमचन्द का गोदान भी निर्मित की दृष्टि से निर्दोष रचना नहीं है, पर उसे भी कम से कम हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास के रूप में तो स्वीकार किया ही जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रूप, आकल्पन या रचना की दृष्टि से उपन्यास की स्थिति अन्य कलाओं से भिन्न है।

उपन्यास की अमूर्त कला में 'रूप', 'ढाँचा', 'बनावट', 'आकल्पन', 'स्थापत्य', 'संरचना', 'शिल्प' आदि पदों का प्रयोग तनिक अनिश्चित और ढीले-ढाले अर्थ में ही हो सकता है। ये पद वास्तु, मूर्ति, चित्र आदि के प्रसंग में निश्चित अर्थ के साथ प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि वहाँ ये आँखों से स्पष्ट दिखायी देते हैं। पर उपन्यास का रूप या संरचना मानसिक प्रत्यक्षीकरण का विषय है, जो गतिमान बिम्बों के जुलूस के रूप में अस्तित्व ग्रहण करता है। यही कारण है कि अँग्रेजी में प्रयुक्त होनेवाले पद, जैसे 'स्ट्रक्चर', 'फॉर्म', 'डिजाइन' 'क्राफ्ट', 'पैटर्न', 'रिदम', 'सर्फेस' आदि भी किसी बहुत स्पष्ट वस्तु को संकेतित नहीं कर पाते। हिन्दी के 'संरचना', 'स्थापत्य', 'रूप', 'ढाँचा', 'शिल्प', 'आकल्पन' आदि पद तो, बहुत से बहुत, इनके अनुवाद ही हैं। परसी लुबॉक जैसे उपन्यास-शिल्प के ख्यात विद्वान भी मानते हैं कि कोई आलोचक यह दावा नहीं कर सकता कि वह इनमें से किसी पद-विशेष के प्रयोग द्वारा उपन्यास की 'बनावट' को पूर्णतः घोटित कर पाता है।

पर्सि लुब्वॉक इसे 'फॉर्म' कहना पसन्द करते हैं, जबकि एडविन म्यूर 'स्ट्रक्चर' पद को ज्यादा सही समझते हैं। ई. एम. फोर्स्ट, हेनरी जेम्स के उपन्यासों में 'पैटर्न' देखते हैं तो मार्शल पूस्त के उपन्यासों में 'रिदम'। इसका अर्थ यह नहीं कि इन विद्वानों के विचार उलझे हुए हैं या कि उनका चिन्तन अस्पष्ट है। वस्तुस्थिति यह है कि उपन्यास की बनावट अन्य कलाओं की बनावट से भिन्न होती है और अन्य चाक्षुष कलाओं की तरह इसका रूप स्थिर और अपरिवर्तनीय नहीं होता। यह कहीं 'फॉर्म' के रूप में दिखायी देता है, कहीं 'स्ट्रक्चर' के रूप में; कहीं 'डिजाइन' के रूप में; तो कहीं 'रिदम' के रूप में। कहीं उसका 'पैटर्न' होता है, कहीं 'सर्फेस'। उपन्यास के आलोचकों की यह विवशता ही है कि वे उपन्यास की 'बनावट' के लिए कोई सर्वसम्मत पारिभाषिक शब्द निर्मित नहीं कर सके हैं। पर्सि लुब्वॉक का मानना है कि यह सम्भव ही नहीं है, क्योंकि उपन्यास की बनावट बहुत ही अनिश्चित गतिमान और हवाई है। इसीलिए आलोचक उपन्यास की 'बनावट' के लिए अन्य कलाओं के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करने को विवश हैं। उपन्यास की बनावट या शिल्प की आलोचना के लिए हमारे पास वही भाषा है जो चाक्षुष कलाओं के लिए आविष्कृत हैं। उपन्यास की पुस्तक पाठक के चित्त में भावों की शृंखला निर्मित करती है। ये भाव बिम्ब रूप में, किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था में पुंजित और सज्जित होते हैं। इस भावपुंज को निश्चित पदार्थ के रूप में देखने के लिए उपमानों की सहायता के बिना काम नहीं चल सकता। ये पद उपन्यासकार की प्रविधि के बारे में संकेत और सुझाव मात्र देते हैं। कदाचित् किसी भी आलोचक के लिए किसी पुस्तक के ढाँचे का वास्तविक रूप में वैज्ञानिक विवरण दे पाना सम्भव नहीं है। उपन्यास के आलोचक की कठिनाई यह है कि उसके पास निर्दिष्ट करने के लिए कुछ नहीं होता। केवल हाथ में पुस्तक होती है, जिसका 'पाठ' तक सुनिश्चित नहीं होता। फलस्वरूप उसके लिए कथन की निश्चितता, स्पष्टता और याथातथ्य की उपलब्धि बहुत मुश्किल है।

पर अन्ततः हमारे सामने यह मूल प्रश्न रह ही जाता है कि कोई उपन्यास-पुस्तक कैसे निर्मित हुई है। यह प्रश्न और अनेक प्रश्नों को जन्म देता है जैसे उपन्यासकार का अभिप्राय क्या है? उसके विषय का चुनाव कैसा है? उसकी कल्पना का रूप क्या है? आदि।

सारी अस्पष्टताओं के बावजूद यह सर्वमान्य तथ्य है कि पुस्तक का कोई न कोई रूप (फॉर्म) होता है। किसी पुस्तक विशेष का 'रूप' कैसा है, वह अच्छा है या बुरा, वह महत्त्वपूर्ण है या नहीं, ये विवाद के विषय हैं; पर पुस्तक रूप-युक्त होती है यह विवादरहित है। अधिक से अधिक हम किसी आलोचक को किसी उपन्यास विशेष के लिए यह कहते सुनते हैं कि इसका 'रूप' असन्तोषजनक है। दूसरा आलोचक इसका उत्तर देते हुए कह सकता है कि यदि उपन्यास अन्य श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न है तो 'रूप' का कोई महत्त्व नहीं है। इन परस्परविरोधी विचारों से यह धारणा बन सकती है कि उपन्यास में 'रूप' अनावश्यक वस्तु है। पर यह तो स्पष्ट ही है कि उपन्यास में यह रहता है। अर्थात् पुस्तक एक ऐसी वस्तु है जिसके साथ रूप (फॉर्म) का, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, देह-देही भाव का सम्बन्ध है। यह सही है कि उसका पूर्ण निश्चय के साथ विवरण प्रस्तुत करना कठिन होता है, पर इस धारणा से किसी का मतभेद नहीं हो सकता कि वह (रूप) पुस्तक को आवृत्त करता हुआ विद्यमान रहता है।

किसी भी उपन्यास की किताब को हम किसी एकल वस्तु के रूप में नहीं, वरन् मनःप्रभावों के प्रवाह के रूप में ग्रहण करते हैं। यह एक ऐसा जुलूस है जो हमारी आँखों के सामने से गुजर जाता है और हम उसे अभिभूत होकर देखते रह जाते हैं। इस प्रवाह और गति को, पात्रों और दृश्यों की इस शृंखला को एक स्थिर 'फॉर्म' के रूप में मूर्ति कला के पिंड की तरह,

कल्पित करना दुस्साध्य है। यह एक रूपाकारयुक्त वस्तु की अपेक्षा एक प्रक्रिया, एक अनुभव-यात्रा है। पुस्तक स्वयं में पूर्ण और स्वतन्त्र वस्तु होते हुए भी एक समय विशेष में पाठक की चेतना में प्रतिस्मृत होती है, जिसमें होरी और शंखर जैसे पात्र जीते-जागते, चलते-फिरते व्यक्तियों के रूप में विद्यमान होते हैं। पुस्तक के ये दोनों पक्ष एक-दूसरे को अस्पष्ट बनाते रहते हैं और इस कारण आलोचना में भी अस्पष्टता का दोष आ जाता है। पहला पक्ष, यानी उपन्यास, अपनी रूपगत बाहर रेखाओं के साथ एक क्षण के लिए प्रकट होता है, तभी उसमें निहित जीवन फूट पड़ता है और उसे धूमिल बना देता है। किताब पढ़ने के क्रम में पात्रों तथा उनसे सम्बद्ध घटनाओं और स्थितियों का जो जुलूस हमारे चेतना-पटल पर गुजरता प्रतीत होता है, उसे, समझने के लिए, कहीं न कहीं संकेन्द्रित और क्रमबद्ध करना जरूरी है। गोदान में हम 'होरी' की कहानी थोड़ी थोड़ी, क्रम-क्रम से, प्राप्त करते हैं; वे असंख्य टुकड़े, जो मिल कर गोदान का निर्माण करते हैं। बारी-बारी से ही हमारे सामने आते हैं। अन्ततः कहानी पूरी होती है और पुस्तक हमारे सामने एक पुँजीभूत प्रभाव के रूप में उपस्थित होती है। उपन्यासकार हमें सामग्री प्रदान कर देता है और उसी से पुस्तक हमारी चेतना में, हमारी स्मृति में जन्म लेती है। हमारी दुर्बल और धोखेबाज स्मृति यद्यपि पूरी तरह से पुस्तक को 'रूप' देने में सफल नहीं होती। फिर भी लेखक का कल्पनाप्रसूत संसार किसी न किसी रूप में हमारी चेतना में अवश्य ही निर्मित हो चुका रहता है।

यह प्रश्न विचारणीय है कि उपन्यासकार अपनी लेखनी से जिन मनःप्रभावों की लहाछेह वर्षा करता है, उनसे कोई पाठक 'उपन्यास' का निर्माण किस प्रकार करता है। वस्तुतः यह उस रचनात्मक पठन से सम्भव होता है, जिसकी क्षमता तनिक प्रबुद्ध पाठकों में होती है। यह रचनात्मक क्षमता सभी पाठकों में एक जैसी या समान मात्रा में नहीं होती। इसी कारण अलग-अलग पाठकों के लिए उपन्यास का पाठ अलग-अलग हो जाता है। पर यह मानना गलत होगा कि उपन्यास का कोई 'सामूहिक' पाठ होता ही नहीं। प्रबुद्ध पाठक या आलोचक इस 'सामूहिक' या अपेक्षाकृत 'व्यापक' पाठ का प्रतिनिधि होता है। जब उपन्यासकार किसी भू-दृश्य या संवाद को शब्दबद्ध करता है तो उसे अपनी चेतना में ग्रहण करना हमारे लिए अपेक्षाकृत आसान होता है। पर इन दृश्यों और ध्वनियों को एक घने आकल्पन में आबद्ध करना, जिसके चारों ओर मस्तिष्क निर्बाध रूप में भ्रमण कर सके कठिन काम है। यह तभी सम्भव है जब पाठक अपनी ओर से निर्माण और सृजन में समर्थ हो। उपन्यास का विवेकशील पाठक खुद भी उपन्यासकार होता है। वह एक ऐसी पुस्तक का निर्माता होता है, जो पहले लेखक की चेतना में निर्मित हो चुकी है और उसने उसे शब्दों में बाँधने का प्रयास किया है। कोई जरूरी नहीं कि इसमें उसे पूरी सफलता मिली ही हो। यह भी आवश्यक नहीं कि पाठक ने अपनी चेतना में जिस पुस्तक का निर्माण किया हो वह पूरी तरह से लेखक की पुस्तक ही हो। लेखक अपनी पुस्तक को पाठक के मस्तिष्क में बुलबुले की तरह स्थान्तरित नहीं कर सकता। यह एक ऐसी स्थिति है, जिसमें उपन्यास के 'रूप' का विवेचन बेमानी प्रतीत होता है और उपयोगी भी। इसके लिए आवश्यक है कि उपन्यास के संसार को कुछ दूर से, जरा अलग हट कर, देखा जाए।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लेखक उपन्यास की रचना करता है, जबकि पाठक या आलोचक उसके पाठ से उपन्यास की 'पुनर्रचना' करता है। पाठक के सामने एक किताब होती है। वह मार्गदर्शन के लिए उपन्यासकार की ओर देखता है, प्रतीक्षा करता है। वह किताब में मुद्रित शब्दों से जो भाव-सामग्री प्राप्त करता है, उसी से अपने कथासंसार की पुनर्रचना करता

है। लेखक के साथ ऐसी बात नहीं होती। उसके पास प्रतिभा नाम की एक दुर्लभ शक्ति होती है और सामने, दाहिने-बाएँ, चारों ओर पसरा हुआ जीवन और उसकी संवेदनाएँ होती हैं। वह जीवन के अनगढ़ पिंडों को उनकी पूर्व योजना से उखाड़कर अपनी कल्पना से नया रूप देता है; वह उन्हें वैसी अवस्थाओं में पुनर्निर्मित करता है जो जीवन में अप्रत्याशित होती हैं। ये 'अवस्थाएँ' इस अर्थ में मौलिक होती हैं कि उनमें जीवन अबाधित रूप से अभिव्यक्त होता हुआ अपने नियमों के अनुसार विकसित होने को स्वतन्त्र होता है। इसके बाद उपन्यासकार उसे एक एकल और परिवेष्टन-युक्त डिजाइन में नियोजित करता है और पुस्तक रूप ग्रहण करती है। पाठक या आलोचक का काम यहाँ से शुरू होता है। उसे चुनाव और व्यवस्थापन नहीं करना पड़ता। उसके सामने कला का एक फैला हुआ संसार होता है। यह संसार एक प्रतिभ कल्पना से गुजर चुका होता है; यह एक एकल और सम्पूर्ण भू-दृश्य होता है, जिसकी असंगतियाँ और खुरदरापन दूर हो चुके होते हैं तथा जो एक विशेष अर्थ से युक्त हो चुका होता है। इस प्रकार आलोचक उस जीवन से अपना निर्माण आरम्भ करता है जो पहले ही उपन्यास का विषय बन चुका होता है।

पर इससे आलोचक का काम कम महत्वपूर्ण नहीं हो जाता। पुस्तक के पन्नों को उलटने के साथ, एक के बाद एक, जो मनःप्रभाव चित्त-पट पर अंकित होते हैं उन्हें एक ढाँचे में विन्यस्त करना शिल्पकार का काम है। आलोचक को भी यह भूमिका निभानी पड़ती है और यदि वह इसमें चूक जाता है तो उसकी असफलता निश्चित है। संगतराश या चित्रकार अपनी कृति के 'अर्थ' द्वारा भावावेग से इतना अभिभूत नहीं होता कि वह रूप और रंग के अमूर्त सौन्दर्य को भूल जाए। उपन्यास में, जहाँ अनुभूति और विचार को आकार प्रदान करना होता है इसके लिए अधिक अवसर होता है। फिर भी उपन्यासकार एक शिल्पी होता है और आलोचक को भी कुछ हद तक यह काम करना पड़ता है। आलोचक को यह ज्ञात होना ही चाहिए कि पुस्तक पढ़ते समय मस्तिष्क में रूप ग्रहण करते पदार्थ को कैसे उपयोग में लाया जाए। उपन्यास के निर्माण में जिन अनेक और नाना प्रकार के, द्रव्यों का योग होता है उन्हें पहचानने और उनके प्रति सतर्क रहने की क्षमता आलोचक में अवश्य होनी चाहिए।

ये विभिन्न 'द्रव्य' क्या है और पाठक या आलोचक उनका उचित उपयोग कैसे करे, यह विचारणीय है। वस्तुतः ये वे विविध 'रूप' (Form) हैं, जिनमें कथा कही जा सकती है। ये 'रूप' अनेक तो हैं, पर इतने अधिक नहीं कि उन्हें पहचाना ही न जा सके; हाँ, उनके रूपान्तरों और सम्मिश्रणों की संख्या अनन्त हो सकती है। इनकी पहचान हमें अब तक लिखे गये उपन्यासों को आलोचनात्मक रूप पढ़ने से होती है। उपन्यास के प्रायः सभी बड़े आलोचकों ने अनुभव किया है कि युद्ध और शान्ति का 'रूप' निर्दोष रूप औपन्यासिक संरचना की समस्या नहीं है। हिन्दी उपन्यास का तो मात्र लगभग तेरह दशकों का है, पर यूरोपीय उपन्यास इस दृष्टि से बहुत समृद्ध है। इनमें से श्रेष्ठ उपन्यासकारों की कथा-प्रविधियों का सावधानी के साथ अध्ययन करके आलोचकों ने उपन्यास के 'रूप' के विविध पक्षों की पहचान करने में सफलता प्राप्त की है। यह देख कर 'किसी को आश्चर्य हो सकता है कि हिन्दी उपन्यासकारों ने इन प्रयोगों का लाभ उठाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। हमें देखना यह है कि उपन्यासों में दृश्य और पात्र किस रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। यह तो हम अनुभव करते ही हैं कि उपन्यास के दृश्य और पात्र किस तरह चित्त में रूपायित हो जाते हैं। यदि हम तनिक सावधानी से इस बात पर विचार करें कि उपन्यासकार ने किस कला-कौशल का उपयोग करके हमें उन्हें इतने प्रभावशाली ढंग से रूपायित करने की क्षमता प्रदान की है, तो उपन्यास की संरचना से

जुड़ी अनेक नयी बातें सामने आती है। वस्तुतः आलोचनात्मक ढंग से उपन्यास पढ़ते समय हम अनायास ही एक डिजाइन के निर्माण में लग जाते हैं। जहाँ हम अनुभव करते हैं कि आकल्पन ठीक प्रकार से निर्मित हो रहा है, उपन्यासकार की रचना-प्रक्रिया विषय के अनुरूप है, वहाँ हम उन क्षणों को जीने लगते हैं, जो उपन्यासकार के निर्माण के क्षण थे। वहाँ हमें पुनःसृष्टि का सुख मिलने लगता है। कभी-कभी उसमें कोई दोष भी दिखायी पड़ता है और उस समय उस आकल्पन के विकास में बाधा पड़ने लगती है। यदि उपन्यासकार कहीं कोई ऐसा मोड़ लेता दिखायी देता है, जो विषय के अनुकूल नहीं है तो हमारा आकल्पन भी बाधित हो जाता है। यदि उपन्यास का 'रूप' हमारी कल्पना की आँखों को अपूर्ण प्रतीत होता है तो इसका तात्पर्य यह है कि विषय की अभिव्यक्ति भी कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में, दोषपूर्ण है। यह भी सम्भव है कि आकल्पन का कार्य विषय के मर्म से आरम्भ न हुआ हो अथवा वास्तविक विकास की रेखा से भटक गया हो। यह भी सम्भव है कि विषय ही कमजोर और निकम्मा हो। इस कथन के समर्थन में हम प्रेमचन्द के गोदान की संरचना की उल्लेख कर सकते हैं। गोदान हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास के रूप में स्वीकृत है और इसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। इसका आरम्भ भी विषय के मर्म से हुआ है, पर आगे चलकर वह अपने वास्तविक विकास की रेखा से भटक गया है और एक ऐसे विषय से जुड़ गया है, जिसका केन्द्रीय विषय से दूर का सम्बन्ध भी नहीं है। अतः निर्माण की दृष्टि से गोदान को निर्दोष रचना नहीं माना जा सकता। इस पर हम तनिक बाद में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। विश्व साहित्य में 'विषय' और उसके 'रूप' की असम्बद्धता का सबसे रोचक उदाहरण लेव टालस्टॉय का युद्ध और शान्ति है। युद्ध और शान्ति सुप्रसिद्ध और महान उपन्यास है। साथ ही वह एक दीर्घकाय, संकुलित और दुःसाध्य उपन्यास भी है। उसकी महत्ता और अद्वितीयता में शायद ही किसी को आपत्ति हो। पर जब हम इसके 'रूप' को देखते हैं तो महसूस करते हैं कि उपन्यास के रूप का नियन्त्रण कितना कठिन है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उपन्यास में रूप या संरचना का प्रश्न बेमानी है। युद्ध और शान्ति जैसी रचनाएँ अपवाद होती हैं जो कला के सामान्य नियमों की उपेक्षा करके भी महान बनी रह सकती है।

हिन्दी में उपन्यास की संरचना के सम्बन्ध में गम्भीर विमर्श न के बराबर हुआ है। अतः संरचना से सम्बद्ध उन अवधारणाओं का भी हम खुलासा करने का प्रयास करेंगे, जो अँगरेजी जाननेवालों के लिए सुपरिचित हो चुकी हैं। इनमें से एक है, 'कथा' और 'कथानक' सम्बन्धी अवधारणा, जिसको लेकर हिन्दी के बहुत सारे पाठक और समीक्षक आज भी भ्रम के शिकार हैं।

किसी भी गम्भीर विमर्श में पारिभाषिक पदों का सुनिश्चित अर्थ-निर्धारण अपरिहार्य होता है। हिन्दी आलोचना में कथा और कथानक पद अक्सर बहुत ढीले-ढाले अर्थों में प्रयुक्त होते हैं और प्रायः इन्हें एक-दूसरे का पर्याय भी मान लिया जाता है। पर उपन्यास के संरचना-विमर्श में इन शब्दों का सुनिश्चित अर्थ-निर्धारण और पारिभाषिक पदों के रूप में प्रयोग जरूरी है। कथा शब्द की व्युत्पत्ति न जाननेवाला सामान्य आदमी भी, यदि वह हिन्दी भाषी है, उसके अर्थ से अनजान नहीं होता। वह बचपन से ही कथा सुनने का अनुभव रखता है। 'उपन्यास' का पाठक भी उसमें किसी न किसी रूप में 'कथा' की उपस्थिति का आग्रह रखता है। बहुत से आधुनिक पाठक भी कभी उपन्यास में 'कथा' न होने की शिकायत करते हैं और कभी अत्यधिक ब्योरो के कारण 'कथा' के बाधित होने पर असन्तोष प्रकट करते हैं। उपन्यास के अधिकतर पाठक, आज भी, उपन्यास में 'कथा-रस' की माँग करते हैं। यदि हम फ्रांसीसी 'ऐन्टी



नॉवेल' या हिन्दी में चलाई जा रही 'अनुपन्यास' की अवधारणा को दरकिनार कर दें तो 'कथा' को उपन्यास के लिए आवश्यक माना जा सकता है। वह कहीं कम, कहीं ज्यादा, कहीं सुगठित और कहीं बिखरी हुई हो सकती है, पर उसके बिना उपन्यास की रचना सम्भव नहीं है। 'कथा' उपन्यास का मूल ढाँचा है। वह शरीर में कंकाल की तरह है। कंकाल सम्पूर्ण शरीर नहीं होता, पर उसके बिना शरीर-रचना सम्भव नहीं है। वह देह का ढाँचा है और उससे मुक्ति नहीं पायी जा सकती। कंकाल देखने में कुरूप, नग्न और जुगुप्सा पैदा करने वाला होता है। यदि वह, कभी, किसी शरीर में, माँस-मज्जा और रक्त की कमी के कारण दिखायी पड़ने लगता है तो चिन्ता होने लगती है। यद्यपि यह सादृश्य उपन्यास में निहित 'कथा' के लिए शत-प्रतिशत सटीक नहीं है, पर उसे समझने के लिए सहायक अवश्य है। दोनों में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि मानव-शरीर में कंकाल की बनावट लगभग एक जैसी होती है, जबकि उपन्यास में कथा का रूप बदलता रहता है। पर जहाँ तक मूल ढाँचे की अनिवार्यता और कुरूपता की बात है, उपन्यास में निहित 'कथा' और शरीर में निहित कंकाल में काफी दूर तक समानता है। पर 'कथा' है क्या? जैसा ई. एम. फोर्स्टर ने बताया है, 'कथा' अपने शुद्ध और मूल रूप में समयानुक्रम में नियोजित घटनाओं का विवरण मात्र है। 'समयानुक्रम' की अवधारणा वैसे तो गम्भीर चिन्तन और विवाद का विषय है, पर हम अपने जीवन में इसे एक खास रूप में पहचानते हैं। हम आदमी के शिशु रूप में जन्म लेने से लेकर उसके वृद्ध रूप में मरने तक की स्थिति को काल की अवस्था के रूप में पहचानते हैं। शिशु, बाल, वयसन्धि, किशोर, युवा, प्रौढ़, वृद्धता, अतिवृद्धता आदि अवस्थाएँ जन्म और मृत्यु के बीच की कालक्रमिक अवस्थाएँ मानी जाती हैं। घड़ी की सूइयों हमें प्रातः से लेकर शाम तक का काल-बोध कराती हैं। कैलेण्डर और पंचांग हमें दिनों, महीनों और वर्षों के 'समय' का बोध कराते हैं। इस काल-बोध को 'ऐतिहासिक काल' के नाम से भी जाना जाता है, जो पश्चिमी अवधारणा है। 'ऐतिहासिक' काल के साथ ही काल की 'चक्राकार गति' की एक भारतीय अवधारणा भी है, जिसमें समय घूम कर वहीं आ जाता है, जहाँ से वह चला था। 'कथा' अपने प्रारम्भिक और मूल रूप में 'ऐतिहासिक काल' में ही निर्मित होती है।

'समयानुक्रम' की इस परिभाषा के बाद 'घटना' को भी परिभाषित करना आवश्यक है। अपने मूल रूप में 'जो होता है' वही 'घटना' है। पर 'जो होता है' और 'घटना' के बीच के अर्थ का फासला बहुत बढ़ गया है। सम्प्रति 'घटना' वह कार्यव्यापार है, जिसमें आकस्मिकता और असाधारणता के तत्त्व प्रमुख होते हैं। उदाहरण के लिए कहीं जाते हुए रास्ते में उफनाती हुई नदी या दुर्लभ्य पहाड़ मिल जाना, रेल या हवाई दुर्घटना हो जाना, जिससे मिलने जा रहे हों उसका राह में ही मिल जाना, किसी पेड़ के नीचे चोरों द्वारा छोड़ी हुई अशर्फियों की थैली मिल जाना, कहीं किसी भूत, परी या शैतान से सामना हो जाना आदि। 'कथा' का सम्बन्ध कार्य-व्यापार के इसी रूप से होता है। इन्हीं दोनों, अर्थात् ऐतिहासिक कालक्रम और घटनाओं के संयोग से 'कथा' का निर्माण होता है। ऐतिहासिक कालक्रम के स्थान पर, या उसके साथ, चक्राकार कालक्रम का उपयोग कथा के विकास के दूसरे चरण में होता है। अपने अस्तित्व के प्रथम चरण में 'कथा' ऐतिहासिक कालक्रम में निबद्ध 'घटनाओं' के अतिरिक्त और कुछ नहीं होती और उसका एकमात्र गुण होता है कौतूहल की निरन्तरता को कायम रखना। जिज्ञासा मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। जिज्ञासा ही अपने अनघड़ और अनियन्त्रित रूप में कौतूहल है। अनुभव-जगत से बाहर के व्यापारों में ही कौतूहल पैदा करने की क्षमता होती है। कथा में ऐसी ही घटनाओं की आवृत्ति होती है। यदि किसी कथा में यह विशेषता नहीं है तो वह

हरगिज अच्छी कथा नहीं हो सकती। कथा का श्रोता उससे और कुछ नहीं माँगता, सिवा इसके कि वह कभी भी कौतूहल को मन्द न होने दे। जब तक श्रोता 'उसके बाद क्या हुआ?' की रट जारी रखता है, मान लीजिए कि 'कथा' सफल है। यदि कोई कथा श्रोता की उत्कण्ठा को जगाए रखने में कहीं चूकती या लड़खड़ाती है तो उसका अन्त हुआ समझिए। कौतूहल ही 'कथा' का प्राण तत्त्व है।

यह 'कथा' का बहुत ही सरल और मूल रूप है। बच्चों के लिए तो यह पर्याप्त हो सकती है, पर तनिक विकसित और प्रबुद्ध श्रोताओं के लिए नहीं। विकसित और प्रबुद्ध श्रोताओं के लिए कथा को रुचिकर या कौतूहल युक्त बनाने के लिए कथाकार को उसका नये ढंग से विन्यास करना होता है। 'कथक' और 'कथाकार' में अन्तर यह है कि 'कथक' कथा सुनाता है, जबकि 'कथाकार' उसके विन्यास में नयापन लाने का प्रयास करता है। गुणाद्वय (वृहत्कथा) या विष्णु शर्मा (पंचतन्त्र) की कथाओं में हम कथा-विन्यास का नयापन देखते हैं। इनमें कथा शुरू से अन्त तक ऐतिहासिक काल में अग्रसर नहीं होती। 'घटनाएँ' तो अपने मौलिक रूप में ही रहती हैं पर कालक्रम में असाधारण परिवर्तन हो जाता है। मूल कथा तो ऐतिहासिक काल-क्रम में ही अग्रसर होती है पर वह बीच-बीच में ठहर जाती है, उसका 'समय' कुछ देर के लिए निलम्बित हो जाता है और वहीं से एक ऐसी दूसरी कथा आरम्भ हो जाती है, जिसका समय 'कथक' के वर्तमान से अतीत में चला जाता है। वह कथा पुनः अपने ऐतिहासिक कालक्रम में ही अग्रसर होती है और उसकी समाप्ति के साथ ही 'कथक' अपने वर्तमान में आ जाता है। अनेकत्र ऐसा भी होता है कि दूसरी कथा भी कहीं अपने समय को निलम्बित करती हुई ठहर जाती है और उससे जो कथा निश्चय होती है उसका भी अपने अतीत में निस्सरण और दूसरे 'कथक' के वर्तमान में समापन होता है। कहीं-कहीं तो तीसरी से चौथी कथा भी निकल आती है और उल्टे क्रम में चौथी कथा तीसरी में तीसरी कथा दूसरी में और दूसरी कथा मूल कथा में समाप्त होती है। यह 'कथा' का अत्यन्त जटिल विन्यास है, जो हमें संस्कृत साहित्य में देखने को मिलता है। इस कथा-विन्यास को हम 'कथानक' की संज्ञा दें तो असंगत न होगा। हिन्दी में 'कथानक' पद अँगरेजी के 'प्लॉट' पद के पर्याय के रूप में स्वीकृत हो चला है। इसमें शक नहीं कि यह बहुत ठीक पर्याय नहीं है; 'प्लॉट' में एक षड्यन्त्र, एक रचना, एक कौशल का भाव भी निहित है जो 'कथानक' में नहीं है। कदाचित् 'कथान्यास' इसका सटीक पर्याय होता। पर साहित्य की पंगत में जो शब्द पहले आकर बैठ जाता है उसे निकालना बहुत मुश्किल होता है। अतः विवेचन की स्पष्टता तथा विवाद से बचने के लिए 'प्लॉट' के लिए 'कथानक' शब्द का प्रयोग ही वांछनीय है।

'कथानक' कथा की विशिष्ट योजना, नवीन विन्यास है। ई. एम. फोर्स्टर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आस्पेक्ट्स ऑफ द नॉवेल' में 'कथानक' का बहुत स्पष्ट विवेचन किया है। उनके अनुसार 'कथानक' भी 'कथा' के समान ऐतिहासिक समयानुक्रम में नियोजित घटनाओं का पुंज ही है, पर उसमें बल कारणत्व या कार्य-कारण-सम्बन्ध पर होता है 'कथा' में कोई जरूरी नहीं कि घटनाएँ कार्य-कारण शृंखला में निबद्ध हों ही। पर 'कथानक' के लिए यह अपरिहार्य है। यह कथा और कथानक का बुनियादी फर्क है। इस अन्तर को समझाने के लिए फोर्स्टर ने एक बहुत आसान नुस्खा दिया है। 'कथा' का उदाहरण है : 'राजा मरा और उसके बाद रानी भी मर गयी।' इसमें राजा और रानी का मरना दो 'घटनाएँ' हैं। राजा का पहले और रानी का बाद में मरना 'ऐतिहासिक कालक्रम' है। 'कथानक' में कथा का रूप बदल जाता है : 'राजा मरा और इस दुःख को न सह पाने के कारण रानी भी मर गयी। यहाँ कालक्रम

ज्यों का त्यों सुरक्षित है, पर कारणत्व का भाव स पर हावी हो गया है। इसका एक रूप यह भी हो सकता है कि रानी मर गयी। लोगों को आश्चर्य हुआ। बाद में पता चला कि वह राजा की मृत्यु के दुःख को बर्दाश्त नहीं कर पायी और इस दुनिया से विदा हो गयी।' दोनों का अन्तर ध्यातव्य दोनों का अंतर ध्यातव्य है। कथा के इस 'रूप' में समय का ऐतिहासिक क्रम उलट गया है रानी बाद में मरती है, पर कथा में उसका उल्लेख पहले होता है। इससे 'कथा' में रहस्य तत्त्व की सृष्टि हो गयी है। यह कथा का ऐसा रूप है जिसमें उच्चतर विकास की अधिक क्षमता है। यह ऐतिहासिक कालक्रम को विपर्यस्त या स्थगित कर देता है और उस अवकाश को भरने के लिए सर्जनात्मक सम्भावनाओं के अपरिमित द्वार खुल जाते हैं। हम रानी की मृत्यु पर विचार करें। 'कथा' में हम पूछते हैं, 'फिर क्या हुआ?' पर 'कथानक' का यही मौलिक अंतर है। 'दूसरा अन्तर है रहस्य तत्त्व का, जो 'कथा' में नहीं होता और 'कथानक' में होता है। कथा में यदि कोई रहस्य होता भी है तो उसका उद्घाटन तुरत-फुरत हो जाता है; कथानक में रहस्य का उद्घाटन, बहुत बाद में, कभी-कभी तो कथा के बिल्कुल अन्त में होता है। उदाहरण के लिए हम पंचतंत्र, कथासरित्सागर, अलिफ लैला या किस्सा चहार दरवेश को लें। इनमें कहानी सीधे समयानुक्रम में चलती है। कथा सुननेवाला 'फिर क्या हुआ?' की जिज्ञासा में टँगा रहता है और किस्सागो उसकी एक जिज्ञासा का शमन करके दूसरी जिज्ञासा पैदा कर देता है और अन्त में कहानी को विवाह या किसी अन्य सुखान्त में पहुँचाकर श्रोताओं को सो जाने की सलाह देता है। यह कथा का मौलिक और परम्परागत रूप है।

अब हम उन पुस्तकाकार कथाओं को देखें जिनमें 'कथा' 'कथानक' का रूप ले चुकी होती है। उदाहरण के लिए देवकीनन्दन खत्री की चन्द्रकान्ता। वैसे तो चन्द्रकान्ता हिन्दी में 'उपन्यास' के रूप में ही जानी जाती है, पर है वह दीर्घाकार कथा ही, चाहे 'रोमांस' कह लें। चन्द्रकान्ता में रूप की दृष्टि से 'कथा' का 'कथानक' में विकास हो गया है। इसका आरम्भ निम्नांकित पंक्तियों से होता है :

शाम का वक्त है, कुछ-कुछ लालिमा दिखायी दे रही है, सुनसान मैदान में एक पहाड़ी के नीचे दो दोस्त वीरेन्द्र सिंह और तेज सिंह एक पत्थर की चट्टान पर बैठे आपस में बातें कर रहे हैं।

वीरेन्द्र सिंह की उम्र इक्कीस या बाइस वर्ष की होगी। यह नौगढ़ के राजा सुरेन्द्र सिंह का इकलौता लड़का है। तेज सिंह राजा सुरेन्द्र सिंह के दीवान जीत सिंह का प्यारा लड़का और कुँवर वीरेन्द्र सिंह का दिली दोस्त, बड़ा चालाक, फुर्तीला, कमर में खंजर बाँधे, बगल में बटुआ लटकाए, हाथ में एक कमन्द लिए, बड़ी तेजी से चारों तरफ देखता और इनसे बातें करता जाता है। इन दोनों के सामने एक घोड़ा कसा-कसाया दुरुस्त पेड़ से बँधा हुआ है।

कथा की दृष्टि से देखें तो इस पूरे विवरण का सारांश होगा : शाम के वक्त एक सुनसान मैदान में राजकुमार वीरेन्द्र सिंह और उनका दोस्त तेज सिंह आपस में कुछ बातें कर रहे हैं। कथाकार ने इसे 'वर्णन' से स्फीत कर दिया है। समय, स्थान और पात्रों का विस्तृत वर्णन करना किस्सागो का उद्देश्य नहीं होता। कथा सुनने वालों की इसमें कोई रुचि नहीं होती। वे समय के प्रवाह में घड़ी की टिक-टिक सुनते हुए, बहते रहते हैं और किस्सागो भी समय के प्रवाह को किसी 'अनावश्यक' वर्णन से रोकने का प्रयास नहीं करता। इसके विपरीत 'उपन्यास की ओर बढ़ती' कथा में कथाकार बीच-बीच में घड़ी की सूइयों को रोक देता है, या उसकी टिक-टिक को अनसुना कर देता है और स्थान, काल और पात्रों के वर्णन में रम जाता है। समय का यह 'निलम्बन' कथानक की एक उल्लेखनीय विशेषता है। 'कथानक' उपन्यास की

दिशा में बढ़ा हुआ कथा का पहला चरण है और हिन्दी में चन्द्रकान्ता इसका बेहतरीन उदाहरण है।

हम चन्द्रकान्ता की कथा को कुछ और गहराई में जाकर देखें। ऊपर के उद्धरण के बाद वीरेन्द्र सिंह और तेज सिंह का लगभग डेढ़ पृष्ठों का वार्तालाप है, जिसमें वीरेन्द्र सिंह चन्द्रकान्ता के प्रति अपने प्रेम का इजहार करते हैं और तेज सिंह उन बाधाओं का उल्लेख करते हैं जो वीरेन्द्र सिंह और चन्द्रकान्ता के मिलन के बीच पैदा हो गयी हैं। इसके बाद तेज सिंह सही स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए रवाना होते हैं। किस्सागो इस प्रसंग को बहुत जल्द निबटा देता जबकि देवकीनन्दन खत्री इसे नाटक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस प्रस्तुतीकरण में भी समय ठहर जाता है या उसकी गति बहुत धीमी हो जाती है। कथा को रोककर नाटकीय दृश्यों की योजना करना भी कथानक का अंग है। कथा में इसके लिए गुंजाइश नहीं होती, क्योंकि किस्सागो कथा 'सुना' ही सकता है, उसे 'दिखा' नहीं सकता।

चन्द्रकान्ता में तेज सिंह के प्रस्थान के बाद उपन्यासकार दूसरा 'बयान' आरम्भ कर देता है जिसमें हम क्रूर सिंह, नाजिम और अहमद को आपस में षड्यन्त्र करते देखते हैं। 'कथा' के श्रोता को एक झटका लगता है। वह तेज सिंह के बारे में जानना चाहता था कि उसके जाने के बाद 'क्या हुआ?' किस्सागो अपने श्रोता की भावना का आदर करता है, पर खत्री जी उसे थोड़ा सब्र करने को कहते हैं। कहीं-कहीं तो वे उसे खुल कर धैर्य रखने की सलाह भी दे डालते हैं। उनका कथाकार पहली कथा के कालप्रवाह या समयानुक्रम को निलम्बित कर देता है और ठीक उसी समय या उसके कुछ पूर्व ही किसी दूसरे स्थान पर आरम्भ होने वाली कथा प्रस्तुत करने लगता है। इस तरह से कथा के स्थान-आयाम का विस्तार हो जाता है और उसके विकसित होने की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। यह ठीक है कि यह कथा भी बाद में चल कर पहली कथा से मिल जाती है, पर समय-क्रम को निलम्बित करके कथाकार पाठक को द्विधा और संशय की मनःस्थिति में डाल देता है जो किस्सागो नहीं करता। ध्यान देने की बात है कि दूसरी कथा भी नाटकीय दृश्य के रूप में ही प्रस्तुत की गयी है। इस दृश्य के अन्त में भी तेजसिंह की तरह नाजिम और अहमद क्रूर सिंह की तरफ से वीरेन्द्र सिंह और चन्द्रकान्ता के बीच क्या हो रहा है' इसका पता लगाने निकलते हैं। पर यह क्या! कथाकार पुनः 'बयान' बन्द करके पाठक को एक झटका देता है और तीसरे 'बयान' में उसे चन्द्रकान्ता के खासमहल में पहुँचा देता है, जहाँ चन्द्रकान्ता और चपला आपस में बातें कर रही हैं। इस प्रकार समय तो अपनी जगह पर टिका हुआ है और तीन स्थानों पर एक साथ 'व्यापार' घटित हो रहे हैं। यहाँ समयानुक्रम के निलम्बन द्वारा घटनाओं का विन्यास नये प्रकार से हो रहा है। यही 'कथानक' है। स्पष्ट है कि 'कथानक' के लिए केवल जिज्ञासा पर्याप्त नहीं होती। उसके लिए प्रथम तो श्रोता को पाठक बनना पड़ता है और फिर पाठक को बुद्धि और स्मरण-शक्ति दोनों से काम लेना पड़ता है। कथानक को ग्रहण करने के लिए पाठक में औसत बुद्धि का होना अनिवार्य है। पाठक को दो अवलोकन-बिन्दुओं से कथानक को देखना पड़ता है। एक अवलोकन-बिन्दु स्वतन्त्र होता है जो कथा को उसके समयानुक्रम में देखता है और दूसरा उन तथ्यों से जुड़ा होता है जिन्हें वह पूर्ववर्ती पृष्ठों में पढ़ चुका होता है। उदाहरण के लिए हम पुनः चन्द्रकान्ता के कथानक पर दृष्टि डालें। मान लें, पाठक तीसरे 'बयान' में पहुँच चुका है। वह देखता है कि चपला की चालाकी और सतर्कता के चलते नाजिम, जो वेश बदल कर चन्द्रकान्ता का हाल लेने आया था, पकड़ा जाता है। यदि इस समय तक पाठक दूसरे बयान में नाजिम अहमद और क्रूर सिंह के बीच हुई बातों को भूल चुका है, तो कथानक उसके पल्ले नहीं पड़ सकता। स्मरण-शक्ति और बुद्धि एक दूसरे से घनिष्ठतः सम्बद्ध हैं। यदि पाठक को

पिछले पृष्ठों में वर्णित बातें याद नहीं हैंये बातें कभी-कभी तो बहुत सूक्ष्म रूप में, जैसे अस्फुट शब्दों या मुद्राओं के रूप में भी होती हैंतो वह एक कार्यव्यापार से दूसरे कार्यव्यापार का सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता। इस प्रकार कथानक-निर्माता अपने पाठक से बुद्धि और स्मरण-शक्ति दोनों की अपेक्षा रखता है।

समयानुक्रम के स्थगन द्वारा रहस्य की सृष्टि कथानक की एक विशेषता है, जिसका उपयोग जासूसी कथालेखक भी अत्यन्त कुशलतापूर्वक कर लेते हैं। देवकीनन्दन खत्री ने इसका बहुत सफल प्रयोग किया था, यह हम देख चुके हैं। पर कोई भी विवेकशील समीक्षक खत्री जी की तिलिस्मी कथाओं अथवा कॉनन डायल की जासूसी कथाओं को 'उपन्यास' नहीं मानता। यह केवल इसलिए नहीं कि हम 'यथार्थवाद' को 'उपन्यास' की पहचान मानने के अभ्यस्त हो गये हैं, बल्कि इसलिए कि 'कला' के रूप में चन्द्रकान्ता या इस प्रकार की अन्य कथा पुस्तकें बहुत कम दूर की यात्रा कर पाती हैं। अतः केवल 'रहस्यपूर्ण कथानक' उपन्यास का सही ढाँचा नहीं बन सकता। वह 'कथा' को विकास की अधिक सम्भावनाएँ प्रदान कर सकता है, पाठक से उसके कुतूहल के अतिरिक्त दुविधा, संशय आदि की भी माँग कर सकता है, पर वह अकेले उपन्यास का आधार नहीं बन सकता। इसके लिए उसे अपने दूसरे गुण 'कारणत्व' से, जो उसे कथा से भिन्न करनेवाला एकमात्र मौलिक गुण है, युक्ता होना पड़ता है। देवकीनन्दन खत्री ने अपने कथा श्रोता का बहुत ध्यान रखा है, अतः 'कारणत्व' को उन्होंने 'फिर क्या हुआ'? पर हावी नहीं होने दिया है। यद्यपि यह भी सच है कि खत्री जी ने 'कथा' की वैसी घटनाओं की योजना नहीं की है, जो अतिलौकिक होती हैं, जैसे जादू, मन्त्र, दिव्य शक्ति आदि से घटित होनेवाले कार्य, जो प्रायः ही कथासरित्सागर, अलिफ लैला, या दास्तान ए अमीर हमजा आदि में पाये जाते हैं। इतना ही नहीं उन्होंने अविश्वसनीय लगने वाली घटनाओं को भी अपने समय तक के वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता से विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया है। पर यह उनका लक्ष्य नहीं है। उनका उद्देश्य अपने किंचित् 'बुद्धिमान' पाठकों को ऐसी रोचक 'कथा' देना है जो उसे पढ़ते समय भूख-प्यास भुला बैठें। उनका ध्यान इस बात पर नहीं जाता कि कथा की 'अव्यारिनें' तक अपने दुश्मन पात्रों को बेहोश कर, उनकी गठरी बाँध कर, उन्हें किसी कन्दरा या गुफा में कैद कर आती है। खत्री जी का पाठक उसके घटते ही दूसरी घटना की माँग करता है। यह घटना क्यों घटी, यह नहीं पूछता। चन्द्रकान्ता के प्रथम भाग के प्रथम संस्करण के आवरण-पृष्ठ पर विज्ञापन छपा था।

चन्द्रकान्ता का दूसरा हिस्सा भी छप रहा है। इस पहले हिस्से में सब सामान इकट्ठा हो गया है। मजे का वक्त अब आता है। दूसरे हिस्से में आपलोग देखेंगे कि कैसे चन्द्रकान्ता का पता लगता है वो क्या मजे में लड़ाई होती है और कैसी-कैसी तैयारियाँ होती हैं; तिलिस्म का भी मजा इसमें आयेगा।

इस विज्ञापन से स्पष्ट है कि चन्द्रकान्ता की कहानी पाठक की उत्तरदायित्व रहित जिज्ञासा को तुष्ट करने की क्षमता से युक्त है। चन्द्रकान्ता पढ़ते समय पाठक को वीरेन्द्र सिंह या चन्द्रकान्ता का उतना ध्यान नहीं रहता। उसकी रुचि केवल इस बात में होती है कि आगे क्या होने जा रहा है। घटनाओं का किसी स्थान विशेष से अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता। कथाकार हमेशा पाठक के सामने एक अजीबोगरीब घटना पेश करने की कोशिश में लगा रहता है। 'बयान' की समाप्ति के साथ तो प्रायः कोई न कोई चौंकानेवाली घटना जरूर घटती है, जिसके चलते पाठक-दूसरा 'बयान' शुरू करने के लिए बाध्य सा हो जाता है। यही चन्द्रकान्ता की अन्यतम विशेषता है।

इस प्रकार की कथा को 'रोमांस' या 'घटनाप्रधान उपन्यास' कहने का चलन है। 'घटनाप्रधान उपन्यास' पद में स्पष्ट अन्तर्विरोध है। 'घटनाप्रधान' कथा ही हो सकती है, उपन्यास नहीं। पर इस पद का कोई विकल्प न होने से हम इसके प्रयोग के लिए विवश भी हैं। 'घटना प्रधान' उपन्यास को 'कथा' और 'उपन्यास' के बीच की अवस्था माना जा सकता है। इसमें 'कथा' 'कथानक' का रूप अख्तियार कर लेती है। कथा का उद्देश्य पाठक में कौतूहल पैदा करना होता है। यदि पाठक एक के बाद दूसरी घटना की माँग करने के बजाय 'आगे क्या होने जा रहा है' पर आश्चर्य व्यक्त करने की मुद्रा में डाल दिया जाता है, तो कथा में एक घनत्व की सृष्टि हो जाती है। घटनाओं के अनुक्रम के स्थान पर एक जटिल घटना-संसार की रचना द्वारा कथाकार पाठक में आवेग, प्रत्याशा, आशंका, भय आदि उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है। इन आवेगों को जगा देने के बाद वह पाठक को किसी न किसी प्रकार आश्वस्त कर देता है कि इनका अन्ततः शमन हो जाएगा। 'रोमांस' या 'घटना प्रधान उपन्यास' यद्यपि बीच-बीच में अपने पाठक को दुख की मनःस्थिति में डाल कर रुलाता भी है, पर अन्ततः उसकी समाप्ति सुखान्त में ही होती है। रोमांस का नायक जिन खतरों से गुजरता है उनका आनन्द पाठक तभी उठा सकता है जब वह आश्वस्त हो कि नायक का बाल भी बाँका नहीं होगा। चन्द्रकान्ता में वीरेन्द्र सिंह और उनके ऐयार अनेक संकटों में पड़ते हैं, पर पाठक पहले से जानता है कि उनका कोई अनिष्ट नहीं होगा और इस प्रकार वह बिना किसी चिन्ता के खतरे के बीच चलने का सुख प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार अद्भुत घटनाओं की सहायता से उत्तरदायित्व रहित आनन्द की सृष्टि तथाकथित 'घटनाप्रधान उपन्यास' की विशेषता है। यदि घटनाएँ योजनाबद्ध होती हैं तो पाठक की जिज्ञासा घनीभूत हो जाती है। इस प्रकार की कथाओं में छोटी से छोटी घटना के भी अप्रत्याशित परिणाम निकलते हैं और धीरे-धीरे उनमें वृद्धि होती जाती है। एक स्थिति ऐसी भी आती है जब पाठक अपने को विवश-सा चक्रव्यूह में फँसा पाता है और उसे कथाकार की सहायता की अपेक्षा हो जाती है और कथाकार उसे निराश नहीं करता। वह बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से उसका समाधान उपस्थित कर देता है। चन्द्रकान्ता में यह बात बहुत अच्छी तरह देखी जा सकती है। घटना-जाल, उसकी जटिलताओं और अन्तिम समाधान में पाठक बिलकुल रम जाता है और उसे 'कथा-रस' का अनोखा आनन्द प्राप्त होता है। घटनाओं के साथ पात्रों का होना तो स्वाभाविक ही है पर कथाकार उनके चरित्र चित्रण में कोई रुचि नहीं रखता। उनका चरित्र चित्रण मोटा-मोटी तौर पर ही होता है। यद्यपि घटनाएँ पात्रों के मन में प्रतिक्रियाएँ जगाती हैं पर घटनाओं की प्रधानता होने के कारण उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता और वे अक्सर आकस्मिक रूप में ही सामने आती हैं। इन प्रतिक्रियाओं का उद्देश्य केवल कथानक को अग्रसर करना होता है। पात्रों का चरित्रचित्रण केवल उतना ही, और मात्र उतना ही होता है जितनी घटनाओं की माँग होती है। उदाहरण के लिए, चन्द्रकान्ता के पात्रों का चरित्र पहले से प्रायः निश्चित है और वे घटनाओं के विकास और रहस्य-निर्माण के साधन मात्र हैं। अंग्रेजी का 'ट्रेजर आईलैंड' या 'शी' 'घटनाप्रधान उपन्यास' के अच्छे उदाहरण हैं।

घटनाप्रधान उपन्यासों में मुख्य तत्त्व 'साहसाभियान' होता है। वास्तविक जीवन में साहसाभियान खतरों से युक्त होता है, पर कथा में सुरक्षित रह कर उसका आनन्द लिया जा सकता है। आदमी की एक स्वाभाविक इच्छा सुरक्षित रहते हुए खतरों के बीच से गुजरने की होती है। अभयारण्यों में हिंसक पशुओं को निकट से देखने का सुख ऐसा ही होता है। घटनाप्रधान उपन्यास का कथानक भी हमें यह सुख प्रदान करता है। इसीलिए इन उपन्यासों के नायक

खतरों में घिर जाने के बावजूद बिना खरोंच लगे उनसे बाहर निकल आते हैं। देवकीनन्दन खत्री या स्कॉट के उपन्यासों में अक्सर इसे देखा जा सकता है। इन उपन्यासों में कुछ पात्रों की मृत्यु भी होती है, पर वे पात्र गौण होते हैं। खलनायकों की पराजय या मृत्यु तो निश्चित ही होती है और नायक को विजयी बनाने के क्रम में दो-एक सज्जन पात्रों की मृत्यु भी दिखा दी जाती है, पर इससे ज्यादा नहीं। घटनाप्रधान उपन्यास का कथानक अपने पाठकों की इच्छाओं का अनुगमन करता है। वह जीवन का चित्र नहीं, अभिलाषाओं की मनोकल्पना होता है। इसका कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं होता। इसका साहित्यिक महत्त्व तब होता है जब कथाकार पात्रों के चरित्रचित्रण या सामाजिक जीवन के अंकन में भी थोड़ी-बहुत रुचि लेता है। जैसे स्कॉट और स्टीवेन्सन के उपन्यास। हिन्दी में किशोरीलाल गोस्वामी के 'उपन्यास' घटनाप्रधान ही हैं, पर यत्र-तत्र चरित्रचित्रण के समावेश से उनका थोड़ा-बहुत साहित्यिक महत्त्व हो जाता है। ये 'घटनाप्रधान' उपन्यास के ऐसे उदाहरण हैं जो उपन्यास की ओर कुछ ज्यादा बड़े हुए होते हैं। इन उपन्यासों में घटनाएँ प्रायः कथानक की सहायता के लिए आती हैं। कथाकार का उद्देश्य तो किसी विषय का चित्रण करना ही होता है, पर कथानक के प्रति उसकी निष्ठा उसे संयोगाधृत घटनाओं का सहारा लेने को विवश करती है।

प्रेमचन्द के सेवा सदन की संरचना के अवलोकन से इसकी पुष्टि की जा सकती है। सेवासदन की कथा-योजना की प्रेरणा 'फिर क्या हुआ?' नहीं, वरन् 'यह कैसे हुआ?' है। दारोगा कृष्णचन्द्र रिश्वत लेते हैं। प्रेमचन्द कथा-श्रोता की इस माँग से चालित नहीं होते कि 'फिर क्या हुआ?' यद्यपि प्रेमचन्द अपने पाठकों की इस जिज्ञासा की भी बिलकुल उपेक्षा नहीं करते पर वे इसे बहुत गौण रूप में ही अपनी कथा-योजना में स्थान देते हैं। दूसरी तरफ वे उन कारणों की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या पर विशेष बल देते हैं जिन्होंने कृष्णचन्द्र को रिश्वत लेने के लिए बाध्य किया। यह 'कथानक' का नया आयाम है, जो उसे 'उपन्यास' की ओर ले जाता है। प्रेमचन्द की कथा-योजना में समय के निलम्बन से उत्पन्न 'रहस्य' और 'कारणत्व' दोनों को समुचित स्थान मिला है। इस कथा-योजना में एक और बात उल्लेखनीय है। प्रेमचन्द ने अपने कथानक का निर्माण खत्री जी की तरह 'घटनाओं' से नहीं, 'कार्य-व्यापारों' से किया है और उन्हें सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ प्रदान कर जीवन्त और विश्वसनीय रूप में मनुष्य जीवन का आख्यान बना दिया है।

उपन्यास मनुष्य जीवन का आख्यान है, यह निर्विवाद है। ज्यों ही कथा में 'घटना' का स्थान मनुष्य का 'कार्य-व्यापार' लेता है, 'उपन्यास' का आरम्भ हो जाता है। 'घटना' का स्वरूप हम निर्धारित कर चुके हैं। मनुष्य का जीवन कर्ममय है। कर्म से उसकी मुक्ति नहीं है। इसमें जन्म लेने के पहले रुदन से मृत्यु की अन्तिम साँस का सारा व्यापार शामिल है। इसमें 'घटनाएँ' भी घटती हैं, पर उनकी संख्या बहुत कम होती है। घटनाएँ प्रायः समान प्रकृतिवाली होती हैं। युद्ध हो या वायुयान-दुर्घटना, विवाह हो या मृत्यु, गडा हुआ धन मिल जाने की घटना हो या जब कट जाने की, इनकी प्रकृति में बहुत कम वैविध्य होता है। इसके विपरीत कार्य-व्यापार की कोई सीमा नहीं। व्यक्ति के साथ कार्य-व्यापार की प्रकृति में भी अन्तर आ जाता है। इस कारण मानव कार्य-व्यापार व्यापकता और वैविध्य की दृष्टि से असीम हो जाता है, जिसमें विचरण करने के लिए कथा को अनन्त विस्तार उपलब्ध हो जाता है। यहीं पहुँच कर 'कथा' 'उपन्यास' का रूप ग्रहण कर लेती है।

कथानक अपने मूल रूप में सुसम्बद्ध और सुगठित होने की अपेक्षा रखता है। कथानक में रहस्य का सृजन होता है और फिर अन्त में उसके उद्घाटन का प्रयास होता है। कथाएँ

अनेक स्थानों और समयों से आरम्भ होकर भी एक दूसरे से गुँथी रहती हैं और एक सुसम्बद्ध कथानक का निर्माण करती हैं। आरम्भ, विकास, संकट-बिन्दु और उपसंहार, इन अवस्थाओं से गुजरता हुआ कथानक अपनी एकलता का बोध कराता है। कथानक आरम्भ में बिखरा हुआ प्रतीत हो सकता है, पर उपसंहार तक पहुँचते-पहुँचते उसका कोई सिरा मूल कथा से उसी तरह अलग नहीं रहता जैसे बँटी हुई रस्सी। घटनाएँ और पात्र एक दूसरे से घनिष्ठतः जुड़े रहते हैं। पात्र कोई भी ऐसा कार्य नहीं करते जो घटनाओं की शृंखला में बेमेल हो। कथानक कौतूहल पैदा करने और पाठक को आश्चर्यचकित करने के गुण से युक्त होता है और पात्र को इसमें योग देना पड़ता है। 'कभी-कभी इससे चरित्र को नुकसान भी उठाना पड़ता है; उसकी विश्वसनीयता बाधित हो जाती है या वह निर्जीव हो जाता है। उदाहरण के लिए हम अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार चारलोट ब्रॉन्टी के व्हिलेट से एक उदाहरण लें। उपन्यास की पात्री लूसी सिनॉव पाठकों से इस रहस्य को छिपा लेती है कि डॉक्टर जॉन और कोई नहीं, वरन् उसका पुराना खेल का साथी ग्राहम है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब यह रहस्य खुलता है तो पाठक रोमांच का अनुभव करता है, पर लूसी का चरित्र इस कारण हल्का और हास्यास्पद हो जाता है। कथानक की माँग पर पात्रों को विकास के प्रत्येक मोड़ पर अपनी विशेषताओं का त्याग करना पड़ता है, या समझौता करना पड़ता है। प्रायः वे किसी संयोग या नियति के शिकार हो जाते हैं। कोई ऐसा संयोग घटित होता है कि उनके जीवन की दिशा बदल जाती है। कभी-कभी उन्हें कथानक की सुसम्बद्धता की माँग पर कथामंच से हटने को भी बाध्य होना पड़ता है। प्रेमचन्द के सेवासदन में सुमन जीवन से निराश होकर आत्महत्या का मार्ग अपनाने का निश्चय करती है। पर गंगा में छलाँग लगाने के ठीक पूर्व एक साधु उसे रोक लेता है और उसे जीने की प्रेरणा देता है। बड़े रहस्यमय ढंग से वह लुप्त भी हो जाता है। यह साधु और कोई नहीं, बल्कि उसका पति गजाधर है, जो अपने किये का प्रायश्चित्त करने के लिए वेश्याओं के उद्धार-कार्य में लग गया है। इस घटना से कथानक को अन्त की ओर अग्रसर होने की सुविधा तो प्राप्त हो जाती है, पर सुमन और गजाधर दोनों के चरित्र अपनी विशेषता खो देते हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार टॉमस हार्डी के उपन्यासों में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हार्डी कार्य-कारण सम्बन्ध को प्रमुखता देते हुए घटनाओं की योजना करते हैं, पर उनका खाका 'कथानक या प्लॉट का होता है जिसमें पात्र उसकी आवश्यकता के अनुरूप आचरण करने को बाध्य होते हैं। हार्डी के उपन्यासों के पात्र अनेक प्रकार के जालों में फँसे होते हैं, उनके हाथ-पैर बँधे होते हैं और उनके जीवन में नियति का बेहिसाब हस्तक्षेप होता है।

यह कथानक की बहुत बड़ी सीमा है। उसकी हदों में पात्रों का स्वाभाविक रूप में चरित्र-विकास नहीं होता। कथानक की एक जरूरी माँग यह भी है कि उसे अन्त में समेटा जाए, उसे एक निश्चित अन्त प्रदान किया जाए। पर जब अन्त में कथानक को समेटने का समय आता है तब तक सारे पात्र निर्जीव हो गये रहते हैं। आरम्भ में जो घटनाएँ और पात्र स्वाभाविक रूप से घटित या कार्यशील होते थे वे कथा के उपसंहार में 'योग' देने के लिए बाध्य किये जाते हैं। जो घटनाएँ या पात्र, विद्रोह की मुद्रा में, सहयोग करने को तैयार नहीं होते कथाकार उनसे निर्ममतापूर्वक छुट्टी पा लेता है।' अधिकांश कथानकों का अन्त विवाह या मृत्यु में होता है और पात्र या तो मरने के लिए या विवाह करने के लिए बाध्य किये जाते हैं। यह कथानक का अन्तर्निहित दोष है कि उसके लौह ढाँचे में पात्र अन्ततः रुग्ण हो जाते हैं या मर जाते हैं।

कथानक की दूसरी सीमा यह है कि कथाकार को उसकी योजना पहले ही बना लेनी



पड़ती है। वह मनमाने तौर पर विकसित नहीं हो सकता। उसकी शाखाओं को इधर-उधर न जाने देने के लिए कथाकार हमेशा कैंची लेकर तैयार रहता है। कथाकार कथानक का डिक्टेटर होता है और उसकी परिणति पूर्वनिर्धारित होती है। उपन्यास में ऐसा नहीं होता। कथानक का अन्त आवश्यक होता है, पर जीवन का कोई अन्त नहीं होता। कथानक अनिर्णीत नहीं रह सकता, जबकि जीवन सदा खुला रहता है। श्रेष्ठ उपन्यासकार कथानक की आवश्यकता के अनुसार जीवन को मोड़ देने का प्रयास नहीं करते। पर कभी-कभी उन्हें भी कथानक चकमा दे जाता है। हाल में प्रकाशित और बुकर्स अवार्ड के लिए नामित उपन्यासकार रोहिंटन मिस्त्री का 'फैमिली मैटर्स'<sup>2</sup> एक अच्छा उपन्यास है, पर उपन्यास के केन्द्रीय पात्र नरिमन की पुत्री कूमी, राजमिस्त्री एडुल, मुंशी तथा बम्बे स्पोर्टिंग गूड्स इम्पोरियम के प्रोप्राइटर मि. कपूर की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु की घटनाएँ विषय की नहीं, कथानक की बाध्यता घोटित करती हैं, जिससे उपन्यास कमजोर हो जाता है। उपन्यास में जो पात्र आते हैं, वे स्वतन्त्र विकास की माँग करते हैं। वे कथानक के निर्देश पर जीना नहीं चाहते। वे अपने जनक या स्रष्टा के आदेश पर चलना पसन्द नहीं करते। एक बार जन्म ले लेने के बाद वे अपने नियमों या अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित होने का हठ करते हैं, जिसकी उपेक्षा उपन्यासकार नहीं कर सकता। उनके जीवन का संचालन करनेवाले तत्त्व संवेदनाएँ, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि होते हैं। वे कथानक का नियन्त्रण मानने को बाध्य नहीं होते और जब उपन्यासकार उन्हें कथानक के निर्देश पर चलने को विवश करता है तो वे कृत्रिम और निर्जीव हो जाते हैं और उसका बदला खुद मर कर लेते हैं। स्वाभाविक है कि कथानक के नियन्त्रण में अग्रसर होनेवाला उपन्यास कमजोर हो जाएगा।

इससे स्पष्ट है कि 'कथानक' उपन्यास का ढाँचा ही बन सकता है, स्वयं उपन्यास नहीं बन सकता। यह ढाँचा उपन्यास के लिए अनिवार्य हो सकता है, पर उपन्यासकार का काम इसके बाद शुरू होता है। वह कथानक को अपने विजन और लक्ष्य के अनुसार शिथिल कर सकता है, उसे तोड़ सकता है या घटनाओं अथवा कार्यव्यापारों के स्थान पर प्रतीकों, फन्तासियों अथवा स्वप्न-बिम्बों का प्रयोग करके उसे ऊपर से सर्वथा असम्बद्ध दिखायी देनेवाला बना सकता है। उपन्यास का इतिहास इसका उदाहरण है।

'कथा' की 'उपन्यास' तक की यात्रा में 'कथानक' पहला पड़ाव है, पर उपन्यास उसके बाद ही शुरू होता है। वस्तुतः उपन्यास का विषय 'मनुष्य का जीवन' है। यद्यपि इसे परिभाषित करना आसान नहीं है, पर हम सभी अनुभव करते हैं कि 'जीवन' अपनी विविधता, व्यापकता और बाहर-भीतर की समग्रता में जितना अधिक उपन्यास में अभिव्यक्त हो सकता है, उतना साहित्य की किसी दूसरी विधा में नहीं। कविता में संवेदना की गहराई अपनी सीमाओं को छू सकती है, नाटक में जीवन अपनी तीव्रता में रूपान्तरित हो सकता है, पर जीवन की व्यापकता और वैविध्य का अंकन तो उपन्यास में ही सम्भव है। यह भी सच है कि जीवन घटनाओं में नहीं समा सकता। घटनाएँ जीवन का अहम हिस्सा नहीं हैं, यद्यपि जीवन में उनके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। कभी-कभी घटनाएँ जीवन को बेहद प्रभावित भी करती हैं, पर वे जीवन का पर्याय नहीं होतीं। उपन्यास जीवन के प्रति समर्पित होता है, घटनाओं के प्रति नहीं। इसलिए उपन्यास में घटनाओं का महत्त्व न के बराबर होता है। वे उपन्यास में उतनी ही जगह पा सकती हैं, जितनी जीवन में उनकी जगह होती है। मनुष्य का कर्म-समारोह ही जीवन है और वह अनन्त है। इस कर्म-समारोह का अंकन ही उपन्यास है, इसलिए उपन्यास की सम्भावनाएँ भी अनन्त हैं। घटनाएँ तो बहुत सीमित होती हैं इसलिए उन्हें आधार बना

कर रचित कथा-साहित्य की सम्भावनाएँ भी बहुत थोड़ी होती हैं। उसकी मंजिल मनोरंजन पर समाप्त हो जाती है। 'कथानक' उसके प्रभाव में तीव्रता लाने में समर्थ होता है पर इससे आगे वह भी नहीं जा पाता।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मनुष्य ही उपन्यास के केन्द्र में होता है। 'घटना' के साथ मनुष्य का सम्बन्ध प्रायः आकस्मिक होता है। मनुष्य पर घटना का अच्छा बुरा प्रभाव तो पड़ता है, पर वह उसका नियामक नहीं होता। वह उसे रोक या निर्देशित नहीं कर सकता। प्रायः घटनाएँ अप्रत्याशित भी होती हैं। इस कारण घटनाप्रधान कथानक में पात्र की भूमिका बहुत गौण होती है। दूसरी तरफ उपन्यास में पात्र ही प्रधान होते हैं। यहाँ आकर कथ्य की दृष्टि से उपन्यास के दो प्रकार हो जाते हैं, जिन्हें समाज-चित्रण प्रधान और 'चरित्र-चित्रण' प्रधान कहा जा सकता है। यद्यपि इन दोनों प्रकारों को एक-दूसरे से अलग करना बहुत कठिन है क्योंकि 'समाज' और 'चरित्र' एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते, पर प्रस्तुति की प्रधानता के आधार पर इस विभाजन को स्वीकार किया जा सकता है। 'समाज-चित्रण' प्रधान उपन्यास में पात्र विश्वसनीय तो होते हैं, पर कथाकार का उद्देश्य उनके चरित्र की गहराइयों में जाकर उसका बहुपक्षीय उद्घाटन करना नहीं होता। इस प्रकार प्रकार के उपन्यासों में वर्तमान या अतीत के 'यथार्थ' का, जिसकी सीमा नहीं है उद्घाटन उपन्यासकार का लक्ष्य होता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द के उपन्यास लिये जा सकते हैं। प्रेमचन्द के उपन्यास पात्रों से भरे हुए हैं जिनके कार्य-व्यापार प्रायः विश्वसनीय और मनोवैज्ञानिक आधार से युक्त हैं। प्रेमचन्द अपने पात्रों की चरित्रिक विशेषताओं पर भी प्रकाश डालते हैं पर यह उनका मुख्य लक्ष्य नहीं होता। उनकी दृष्टि विशेष रूप से उस समाज पर होती है जिसके वे पात्र अभिन्न अंग होते हैं। उनके पात्र अधिकतर, ई. एम. फोर्स्टर के शब्दों में 'समतल' होते हैं, जो यथार्थ के प्रतिनिधिक अंकन के लिए उपयोगी होते हैं। इससे अधिक पात्रों का 'समाज-चित्रण' प्रधान उपन्यास में महत्त्व नहीं होता।

'समाज-चित्रण' प्रधान उपन्यास में 'कथानक' होता है, पर वह 'घटनाओं' से नहीं, 'कार्य-व्यापारों' से निर्मित होता है। यदि कथ्य एकायामी है तो उससे सम्बद्ध कथानक 'सुगठित' हो सकता है, पर इसके लिए जरूरी है कि कथ्य की रूपरेखा और निष्कर्ष सुनिश्चित हों। पर यह शर्त कथ्य को बहुत हल्का और निर्जीव बना देती है। हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में विषय निश्चित और एकायामी है। देवरानी जेठानी की कहानी से लेकर परीक्षा गुरु तक में विषय नितान्त रूप से 'सुनिश्चित' है। पात्रों के चरित्र भी पूर्वनिर्धारित है। उपन्यासकार का काम केवल उसमें घटनाओं को भर देना है। प्रेमचन्द का सेवा सदन एक सुगठित कथानक वाला उपन्यास है। पर यह तभी सम्भव हो सका है जब प्रेमचन्द ने समस्या का एक समाधान पहले से ही निश्चित कर रखा है। इस 'समाधान' के लिए कथानक को संयोग का सहारा लेना पड़ा है और 'अन्त' की निर्मिति के लिए स्वाभाविक रूप से अग्रसर होते कार्यव्यापारों में काट-छाँट करनी पड़ी है।

कथ्य के आयाम में विस्तार होते ही कथानक से उसकी कशमकश शुरू हो जाती है। विस्तृत आयाम वाले कथ्य कथानक के लौह ढाँचे के अनुशासन को स्वीकार नहीं कर पाते। उपन्यासकार के सामने एक ही चारा रह जाता है; या तो वह कथानक के गठन के लिए विषय को उसके तार्किक विकास से वंचित करे या कथानक की चिन्ता छोड़े। छोटे कद के उपन्यासकार कथानक के लिए कथ्य का ही बलिदान कर देते हैं क्योंकि उनके पास कोई विजन नहीं होता। पर श्रेष्ठ उपन्यासकार अपने विजन को अभिव्यक्त करने के लिए कथानक की सीमाओं की

परवाह नहीं करते। वे अपने कथ्य की आवश्यकता के अनुरूप कथानक को शिथिल कर देने में कोई संकोच नहीं करते। प्रेमचन्द के उपन्यासों में यह बात देखी जा सकती है। सेवासदन में वे 'कथानक' की चिन्ता करते हैं पर प्रेमाश्रम, कायाकल्प, गबन और कर्मभूमि में विषय के वृहत्तर आयामों से जुड़ जाने पर उनके कथानक उसके स्वीकृत नियमों को अस्वीकार कर देते हैं। वे यौगपदिक संक्रमण के सिद्धान्त पर कथानक का विकास करते हैं, पर उनके 'गोपुच्छवत्' अन्त के बहुत आग्रही नहीं होते। अपने अन्तिम उपन्यास गोदान में तो वे यौगपदिक संक्रमण के स्थान पर समानान्तर संक्रमण वाली कथाप्रविधि का उपयोग करते हैं जिसमें दो कथा-धाराएँ आपस में मिलने का कोई प्रयास ही नहीं करतीं। यद्यपि प्रेमचन्द को इस प्रयास में पूरी सफलता नहीं मिली है, पर इस दिशा में प्रयोग करनेवाले वे हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार हैं।

चरित्रप्रधान उपन्यास में, उपन्यासकार का सरोकार समाज का चित्रण न होकर व्यक्ति पात्र का अंकन हो जाता है। यहाँ भी हमें यह नहीं भूलना होगा कि व्यक्ति सामान्यतः, समाज का अंग होता है। पर वह हमेशा उसका निर्जीव पुर्जा मात्र नहीं होता। उसका 'स्व' स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है; उसका एक अलग संसार होता है जो समाज की संहिताओं का अन्धानुगमन नहीं करता। यह 'व्यक्ति' समाज को चुनौती देता है, उससे विद्रोह करता है, उसकी बनायी संहिताओं को ध्वस्त करता है। जब उपन्यासकार का लक्ष्य इस प्रकार के पात्रों का निर्माण होता है, तब चरित्रप्रधान उपन्यास का जन्म होता है। प्रेमचन्द ने खुद को चरित्रप्रधान उपन्यासकार के रूप में नहीं देखा था। उन्होंने 'भावी उपन्यास' के चरित्रप्रधान होने की भविष्यवाणी की थी, जो जैनेन्द्र के सुनीता और त्यागपत्र अज्ञेय के शेखर : एक जीवनी तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी के बाणभट्ट की आत्मकथा जैसे उपन्यासों में प्रतिफलित हुई थी।

चरित्रप्रधान उपन्यास में, जो कथा-साहित्य के विकास की अगली कड़ी और उपन्यास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकार है, पात्र और कथानक का संघर्ष और भी उग्र हो जाता है। अँगरेजी साहित्य में विलियम मेकपीस थैकरे के वैनिटी फेयर को चरित्रप्रधान उपन्यास के सर्वोत्तम उदाहरण के रूप में देखा गया है। वैनिटी फेयर में कोई नायक नहीं है। इसमें ऐसा कोई केन्द्रीय पात्र नहीं है, जो घटनाओं को प्रक्षेपित करता हो। इसमें कोई बहुत स्पष्ट या उभरा हुआ कथानक नहीं है, कोई ऐसा निश्चित घटना-व्यापार नहीं है जिसमें अन्य सभी घटनाएँ योग देती हों, कोई ऐसा 'अन्त' नहीं जिनकी ओर सारे कार्य-व्यापार उन्मुख हों। इस उपन्यास में पात्रों का सृजन कथानक के अंग के रूप में नहीं हुआ है; पात्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व है और उपन्यास का समस्त कार्यव्यापार उन्हीं का अनुगमन करता है। हिन्दी उपन्यास में यद्यपि वैनिटी फेयर जैसा कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है, पर चरित्रप्रधान उपन्यासों की परम्परा का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही हो चुका था। भुवनेश्वर मिश्र का बलवन्त भूमिहार इस परम्परा का पहला उपन्यास माना जा सकता है। बाद में प्रेमचन्द ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया, पर उनके उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ के अंकन पर इतना अधिक जोर है कि उन्हें इस प्रकार के उपन्यास का उदाहरण नहीं माना जा सकता। प्रेमचन्द का रंगभूमि इस दृष्टि से वैनिटी फेयर के कुछ निकट पहुँचता है, पर उसे भी वैनिटी फेयर का प्रोटोटाइप नहीं कहा जा सकता। परवर्ती काल के कुछ उपन्यास, जैसे भगवतीचरण वर्मा कृत भूले बिसरे चित्र (1959), यशपाल कृत झूठा सच (1958-60), अमृतलाल नागर कृत अमृत और विष (1966) आदि इस प्रकार के उपन्यासों में परिगणित किये जा सकते हैं। इन उपन्यासों में व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि में पात्रों के चरित्र प्रस्तुत किये गये हैं। अज्ञेय कृत शेखर: एक जीवनी (1940-44) हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत बाणभट्ट की आत्मकथा (1946) और अमृतलाल नागर कृत मानस का हंस

(1972) शुद्ध चरित्रप्रधान उपन्यास हैं, जिनमें सामाजिक पृष्ठभूमि का योगदान अपेक्षाकृत सीमित है।

‘घटना प्रधान’ उपन्यास में जहाँ सुनिश्चित और परिणामयुक्त, विशिष्ट घटनाएँ होती हैं वहाँ ‘चरित्रप्रधान’ उपन्यास में सामान्य या प्रारूपिक स्थितियों की योजना होती है जो पात्रों के चरित्र के स्पष्टीकरण के लिए प्रकल्पित होती है। इसके लिए यह जरूरी नहीं होता कि कार्य-व्यापार पात्रों के आन्तरिक विकास से उद्भूत हों। यह भी आवश्यक नहीं कि कार्य-व्यापार घटित होते समय पात्रों के चरित्र की किसी नयी विशेषता का उद्घाटन करें ही। कार्य-व्यापार से केवल इतनी ही अपेक्षा होती है कि वह पात्रों की विभिन्न चारित्रिक विशेषताओं को, जो उनमें आरम्भ से ही विद्यमान होती हैं, व्यक्त करे। चरित्रप्रधान उपन्यास के पात्र प्रायः स्थिर होते हैं। वे उस भू-दृश्य की तरह होते हैं जो सामान्यतः तब तक हमें आकृष्ट नहीं करते जब तक प्रकाश और छाया का कोई विशिष्ट प्रभाव उसे आलोकित नहीं कर देता अथवा जब तक हम उसे किसी नये अवलोकन-बिन्दु से नहीं देखते। वैनिटी फेयर के अमीलिया सिडली (Amelia Sedley), जार्ज आसबॉर्न (George Osborn), बेकी शार्प (Becky Sharp) या एउडन क्राउली (Eowdon Crawly) आदि अपने आचरण में बार-बार परिवर्तित होते नहीं दिखायी देते। यही बात रंगभूमि के सूरदास, मि. गांगुली, राजा महेन्द्र प्रताप आदि पात्रों के बारे में भी कही जा सकती है। वस्तुतः चरित्रप्रधान उपन्यासों के पात्रों में जो परिवर्तन होता है वह कालगत उतना नहीं होता जितना सतत विस्तारित वर्तमान में होता है। पात्रों की चारित्रिक दृढ़ता, सदाशयता, उदारता या उनकी दुर्बलताएँ, कमजोरियाँ, खोखलापन, आडम्बर आदि उनके भीतर आरम्भ से ही विद्यमान रहते हैं और वे उनमें अन्त तक बने रहते हैं। चरित्रप्रधान उपन्यास में पात्र नहीं बदलते, उनके सम्बन्ध में केवल हमारी जानकारी बदलती है। वैनिटी फेयर और रंगभूमि के पात्र आरम्भ से ही इस अपरिवर्तनशीलता और परिपूर्णता से युक्त हैं। चरित्रप्रधान उपन्यास का यह अनिवार्य लक्षण है। इस प्रकार के पात्र हमें अंग्रेजी के फील्डिंग, स्टर्न, स्कॉट और डिकेन्स में तथा हिन्दी के प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतलाल नागर, नागार्जुन आदि में मिलते हैं। ई. एम. फोर्स्टर ऐसे पात्रों को ‘समतल’ (फ्लैट) की संज्ञा देते हैं। एडविन म्योर की मान्यता है कि चरित्रप्रधान उपन्यास-लेखकों के लिए समतल पात्र अनिवार्य होते हैं।

विचारणीय प्रश्न यह है कि समतल पात्रों के सन्दर्भ में कथानक का कार्य क्या होगा चूँकि समतल पात्रों का विकास नहीं होता अतः कथानक का कार्य उन्हें नयी परिस्थितियों में स्थापित करना, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को बदलना और दी हुई स्थितियों में उनसे एक खास प्रारूपिक ढंग से आचरण कराना होता है। उसे अपने पात्रों को बिना किसी नाटकीयता के गतिमान बनाए रखना होता है। वैनिटी फेयर की बेकी शार्प इसका अच्छा उदाहरण है। उसका परिचय तक उपन्यासकार अन्य पात्रों से दिलाता है। वह जो सिडली, सर पिट काउली, मार्क्विस ऑफ स्टाइन, डोब्विन, लेडी शीपशैक्स आदि पात्रों से शासित होती है, उनसे बँधती है तथा उनके रंग में रँगती है। फिर भी वह उन विशेषताओं से युक्त रहती है, जिनकी हम उससे आशा करते हैं और वह घूमाफिरा कर वहीं आ जाती है। चरित्रप्रधान उपन्यास की यही विशेषता होती है। वह किसी कठोर कथानक द्वारा निगड़ित नहीं होता। यह बात एक प्रकार से स्वीकृत सी हो चुकी है कि चरित्रप्रधान उपन्यास के कथानक को शिथिल और सहज होना चाहिए। घटना प्रधान उपन्यास में पात्र कथानक के अनुरूप प्रकल्पित किये जाते हैं, ताकि वे उसमें फिट हो जाएँ। जबकि चरित्रप्रधान उपन्यास में कथानक पात्रों की व्याख्या और

स्पष्टीकरण के निमित्त होता चलता है। चन्द्रकान्ता में पात्र सामान्य हैं, कथानक विशिष्ट; *वैनिटी फेयर* और *बूँद और समुद्र* में चरित्र विशिष्ट हैं, घटनाएँ गौण।

निष्कर्ष यह कि घटनाप्रधान उपन्यास में कथानक कठोर और नियमबद्ध रूप में विकसित होता है, जबकि चरित्रप्रधान उपन्यास में वह अधिकाधिक शिथिल रूप में निर्मित होता है। यह ध्यातव्य है कि उपन्यास के इन दोनों रूपों को एक दूसरे से सिद्धान्त रूप में अलग करना जितना सरल है। उतना व्यवहार रूप में नहीं। हिन्दी में तो *वैनिटी फेयर* की तरह शुद्ध चरित्रप्रधान उपन्यास का उदाहरण उपलब्ध है ही नहीं। प्रेमचन्द, भगवतीचरण वर्मा, यशपाल, अमृतलाल नागर आदि के उपन्यास घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान उपन्यास के मिश्रण ही हैं। *सेवासदन*, *रंगभूमि*, *टेढ़ेमेढ़े रास्ते*, *रोडरिक रैंडम*, *टॉम जॉन्स* आदि उपन्यासों में से किसी को भी एक कोटि में रखना मुश्किल है। इन सभी उपन्यासों में हम घटनाओं की भीड़ देखते हैं। एक घटना से दूसरी घटना का जन्म होता है और अन्ततः समस्या का एक आसान और सुविधाजनक समाधान प्रस्तुत कर दिया जाता है। दूसरी तरफ इनमें कुछ ऐसे पात्र होते हैं जो घटनाओं का अनुगमन नहीं, उनका निर्देशन करते हैं। उनकी अनुक्रियाएँ या जवाबी कार्रवाइयाँ उनके चरित्र के अनुरूप या प्रारूपिक होती हैं। ये उपन्यास अंशतः घटनाप्रधान और अंशतः चरित्रप्रधान हैं। इनमें कौतूहल पैदा करने का गुण, कथानक का आश्वासनपूर्ण अन्त आदि घटनाप्रधान उपन्यासों की सारी विशेषताएँ होती हैं, पर इनमें जिन्दगी की सच्चाइयों का आधार भी पर्याप्त मात्रा में होता है।

अंग्रेजी उपन्यास के विकास के आरम्भिक दिनों में मुख्यतः खलनायकों और साहसाभियानों पर आधारित एक प्रकार के उपन्यास लिखे जाते थे, जिन्हें 'पिकारस्क उपन्यास' कहा जाता था। स्मॉलेट का *रोडरिक रैंडम* और फील्डिंग का *टॉम जॉन्स 'पिकारस्क उपन्यास'* के अच्छे उदाहरण माने जाते हैं। अठारहवीं शताब्दी का अंग्रेजी उपन्यास अपने को कहानी के खूँटे से, जो किसी सदावर्तमान नायक पर केन्द्रित होती थी, मुक्त नहीं कर पाया था। यद्यपि उस समय भी चरित्रचित्रण को प्रमुखता दी जाती थी, पर उपन्यासकार वर्णनकर्ता के रूप में रंगमंच पर सदा विद्यमान रहता था। उपन्यास के मेरुदंड के रूप में कोई न कोई नायक-केन्द्रित कहानी गतिशील रहती थी। *रोडरिक रैंडम* ऐसा ही उपन्यास है, जो अनेक तरह से अविश्वसनीय होने पर भी अपने समय के जीवन का व्यापक चित्र प्रस्तुत करता है। *टॉम जॉन्स* का उद्देश्य भी अपने समय का व्यापक चित्र प्रस्तुत करना ही है, पर इसका कथानक *रोडरिक रैंडम* की तुलना में अधिक घना और सम्भाव्य है। *रोडरिक रैंडम* में केन्द्रीय पात्र का चरित्र बहुत व्यवस्थित रूप में निर्मित नहीं है, जबकि *टॉम जॉन्स* एक वास्तविक चरित्र है। *टॉम जॉन्स* का कथानक लगातार आनेवाली घटनाओं का संगुम्फन उतना नहीं है, जितना जीवन के चित्रण के लिए एक कुशलतापूर्वक निर्मित ढाँचा। घटनाओं का निश्चित समय है। वे ठीक वहीं आती हैं, जहाँ पुस्तक की योजना में फिट करती हैं, पर वे अपरिहार्य नहीं होतीं। हिन्दी उपन्यास के विकास में यह प्रावस्था नहीं दिखायी पड़ती, यद्यपि उर्दू में रतननाथ सरसार के फसाना ए आजाद के रूप में इसकी झलक देखी जा सकती है।

विलियम मेकपीस थैकरे अंगरेजी का पहला उपन्यासकार है जो साहित्यिक रूढ़ि के तौर पर प्रचलित कथानक से सम्बन्ध-विच्छेद करता दिखायी देता है। अठारहवीं शताब्दी के अन्य उपन्यासकारों की तरह वह भी समाज का व्यापक चित्र प्रस्तुत करने का लक्ष्य सामने रखता है, पर वह इसके लिए किसी यायावर नायक की कल्पना करने की जरूरत नहीं समझता। वह अपने उद्देश्य के लिए सामाजिक जीवन के विभिन्न वर्गों से कुछ पात्रों को चुन लेता है,

जो विभिन्न स्थानों पर मिलते हैं, सामाजिक पैमाने पर जिनका उत्थान या पतन होता है, जो आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, चाटुकारी या समझौता करते हैं, और ज्यों-ज्यों उनके जीवन के सम्बन्धों की जटिलता सामने आती है त्यों-त्यों पात्रों की संख्या भी बढ़ती जाती है और एक ऐसी स्थिति आती है जबकि वे सारे समाज को घेर लेते हैं। वैनिटी फेयर में निरन्तर बढ़ते हुए सामाजिक सम्बन्ध सम्पुंजित होते जाते हैं जिनका क्रमशः उद्घाटन ही घटनाओं को जन्म देता है। वैनिटी फेयर में भी टॉम जॉन्स की तरह ही अनेक श्रेणियों के चरित्र हैं, जीवन का वैसा ही व्यापक चित्रण है, पर यह चित्र अपने आप उभरता है। वैनिटी फेयर के पाठक की यात्रा इसी समाज से आरम्भ होती है। इसका कथानक ऐसी घटनाओं की शृंखला है, जो चित्र को व्यापक और वैविध्यपूर्ण बनाती है तथा पात्रों को विभिन्न सम्बन्धों में नियोजित करती हैं। ये घटनाएँ कभी नितान्त साधारणजैसे कोई रात्रि-भोज, कोई रंगशाला, कोई सामान्य गोष्ठी और कभी बहुत महत्वपूर्णजैसे कोई प्रेम-व्यापार, कोई द्वन्द्वयुद्ध या मृत्यु हो सकती हैं; उनसे हमारी माँग केवल यह होती है कि वे यथासम्भव स्वाभाविक होंइतनी स्वाभाविक कि 'कथानक' की तरह न प्रतीत हों।

अंग्रेजी साहित्य में एक प्रकार के उपन्यास पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं, जिन्हें 'नाटकीय उपन्यास' की संज्ञा दी जाती है। जेन ऑस्टिन के अधिकतर उपन्यास इसी श्रेणी में आते हैं। हिन्दी में मन्नू भंडारी के महाभोज को छोड़कर नाटकीय उपन्यास का कोई दूसरा श्रेष्ठ उदाहरण कदाचित् नहीं है। नाटकीय उपन्यास में कथानक और चरित्र के बीच की दूरी बिलकुल समाप्त हो जाती है। पात्र कथानक-तन्त्र के पुर्जे नहीं होते, न ही कथानक चरित्रों को बाँधनेवाला एक चौखटा मात्र होता है। इसके विपरीत दोनो अविच्छेद्य रूप में एक दूसरे से गुँथे होते हैं। पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ कार्यव्यापार को निर्धारित करती है और दूसरी तरफ कार्य-व्यापार पात्रों को उत्तरोत्तर बदलता चलता है और इस तरह पात्र और कार्य-व्यापार दोनो एक 'अन्त' की ओर अग्रसर होते चलते हैं

नाटकीय उपन्यास किसी एक वर्गविशेष तक, किसी एक जीवन-पद्धति या क्रिया-व्यापार तक सीमित होता है, जिसके फलस्वरूप कथा-संसार में सघनता उत्पन्न हो जाती है। यह सघनता या तीव्रीकरण नाटकीय उपन्यास का अनिवार्य गुण है। नाटकीय उपन्यास की दूसरी विशेषता यह होती है कि उसके पात्र केवल हमारा मनोरंजन नहीं करते, जैसा फील्डिंग, स्मॉलेट, स्कॉट या हिन्दी के खत्री जी के उपन्यासों में होता है। वे घटनाओं को प्रभावित करते हैं, समस्याओं को जन्म देते हैं और आगे चल कर उन्हें विभिन्न परिस्थितियों में विलीन कर देते हैं। जेन ऑस्टिन के प्राइड एंड प्रेजुडिस में जब एलिजाबेथ और डार्सी प्रथम बार मिलते हैं तो तत्काल उनकी दूसरी मुलाकात का समय निर्धारित हो जाता है। उनके बीच के बदलते हुए तनाव और अन्य पात्रों के यदा-कदा हस्तक्षेप से कार्य-व्यापार अग्रसर होता है। नाटकीय उपन्यास में पात्रों और उनके समस्त क्रियाकलापों के सन्तुलन से कथानक का निर्माण और गठन होता है। यहाँ कोई बाहरी ढाँचा, कोई यन्त्रवत् कथानक नहीं होता। पात्र और उनके कार्य-व्यापार ही सारे उपन्यास को निर्मित और परिचालित करते हैं। मन्नू भंडारी के महाभोज के शुरू होते ही बिसू की लाश एक पुलिया पर पड़ी मिलती है। पाठक की जिज्ञासा पहले ही वाक्य से अपनी तीव्रता पर पहुँच जाती है। इसके बाद पुलिस आती है, पत्रकार आते हैं, विधानसभा में राजनीतिक दलों के नेताओं के बीच आलोचना-प्रत्यालोचना होती है; फिर विभिन्न दलों के नेताओं के बीच सद्यःप्रस्तावित चुनाव के लिए इस हत्या का राजनीतिक लाभ उठाने की होड़ मच जाती है, राजनीतिक दाँव-पेंच शुरू हो जाते हैं, समाज का कमजोर वर्ग अपने अधिकारों के लिए सन्नद्ध

होता है, पर सामन्त वर्ग और पुलिस तथा राजनीति-व्यवसायियों की मिलीभगत से उनकी पराजय होती है और अन्ततः 'महाभोज' की स्थिति आती है, जबकि उनकी लाश मर मँडराते गिद्धों का जश्न उनकी सारी विभीषिका के साथ प्रस्तुत होता है।

कठोर आन्तरिक कार्य-कारण सम्बन्ध के चलते यह कथानक घटना-प्रधान उपन्यास के कथानक से सर्वथा मिल है। बिसू की लाश के इर्द-गिर्द उपस्थित ग्रामीणों का मूक आक्रोश, पत्रकारों की ग्रामीणों के प्रति कृत्रिम सहानुभूति और विधानसभा में इस हत्या के नाम पर होनेवाली धिनौनी राजनीति सब एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं और समकालीन सच्चाई को व्यंग्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हैं। इस घटना से जुड़े हुए अनेक पात्र अचानक रंगमंच पर उपस्थित हो जाते हैं और उनके आचरण से नयी-नयी घटनाएँ जिन्हें किंचित विशिष्ट कार्यव्यापार कहा जा सकता है उत्पन्न होने लगती हैं। घटनाएँ कभी पात्रों पर हावी नहीं होतीं, बल्कि पात्र ही घटनाओं का नियमन करते हैं। वह चाहे दा साहब हों या सुकुल जी, अप्पा साहब हों या लोचन भैया, बिसू हो या बिन्दा सभी अपने प्रति हमेशा ईमानदार बने रहते हैं। उनकी स्थिरता ही घटनाओं को गतिशील बनाए रखती है और इन्हीं के माध्यम से वे अपने को व्यक्त करते हैं।

प्राइड एंड प्रेजुडिस और महाभोज जैसे नाटकीय उपन्यासों में घटनाओं और पात्रों के बीच अद्भुत सामंजस्य होता है। परिस्थितियों के परिवर्तन में पात्रों का परिवर्तन-निहित होता है और प्रत्येक परिवर्तन, चाहे वह नाटकीय हो या मनोवैज्ञानिक, बाहरी हो या भीतरी, दोनों से जुड़ा होता है। इस दृष्टि से नाटकीय उपन्यास घटनाप्रधान उपन्यास और चरित्रप्रधान उपन्यास दोनो से भिन्न होता है। अन्तिम दोनो में ही कथानक और चरित्र के बीच एक तरह का पार्थक्य रहता है, जबकि नाटकीय उपन्यास में यह पार्थक्य बिलकुल समाप्त हो जाता है। नाटकीय उपन्यास में प्लॉट उसकी उपलब्धि का अंग होता है। चरित्रप्रधान उपन्यास का भी अपना महत्त्व होता है। पर नाटकीय उपन्यास का कथानक उसे प्रभावशाली बनाने में आश्चर्यजनक रूप से समर्थ होता है। कथानक में कुछ भी छूटता नहीं, कुछ भी ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं कर लिया जाता। उसका विकास स्वाभाविक और तर्कसंगत होता है। पात्र परिवर्तित होते हैं और परिवर्तन नयी सम्भावनाओं को जन्म देता है। महाभोज में लोचन भैया, पुलिस अधीक्षक सिन्हा और रुक्मा का परिवर्तन स्वतःप्रसूत और नयी सम्भावनाओं का संकेत करता है। यही स्वतःप्रसूत और प्रगामी तर्क नाटकीय उपन्यास के कथानक को वैशिष्ट्य प्रदान करता है। प्रारम्भ में जो अपरिवर्तनीय तथ्य होते हैं, उन्हीं से सबकुछ निःसृत होता है, पर साथ ही समस्या की शर्तें बदल जाती हैं और उनसे अप्रत्याशित परिणाम निकलते हैं।

नाटकीय उपन्यास में कार्य-व्यापार की रूपरेखा तो पहले से जरूर बनी रहती है, पर उसमें जिन्दगी सतत रूप में प्रवाहित होती रहती है और कथानक को मोड़ती और उसकी परिरेखाओं को काटती रहती है। जिन उपन्यासों में जिन्दगी के प्रवाह की उपेक्षा कर स्थितियों का किसी बँधे-बँधाए तर्क से निर्माण किया जाता है उनमें पात्रों के यथार्थ होने पर भी परिणाम यान्त्रिक हो जाता है। हार्डी के उपन्यासों तक में यह दोष, यद्यपि कम मात्रा में, दिखायी देता है। ई. एम. फोर्स्टर के अनुसार इनमें पात्रों को कार्य व्यापार के प्रत्येक मोड़ पर अपने स्वभाव के विरुद्ध कार्य करते देखा जा सकता है या उन्हें नियति के प्रवाह में इस तरह बह जाना पड़ता है कि पाठक का यथार्थ-बोध खंडित हो जाता है। हार्डी कथानक को प्रधानता देता है और पात्रों को उसके अनुरूप अपने को बदलना पड़ता है।

यदि हम जेन ऑस्टिन और थैकरे के उपन्यासों में आये दृश्यों की तुलना करें तो यह

स्पष्ट दिखायी देगा कि जेन ऑस्टिन के दृश्य आगे आनेवाले दृश्यों की शृंखला की अनिवार्य कड़ी होते हैं, जबकि थैकरे के दृश्य, एक अर्थ में, स्वयं में पूर्ण होते हैं। थैकरे के पात्रों से हम तत्काल और पूरी तरह से परिचित हो जाते हैं, क्योंकि आरम्भ में ही वे प्रारूपिक ढंग से व्यवहार करते हैं और बाद में भी वे लगभग उसी रूप में बने रहते हैं। इसके विपरीत जेन ऑस्टिन के पात्रों, उदाहरण के लिए एलिजाबेथ और डार्ली, को हम तब तक पूर्ण रूप से नहीं जान पाते जब तक कार्य-व्यापार उन्हें पूरी तरह से खोल कर नहीं रख देता। मन्नु भंडारी के पात्रों को भी हम तभी पूरी तरह से जान पाते हैं जब उनके कार्य-व्यापार पूरी तरह से सामने आ जाते हैं। दा साहब और सुकुल जी के चरित्र इसके उदाहरण हैं। एमिली ब्रॉन्टी जब किसी दृश्य को प्रस्तुत करती हैं तो उसमें उसके पात्रों के जीवन का पूरा विस्तारवे पहले जो कुछ भी रहे हैं या उन्हें भविष्य में जो कुछ होना है स्वतः निहित होता है। कथानक आरम्भ से ही उसके मस्तिष्क में एक सम्पूर्ण पैटर्न के रूप में विद्यमान रहता है और पात्र वहाँ पहले से उपस्थित होते हैं अपने अपरिवर्तनीय रूप में नहीं बल्कि अपनी सम्पूर्ण गतिमयता में। दूसरी तरफ थैकरे के पात्र, जो निरन्तर पूर्ण और सदा एक समान होते हैं, किसी गम्भीर तनाव में नहीं जीते। नाटकीय पात्रों में यह तनाव होता है। नाटकीय उपन्यास का अन्त असाधारण रूप से महत्वपूर्ण होता है। महाभोज में इसे देखा जा सकता है। वह केवल कहानी को पूरा करने का प्रयास नहीं होता, वरन् अन्तिम ज्योति होता है। यह केवल कार्य-व्यापार का अन्त नहीं होता, वरन् चरित्र का अन्त होता है। यह अन्तिम स्पर्श होता है जो पात्रों के चरित्रोद्घाटन को पूर्णता प्रदान करता है। चरित्रप्रधान उपन्यास के पात्र जो निरन्तर पूर्णता की स्थिति में होते हैं इस अन्तिम स्पर्श की अपेक्षा नहीं रखते।

नाटकीय उपन्यास किसी सीमित दृश्य या जीवन के किसी एक पक्ष से बँधा होता है। प्रायः सभी नाटकीय उपन्यासों में, वे चाहे हार्डी या एमिली ब्रॉन्टी के उपन्यास हों या मन्नु भंडारी के, कार्य-व्यापार का क्षेत्र संकेन्द्रित होता है। इसका कारण स्पष्ट है। नाटकीय उपन्यास में जिस संघर्ष का चित्रण होता है वह किसी बन्द क्षेत्र में ही उत्पन्न, विकसित और समाप्त हो सकता है। यहाँ दृश्य ऐसा ढाँचा होता है जिसके भीतर कार्य-व्यापार का तर्क कितना किसी बाधा के विकसित हो सकता है।

निष्कर्ष के तौर पर कह सकते हैं कि चरित्र-प्रधान उपन्यास का कथानक विस्तार युक्त होता है, जबकि नाटकीय उपन्यास का कथानक प्रगाढ़ और गठित होता है। चरित्र-प्रधान उपन्यास का कार्य-व्यापार, जो चाहे किसी पात्र से आरम्भ हो जैसे (रोडरिक रैंडम में) या किसी नाभिक से (जैसे वैनिटी फेयर में) परिधि की ओर, जो समाज का बिम्ब होता है, अग्रसर होता है। इसके विपरीत नाटकीय उपन्यास का कार्य-व्यापार कभी भी किसी एक पात्र से आरम्भ नहीं होता वह दो या अधिक पात्रों से आरम्भ होता है। वह परिधि के कई बिन्दुओं से आरम्भ होता है और केन्द्र की ओर, किसी एक कार्य-व्यापार की ओर, अग्रसर होता है, जिसमें अन्य सभी कार्य-व्यापार समाहित होते हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यास के पात्र कभी भी बहुत नहीं बदलते और बदलते हुए दृश्यों और समाज की विविध जीवन-पद्धतियों के बीच से गुजरते हैं। नाटकीय उपन्यास बिना परिवेश में कोई परिवर्तन किये पात्रों के माध्यम से ही मानव अनुभव का संसार प्रस्तुत कर देता है। चरित्र-प्रधान उपन्यास में पात्र परिवर्तन रहित होते हैं, जबकि दृश्य परिवर्तनयुक्त होता है। नाटकीय उपन्यास में दृश्य ज्यों का त्यों रहता है, जबकि पात्र परस्पर घात-प्रतिघात से परिवर्तित होते रहते हैं।

इस विवेचन से यह भ्रम होने की आशंका है कि चरित्र-प्रधान और नाटकीय उपन्यास



एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष होते हैं। पर वस्तुतः न तो ऐसे उपन्यास होते हैं जो शुद्ध रूप में चरित्र-प्रधान हों न ऐसे उपन्यास जो केवल संघर्षपूर्ण अर्थात् नाटकीय हों। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि कुछ उपन्यासों में चरित्र को और कछ उपन्यासों में नाटकीयता को प्रमुखता प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यास वुडरिंग हाइट्स का ढाँचा नाटकीय है, यद्यपि उसमें कुछ ऐसे पात्र हैं, जैसे बूढ़ा जोसेफ और श्रीमती डीन, जो कभी भी बदलते हुए दृश्यों अथवा परिवर्तमान सामाजिक स्थितियों के साथ बहुत अधिक नहीं बदलते। नाटकीय उपन्यास में दृश्ययोजना अपरिवर्तित रहती है, पर पात्रों में मानवीय अनुभवों की व्यापकता दिखायी पड़ती है। चरित्रप्रधान उपन्यास में पात्र अपरिवर्तनीय और दृश्य परिवर्तनशील होते हैं। नाटकीय उपन्यास में दृश्य प्रायः परिवर्तन रहित होता है पर पात्र परस्पर द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध में बदल जाते हैं। वैनिटी फेयर का ढाँचा नाटकीय नहीं है, यद्यपि उसमें कुछ तीव्र नाटकीय दृश्य हैं; उदाहरण के लिए राउडन क्राउली का मार्किव्स ऑफ स्ट्राइन के साथ कलह। गोदान का ढाँचा भी नाटकीय नहीं है, पर उसके प्रथम पृष्ठ में ही होरी और धनिया का प्रणय कलह पर्याप्त नाटकीय है। इस बात को मान लेने पर 'नाटकीय' और 'चरित्रप्रधान' उपन्यासों के सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि नाटकीय उपन्यास का काल्पनिक संसार कालप्रधान होता है, जबकि चरित्रप्रधान उपन्यास का दिक् प्रधान। नाटकीय उपन्यास में 'दिक्' कमोवेश पूर्वनिर्धारित होता है और कार्य-व्यापार काल में अवस्थित होता है, जबकि चरित्र-प्रधान उपन्यास में 'काल' मान लिया गया होता है और कार्य-व्यापार एक स्थिर पैटर्न के रूप में दिक् में फैला होता है। चरित्र-प्रधान उपन्यास में कथानक की स्थिरता और परिधि मुख्य होती है, जबकि नाटकीय उपन्यास में कार्य-व्यापार का संक्रमण और समाधान महत्त्वपूर्ण होता है। यह भी कहा जा सकता है कि चरित्र-प्रधान उपन्यास का महत्त्व समष्टि-दृष्टि से है, जबकि नाटकीय उपन्यास का महत्त्व व्यक्ति-दृष्टि से। एक तरफ हम पात्रों को एक विशेष समाज में गतिशील देखते हैं, दूसरी तरफ हम उन्हें एक विशेष 'आरम्भ' से एक विशेष 'अन्त' की ओर गतिमान पाते हैं। पर उपन्यास के ये दो प्रकार न तो एक-दूसरे के उलट हैं न किसी महत्त्वपूर्ण अर्थ में एक दूसरे के पूरक। वस्तुतः वे जीवन को देखने की दो विधियाँ हैं, व्यक्तिगत दृष्टि से काल में और सामाजिक दृष्टि से दिक् में।

यहाँ एक सवाल उठ सकता है कि कोई कहानी किस प्रकार केवल दिक् में स्थापित हो सकती है, क्योंकि कथा के घटित होने में कुछ न कुछ समय तो लगेगा ही। वस्तुतः जब हम यह कहते हैं कि कोई कथानक दिक् प्रधान है तो इसका यह तात्पर्य नहीं होता कि उसमें काल-प्रवाह है ही नहीं। इसी प्रकार यदि कोई उपन्यास कालप्रधान है तो इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें दिक् या स्पेस नहीं है। यहाँ भी किसी एक तत्त्व की प्रमुखता ही द्योतित होती है। एक में हम विस्तृत दिक् में ढीले-ढाले रूप में बना हुआ पैटर्न पाते हैं और दूसरे में सीमित दिक् या स्पेस में कार्य-कारण सम्बन्ध की तर्क शृंखला से युक्त गड़िन पैटर्न। सामान्य रूप से नाटकीय उपन्यास में दिक् का ग्रंथन अस्पष्ट और यादृच्छिक होता है। महाभोज में 'सरोहा' गाँव और वहाँ के पुलिस थाने की भौगोलिक स्थिति बहुत अस्पष्ट है। उसमें आये 'शहर' का तो कहीं नाम ही नहीं लिया गया है और वह भारत के किस राज्य की राजधानी है, इसका पता अन्त-अन्त तक नहीं चलता। उपन्यास में कार्य-व्यापार के स्थान को स्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान करने में उपन्यासकार की कोई रुचि नहीं जान पड़ती। चरित्रप्रधान उपन्यासों में निर्दिष्ट स्थानों की अवस्थिति उस समय के वास्तविक भूगोल के अनुरूप होती है और उपन्यासकार उस स्थान के सूक्ष्म से सूक्ष्म और पुष्कल विवरणों से दिक् को यथार्थ और विश्वसनीय बनाने का प्रयास

करता है। अंग्रेजी के टॉम जोन्स, वैनिटी फेयर आदि तथा हिन्दी के मैला आँचल, बूँद और समुद्र, सोनामाटी, कथासतीसर आदि उपन्यासों में स्थान की चेतना प्रमुख है। इसके बरक्स वुदरिंग हाइट्स, द रिटर्न ऑफ द नेटिव, महाभोज और यहाँ तक कि गोदान में हम केवल यॉर्कशायर, दलदल, एडगन हीथ या 'सरोहा' और सेमरी-बेलारी तथा लखनऊ का ही यत्किंचित् उल्लेख पाते हैं।

नाटकीय उपन्यास में किसी दृश्य का चाक्षुष प्रत्यक्षीकरण बहुत तीव्र रूप में होता है। महाभोज में दा साहब या सुकुल बाबू की सभाओं के दृश्य हों या सरोहा थाने में ग्रामीणों से एस. पी. के बयान लेने का दृश्य (इस प्रकार के दृश्य महाभोज में भरे पड़े हैं) सभी स्पष्ट और जीवन्त साक्षुष बिम्बों के रूप में हमारी चेतना को ग्रसित कर लेनेवाले हैं। स्पेस यहाँ सामान्य और सार्वकालिक है। हार्डी के उपन्यासों में भी हम ऐसा ही पाते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि नाटकीय उपन्यासों में प्रस्तुत दृश्य पात्रों के भावावेगों से रंजित हो जाते हैं। जब हम थैकरे के पात्रों को याद करते हैं तो हम उन्हें अपने समय की पृष्ठभूमि और वेशभूषा में ही देखते हैं। उनकी वेशभूषा, उनके निवास-स्थान उनके रीतिरिवाज सब उनके यथार्थ के अंग हैं। थैकरे जैसे चरित्रप्रधान उपन्यासकार सिद्ध करते हैं कि मानव जीवन, यह संसार स्वयं में वैविध्यपूर्ण और रोचक है और उसे उसी रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

चरित्र-प्रधान और नाटकीय उपन्यासों में काल-बोध का अन्तर भी महत्त्व रखता है। चरित्रप्रधान उपन्यास में कालबोध घिसटता और नाटकीय उपन्यास में उड़ता प्रतीत होता है। यदि हम वैनिटी फेयर के प्रथम परिच्छेद में बेकी शार्प की बातों पर ध्यान दें और उसके साथ ही अन्तिम परिच्छेद को पढ़ें तो हमें एक विचित्र प्रकार का अनुभव होगा। हम जानते हैं कि इस बीच बहुत सारी घटनाएँ घट चुकी हैं और अनेक वर्ष बीत चुके हैं। पर ऐसा लगता है जैसे समय उसी स्थान पर ठहरा हुआ है। वैनिटी फेयर के अन्तिम परिच्छेदों में बेकी पहले की तरह ही वाचाल बनी रहती है। इसके बरक्स हम जुड़ा वुदरिंग हाइट्स के उस अंश को देखें जिसमें कैथरीन अर्नशाँ पहली बार हमारे सामने आती है। तत्पश्चात् हम हथिक्लिफ के साथ उसके साक्षात्कार पर दृष्टि डालें। यहाँ ऐसा लगता है कि इन दोनों प्रसंगों के बीच बहुत कुछ असामान्य घटित हो गया है समय मानो किसी भौतिक प्रक्रिया की तरह कैथरीन के चरित्र से गुजर गया है और उसे पहचानना मुश्किल हो गया है। यह कसौटी किसी भी नाटकीय रूप में प्रकल्पित पात्र के साथ लागू की जा सकती है। भगवतीचरण वर्मा के चित्रलेखा के प्रमुख पात्र या रेखा की केन्द्रीय पात्र रेखा के बारे में भी यही कहा जा सकता है। नदी के द्वीप की रेखा के सम्बन्ध में भी यह बात देखी जा सकती है। नाटकीय उपन्यास में समय का 'निहायत जरूरीपन' उसकी अनिवार्य विशेषता के रूप में विद्यमान होता है। उसमें दृश्यों का एक निश्चित अन्त पूर्वकल्पित होता है। हमें इस बात का पहले से ही पता होता है कि कुछ निश्चित घटित होगा, जो पाठक के लिए भावी काल को सुस्पष्ट तथा जीवन्त बनाता है। महाभोज के प्रारम्भ में हमें अन्त का एक अस्पष्ट बोध रहता है हमें लगता है कि कि अन्त में कोई 'महाभोज' होगा। 'लावारिस लाश' को गिद्ध नोच-नोचकर खा जाते हैं' वाक्य से ही पाठक इस 'अन्त' का अनुमान कर लेता है। इस बीच जो कुछ भी घटित होता है, वह इस अन्त की तैयारी मात्र है। हार्डी के द रिटर्न ऑफ द नेटिव में भी हमें इस बात का संकेत मिल जाता है कि युस्टेसिया वाइ (Eustasia Vye) की महत्त्वाकांक्षा और आवेग उसे किसी असामान्य स्थिति की ओर ले जाएँगे। क्लिम इयोब्राइट के आगमन के साथ ही उसकी नियति आकार लेने लगती है और थोड़ी देर के लिए यह भी लगता है कि उसका जीवन सुखी होगा। तभी क्लिम का

अन्धापन और दुराग्रह सबकुछ बँटाधार कर देता है। कुछ देर बाद वह दृश्य आता है जिसमें मिसेज इयोब्राइट युस्टेसिया को देखने के लिए उजाड़ क्षेत्र की यात्रा करती है और उसे सुप्तावस्था में ही छोड़कर वापस लौटती है, पर वापसी यात्रा में उसकी मृत्यु हो जाती है। यही कहानी का मोड़ है; अन्त युस्टेसिया के निकट पहुँच जाता है और क्लिम के साथ उसका अन्तिम साक्षात्कार होता है। जिस क्षण की ओर वह निरन्तर अग्रसर होती रही है वह पहुँच जाता है। इस क्षण का ज्ञान पहले केवल युस्टेसिया के स्रष्टा को ही था अन्त में पहुँच कर इसका ज्ञान पाठक को भी हो जाता है।

विभिन्न नाटकीय उपन्यासों में कालबोध भिन्न-भिन्न हो सकता है। उदाहरण के लिए दोस्तोएव्स्की के दि इडियट में काल की अनुभूति हार्डी या एमिली ब्रॉन्टी के उपन्यासों से नितान्त भिन्न है। पर यह तय है कि नाटकीय उपन्यास में समय आगे बढ़ता है और अपनी अन्तिम परिणति पर पहुँच कर समाप्त हो जाता है। चरित्रप्रधान उपन्यास में समय असमान्य सा प्रतीत होता है। पात्र काल और परिवर्तन से परे मालूम पड़ते हैं। नाटकीय उपन्यास में पात्र काल और परिवर्तन से स्वयं को मुक्त नहीं रख सकते। किसी भी चरित्रप्रधान उपन्यास में समय बिलकुल स्थावर नहीं होता, पर समय की गति जितनी मन्द होती है, काल जितना उपेक्षित होता है, पात्रों के आविर्भाव और प्रकटीकरण के लिए वह उतना ही अनुकूल होता है।

यहाँ हम फिर दुहराना चाहेंगे कि नाटकीय और चरित्रप्रधान उपन्यासों के कथासारों को अलग-अलग मुहरबन्द डिब्बों की तरह नहीं देखा जा सकता। नाटकीय उपन्यासों में चरित्रप्रधान उपन्यासों से भटके हुए यात्री देखे जा सकते हैं, ठीक इसी तरह चरित्रप्रधान उपन्यासों में भी नाटकीय दृश्य रहते हैं। महाभोज यद्यपि नाटकीय उपन्यास है, पर दा साहब और सुकुल बाबू के चरित्र अपरिवर्तनीय हैं। शेखर : एक जीवनी चरित्र प्रधान उपन्यास है, पर उसमें अनेक नाटकीय दृश्य हैं। बूँद और समुद्र भी चरित्रप्रधान उपन्यास ही कहा जाएगा, पर उसमें जीवन्त दृश्यों की कोई कमी नहीं है।

एक प्रकार के उपन्यास, जिन्हें अँग्रेजी के पुराने आलोचक 'क्रॉनिकल' की संज्ञा देते थे, हिन्दी में 'महावृत्त', 'महावृत्तान्त' या 'महाख्यान' कहे जा सकते हैं। केवल यह नहीं कि इनका आकार विशाल होता है, बल्कि इनकी कुछ विशिष्ट पहचान भी होती है। भारतीय साहित्य में इसका महानतम उदाहरण महाभारत है, जिसे नरेन्द्र कोहली ने हिन्दी में महासमर शीर्षक से उपन्यास के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यूरोपीय उपन्यासों में टालस्टॉय कृत युद्ध और शान्ति, डी.एच. लॉरेन्स कृत सन्स ऐंड लवर्स, जेम्स जायस कृत अ पोर्टेड ऑफ दि आर्टिस्ट ऐज ऐ यंग मैन आदि इस कोटि के उपन्यास माने जा सकते हैं। क्राम्प्टन मैकेंजी, वालपोल और बेरेसफोर्ट (Beresfort) आदि के उपन्यास भी इसी परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। हिन्दी में इस तरह के श्रेष्ठ उपन्यास यद्यपि कम हैं, पर प्रेमचन्द की रंगभूमि, भगवतीचरण वर्मा का भूले विसरे चित्र, यशपाल का झूठ-सच, अमृतलाल नागर का करवट पीढ़ियाँ, विवेकी राय का समर शेष है, चित्रा मुद्गल का आवाँ, चन्द्रकान्ता का कथा सतीसर आदि इसी कोटि के उपन्यास माने जाएँगे। इन सारे उपन्यासों के विश्वसनीय और योग्य प्रतिनिधि के रूप में महाभारत (महासमर) और युद्ध और शान्ति को निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

जैसा हम देख चुके हैं, नाटकीय उपन्यास में दिक् का बन्धन और काल की स्वतन्त्रता होती है, जबकि चरित्रप्रधान उपन्यास में काल की सीमा और दिक् की उन्मुक्तता होती है। इसका कारण यह है कि सीमित रंगमंच नाटकीय संघर्ष को तीव्रता और समय के सफर या

उसके तमाम होने को गति तथा महत्त्व प्रदान करता है। चरित्रप्रधान उपन्यास में पात्रों की अपरिवर्तनशीलता उनके सम्बन्धों को एक खास प्रकार का, या प्रारूपिक, बनाती है, जिससे सामाजिक जीवन बिम्बित होता है। यह अन्तर इन उपन्यास-प्रकारों की रूपात्मक सीमाओं के औचित्य को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ये 'सीमाएँ' जो चरित्रप्रधान और नाटकीय उपन्यासों को बाँधती हैं, सही अर्थ में सीमाएँ न होकर उनकी विश्वजनीनता की शर्तें हैं। 'महावृत्तात्मक' उपन्यास के श्रेष्ठ प्रतिनिधि महाभारत तथा युद्ध और शान्ति की अन्यतम विशेषता यह है कि उनमें जीवन का काल और दिक् दोनो दृष्टियों से सर्वतोव्यापी चित्र प्रस्तुत किया गया है और इसके बावजूद वे विश्वजनीनता से सम्पन्न हैं।

महाभारत में दिक् और काल दोनो का प्रसार अद्भुत रूप से असाधारण है, और उनकी प्रस्तुति में कथाकार की प्रतिमा और कल्पना-शक्ति का औदात्य देखा जा सकता है। काल इस महाख्यान में एक नियामक तत्त्व के रूप में विद्यमान है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो उसी के इशारे पर सारी घटनाएँ घटित हो रही हैं। सारा कार्य-व्यापार काल में ही घटित होता है। पर लक्ष्य करने की बात यह है कि इसमें समय की गति कार्य-व्यापार की तीव्रता द्वारा निर्धारित नहीं होती। इसमें समय पात्रों की पहुँच के बाहर तथा उनसे अप्रभावित है। इसके पात्र जन्म लेते हैं, किशोर और युवा, फिर प्रौढ़ और वृद्ध होते हैं और काल उन्हें अपने इच्छानुसार निगल लेता है। महाभारत या महासमर में पात्र, चाहे वह शान्तनु हो या भीष्म, दुर्योधन हो या युधिष्ठिर, कर्ण हो या धृतराष्ट्र अपनी पीड़ा को सही रूप में तब समझते हैं जब जीवन पर से उनकी पकड़ समाप्त हो जाती है। समय पर पात्रों की कोई पकड़ नहीं है। इसमें समय मानवीय घटनाओं द्वारा निर्देशित नहीं होता न ही उसे घटनाओं द्वारा मापा जा सकता है। वह वहाँ पहले से उपस्थित है और कथा की समाप्ति के बाद भी अपरिवर्तित रूप में विद्यमान है। धर्म और अधर्म, न्याय और अन्याय, युद्ध और शान्ति, यही कथा का आकल्पन है, और यही कथाकार के अनुसार जीवन का शाश्वत रूप है। महाभारतकार अपनी कथा में कुछ ही पीढ़ियों को प्रस्तुत करता है, पर उससे ध्वनि यह निकलती है कि यह जीवन का शाश्वत सत्य है।

जहाँ तक दिक् का प्रश्न है महाभारत में राजदरबार, रंगशाला, वन-पर्वत, स्वयंवर-स्थल, यज्ञभूमि, युद्धभूमि आदि के चित्रण इस प्रकार किये गये हैं मानो कथाकार को कोई जल्दी नहीं है, पर वे पात्रों की तरह ही परिवर्तनशील हैं। हस्तिनापुर का राजदरबार वही नहीं है, जो इन्द्रप्रस्थ, पांचाल या विराट् नगर के राजदरबार हैं और ये राजदरबार भी पात्रों की नियति का नाटक प्रस्तुत करने के क्रम में बदल जाते हैं। इनमें योरोप के चरित्रप्रधान उपन्यासों की अपरिवर्तनीयता नहीं है। हस्तिनापुर का राजदरबार, जब वहाँ पांडवों और द्रौपदी की नियति निर्धारित होती है, वही नहीं है जब संजय धृतराष्ट्र को कुरुक्षेत्र का युद्ध दिखा रहा है। महाभारत में, जिसका उद्देश्य धर्म और अधर्म, आसक्ति और अनासक्ति, जड़ता और विवेक, युद्ध और शान्ति का चित्रण करना है, और जहाँ घटनाएँ एक के बाद एक, धक्कामुक्की करती हुई आती हैं, पृष्ठभूमि भी स्थिर नहीं हो सकती थी। महाभारत में मानव जीवन के महान् सत्य का अंकन किसी स्थिर समाज की पृष्ठभूमि में नहीं, वरन् सतत परिवर्तनशील मानव जीवन की पृष्ठभूमि में किया गया है।

मौलिक उपन्यास के रूप में टालस्टॉय का युद्ध और शान्ति महाख्यान का दूसरा महान् उदाहरण है, जिसमें दिक् और काल दोनो ही समान रूप से यथार्थ प्रतीत होते हैं, पर वास्तविकता यह है कि उसका कार्यव्यापार, परसी लुबॉक के अनुसार, 'काल और केवल काल में' घटित होता है। यह सच है कि युद्ध और शान्ति में भी, वैनिटी फेयर की ही तरह, रात्रिभोज, क्लब,

युद्ध-भूमि, राजमार्ग और जमींदारियाँ उसी प्रकार और उतनी ही स्पष्टता के साथ उभारे गये हैं कि वे पहचाने जा सकें, पर उनमें रसेल स्व्वायर और क्वीन्स क्राउली की तरह अपरिवर्तनीयता नहीं है। युद्ध और शान्ति के दृश्य-स्थल पात्रों की तरह ही परिवर्तित होते चलते हैं। आरम्भ में वे ऐसे स्थान मात्र हैं 'जहाँ लोग रहते हैं' पर बाद में वे ऐसे स्थान हो जाते हैं 'जहाँ कभी लोग रहते थे'। युद्ध और शान्ति में टालस्टॉय का उद्देश्य थैकरे की तरह समाज का स्थिर प्रस्तुतीकरण नहीं, जिसमें लोग एक विशेष प्रकार का आचरण करते हैं, बल्कि उसका लक्ष्य, पर्सी लुबॉक के शब्दों में "जन्म और मृत्यु, मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र का चित्रण" करना है। लुबॉक के अनुसार युद्ध और शान्ति के पात्र एक ऐसी कहानी का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो सदा और सर्वत्र एकसम रहती है। इस कहानी में 'काल' ही प्रधान है, पर वह नाटकीय उपन्यास की तुलना में अधिक सम और सन्तुलित है। नाटकीय उपन्यास में कोई एकल कार्य-व्यापार होता है, जो किसी स्थिर पृष्ठभूमि में घटित हो सकता है। पर युद्ध और शान्ति में, जहाँ कार्य-व्यापार, एक के बाद एक कभी न समाप्त होने वाली श्रृंखला के रूप में घटित होता है, पृष्ठभूमि तक परिवर्तनशील है। युद्ध और शान्ति में मानव जीवन नियति या स्थिर समाज की पृष्ठभूमि में नहीं, वरन् लगातार परिवर्तित होने वाली पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया गया है। यह एक साथ ही विशिष्ट और सामान्य दोनों है। नियति की कल्पना किये बिना, जो एक अमूर्त वस्तु है, नाटकीय उपन्यास की कल्पना की ही नहीं जा सकती। इसी प्रकार समाज की बात सोचे बिना, जो एक दूसरी अमूर्त वस्तु है, चरित्रप्रधान उपन्यास की बात नहीं सोची जा सकती। युद्ध और शान्ति में चित्रित जीवन को न तो नियति नियन्त्रित करती है, न समाज। इसका ढाँचा नाटकीय और चरित्रप्रधान, दोनों ही प्रकार के उपन्यासों की तुलना में अधिक ढीला-ढाला है। इसका कार्य-व्यापार प्रायः आकस्मिक होता है, पर बाद में पता चलता है कि सभी घटनाएँ एक पूर्णतः अनन्य संसार के भीतर घटित हो रही हैं। नाटकीय उपन्यास में 'काल' पात्रों के भीतर साकार और स्पष्ट होता है। इस कारण नाटकीय उपन्यास की गति मनोवैज्ञानिक कार्यव्यापार की तीव्रता या मन्दता द्वारा निर्धारित होती है। युद्ध और शान्ति में काल का सामान्यीकरण उतना स्पष्ट नहीं है; इसकी गति कार्य-व्यापार की तीव्रता द्वारा निर्धारित नहीं होती। इसके विपरीत इसमें एक ऐसी ठंडी नियमितता है जो पात्रों की पहुँच से बाहर तथा उनसे अप्रभावित है। युद्ध और शान्ति के पात्र वय में विकसित होते हैं और बुढ़ापे में पहुँच जाते हैं। ऐसा लगता है कि वे अपने सभी वयों में अन्य व्यक्तियों की तरह ही होंगे। जब हम कैथरीन और हथिक्लिफ में परिवर्तन की गति का अवलोकन करते हैं तो मालूम होता है कि उनमें काल नाटकीकृत हो गया है। वे एक विशेष दिशा में और खास कारणों से परिवर्तित होते हैं। दूसरी तरफ युद्ध और शान्ति में परिवर्तन मुख्यतः सामान्य है और उसका होना इस सामान्यता में ही निहित है। इसमें सभी पात्रों के वय को गणित के रूप में बढ़ाने कीअभी वे बीस वर्ष के हैं और फिर चालीस और पचास के हो जाएँगे' आवश्यकता' जैसी दिखायी पड़ती है। उपन्यासकार उनकी अभिलाषाओं और योजनाओं पर ध्यान दिये बिना उन्हें सम गति से परिवर्तित करता रहता है। युद्ध और शान्ति में नताशा, निकोलस और राजकुमार पीटर ऐसी पीड़ाओं से गुजरते हैं जिन्हें वे तब अनुभव करते हैं। जब उनका अन्तिम समय निकट होता है। टालस्टॉयीय काल उन्हें अनासक्त रूप से घसीट कर अन्तिम पड़ाव तक ले जाता है, मानो युवावस्था और अर्धवस्था के अनुभवों का कोई मूल्य ही नहीं। इस प्रकार कार्य-व्यापार मानवीय धरातल पर अवश्यम्भावी रूप में नहीं उभरता हम ऐसा नाटक नहीं देखते जो स्वयं में निहित हो और जिसका निर्माण उसके अपने परिणामों पर आधारित हो।

नाटकीय उपन्यास में, जैसा हम देख चुके हैं, चरित्रों का उद्घाटन काल द्वारा होता है। 'महावृत्त' में भी चरित्र का उद्घाटन काल द्वारा ही होता है, पर दूसरे प्रकार से। महावृत्तकार अपने पात्रों का चरित्र प्रस्तुत करते समय उनकी आयु की निश्चित प्रावस्थाओं-वयः सन्धि, किशोरावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था आदि-को निर्णायक मान कर चलता है। उसके लिए पूरा जीवन एक इकाई होता है और वय का प्रत्येक पड़ाव उसके चरित्र को उसके आरम्भ से दूर ले जाता है, अथवा उसके अन्त का अधिकाधिक निकट से दर्शन कराता है। नाटकीय उपन्यास में काल को नापनेवाली वस्तु अन्तिम नियति, उसका पूर्वज्ञान और निकट आगमन होता है, और जब नियति आ पहुँचती है तो काल समाप्त हो जाता है और समस्या का भी समाधान हो जाता है। महावृत्त में काल मानवीय घटनाओं द्वारा नहीं मापा जाता; वह वहाँ पहले से ही उपस्थित रहता है और कहानी के समाप्त हो जाने पर भी विद्यमान रहता है। जब हम युद्ध और शान्ति को समाप्त करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे काल कभी समाप्त ही न होनेवाला हो। पर्सि लुबॉक जोर देकर कहते हैं कि "जन्म और वृद्धि, मृत्यु और पुनर्जन्म का चक्र" यही कहानी का पैटर्न है और यही जीवन का भी पैटर्न है। टालस्टॉय के काल और जीवन का यह पैटर्न भारतीय अवधारणा के कितना निकट है, इसे लक्षित किया जा सकता है। इस प्रकार महावृत्त की समाप्ति पर एक अनुगूँज या प्रतिध्वनि निकलती है जो पहले से भी अधिक व्यापक विस्तार में सुनायी पड़ती है। टालस्टॉय कुछ ही पीढ़ियों का अंकन करता है, पर वह हमारी कल्पना में अनन्त पीढ़ियों के चक्र को उभार देता है। हम मानव जीवन को जन्म, वृद्धि और विनाश के रूप में सतत पुनरावृत्त प्रक्रिया के रूप में देखते हैं।

नाटकीय उपन्यास में काल आन्तरिक होता है। परिवर्तन, नियति और पात्र सभी एक कार्य-व्यापार में घनीभूत होते हैं, जिसकी नियताप्ति पर काल स्थिर प्रतीत होता है। दूसरी ओर महावृत्त में काल 'बाह्य' होता है; यह पात्रों के ऊपर से होकर गुजर जाता है। नाटकीय उपन्यास की तरह एक बिन्दु में सीमित होने की जगह महावृत्त में काल अनिश्चित रूप में फैला होता है जिसके अन्त का निर्धारण करना सम्भव नहीं होता। इसकी आवर्तक गति के विशाल चक्रवात में जो पात्र प्रगट और लुप्त होते हैं वे त्रासदियों के शिकार हो सकते हैं, पर उनका कोई समाधान नहीं होता और यदि समाधान होता भी है तो काल का अमित प्रसार उसके महत्त्व को कम कर देता है। नाटकीय उपन्यास का कथानक कठोर, तर्कपूर्ण विकास के रूप में होता है, जबकि महावृत्त का कथानक एक अनम्य संक्रमण के भीतर निबद्ध उपकथाओं की ढीली-ढाली शृंखला के रूप में। यह 'अनम्य संक्रमण' वह काल है तो स्वाभाविक रूप में मानव मस्तिष्क द्वारा संगणित होता है। यह ब्रह्मांडीय संक्रमण समस्त विशिष्ट घटनाओं को एक अलग मूल्य प्रदान कर देता है और अवश्यंभावी को दैवयोगिक तथा पूर्ण को सापेक्ष बना देता है। यह कथन महाभारत और युद्ध और शान्ति दोनों के लिए समान रूप से सच है।

वैविध्य के सृजन के लिए महावृत्तकार भी चरित्रप्रधान उपन्यास के लेखक की तरह कठोर कथानक से निगड़ित नहीं होता। वह किसी कार्य-व्यापार का निर्माण नहीं करता; वह एक चित्र को भर देता है जो आगे बढ़ने के साथ-साथ परिवर्तित होता जाता है। पात्र वही रहते हैं, पर उनकी रूपाकृति, उनके बालों का रंग, उनकी आवाज की लय, यहाँ तक कि उनके विचार और भावनाएँ आदि भी तब तक बदलते रहते हैं, जब तक अन्तिम परिवर्तन नहीं उपस्थित हो जाता। ये परिवर्तन नाटकीय उपन्यास की तरह निर्दिष्ट न होकर अप्रत्याशित होते हैं। वे चुपचाप और बिना किसी का ध्यान आकृष्ट किये घटित होते हैं और जब वे घटित हो जाते हैं तो कोई द्रौपदी या कुन्ती चौंक पड़ती हैं कि 'अरे, यह सब कैसे हो गया?' पात्रों को स्वयं

अपना किया हुआ काम भी आकस्मिक प्रतीत होता है। कथा के सामान्य प्रवाह में समय मौन रहता है और कार्य-व्यापार एक प्रवाहमान मूर्छना के रूप में अग्रसर होता है। नाटकीय उपन्यास में पात्र उसी समय मंच से प्रस्थान कर जाते हैं जिसे नियति ने पहले से ही निर्धारित कर रखा है। उसमें हम नियति को स्पष्ट रूप से उभरते हुए देखते हैं। इसके विपरीत महावृत्त में नियति रहस्य बनी रहती है और पात्र और उसके साथ हम भी, उसके अज्ञात विधान के समक्ष समर्पणमात्र कर सकते हैं। महाभारत में दुर्योधन, धृतराष्ट्र, गांधारी, कर्ण और युद्ध और शान्ति में नताशा, प्रिंस ऐन्ड्र्यू आदि की नियति ऐसी ही है। पर्सी लब्बॉक के अनुसार महावृत्तकार की नियति सम्बन्धी धारणा पूर्ववर्ती काल में प्रायः धार्मिक रही है, जो मानो किसी अदृश्य लोक से साहस, श्रम, सुख, दुःख, मृत्यु और शान्ति आदि लाकर बाँटती है, भय उत्पन्न करती है और स्वीकृति की माँग करती है। नाटकीय उपन्यासकार कार्य-व्यापार को कारण-कार्य की शृंखला के रूप में, जबकि महावृत्तकार उसे सर्वातिशायी विधि-विधान की पृष्ठभूमि में मानव घटना के रूप में देखता है। दोनों विभिन्न धरातलों पर विचरण करते हुए एक ही सत्य को अभिव्यक्त करते हैं।

(‘उपन्यास की संरचना’ नामक पुस्तक से)

### सन्दर्भ

1. नामवर सिंह 21 दिसम्बर, 2002 को त्रिवेणी कला संगम, दिल्ली में पाठकों से बातचीत में गोपाल राय के प्रश्नों का उत्तर देते हुए।
2. रोहिन्टन मिस्त्री, फेमिली मैटर्स, फेबर एंड फेबर लि. लन्दन, 2002

## उपन्यास की विकास यात्रा : रोमांस से सामाजिक यथार्थ तक

---

अजित कुमार

यूरोपीय कथा-साहित्य का प्रारम्भिक इतिहास बड़ा रोचक है। चौदहवीं शती तक 'रोमांस' उस आदर्शात्मक पद्यकथा को कहते थे जिसमें प्रेम अथवा रोमांच (adventure) का वर्णन होता था। ये कृतियाँ या तो फ्रेंच आदि रोमांस-भाषाओं से अनूदित होती थीं या 'क्लासिक' तथा अन्य ऐसे ही स्रोतों से ली जाती थीं।

दूसरी ओर, वास्तविक जीवन की दुरूहताओं और विषमताओं के आधार पर लिखी गई गद्य कथाओं को इस युग में 'नोवास' कहा गया। बौकैसियों तथा उनके समकालीनों ने इन्हें 'नावेला' कहा। वास्तविक कथावस्तु को लेकर ऐसी अनेक गल्प चौदहवीं शती में इंग्लैंड में लिखी गई जिन्हें 'टेल्स' कहा जाता था। चॉसर ने 'टेल्स' के अन्तर्गत अपने समय में प्रचलित विविध पद्य-कथाओं को भी लिया है।

बौकैसियों के दो शताब्दी बाद 'नावेले' की रचना पर्याप्त संख्या में होती रही। ऐलिजाबेथ-काल के अंग्रेजी साहित्य में उन कथाओं को 'नावेल' नाम दिया गया, जो एक तो अनुवाद या अनुकरण समझी जाती थीं और दूसरे जिनका घटना-चक्र तथा निरूपण 'नया' समझा जाता था। फिर भी ऐलिजाबेथकालीन कई साहित्यकार 'नावेल' के स्थान पर 'हिस्ट्री' शब्द का प्रयोग करना अधिक उचित समझते थे जैसा शेक्सपीयर के 'हैमलैट' और 'रोमियो-जूलियट' आदि नाटकों के शीर्षकों और रिचर्डसन तथा फील्डिंग के उपन्यासों से प्रकट है। इस प्रकृति से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उन दिनों 'वास्तविकता' के प्रति एक ऐसीकल्पित ही सही निष्ठा का पालन किया जाता था कि 'कथा' को 'इतिहास' का नाम लेखक सहर्ष दे देते थे।

जब प्रिन्टिंग प्रेस का आविष्कार हुआ तो 'रोमांस' शब्द का प्रचलन लगभग बिल्कुल समाप्त हो गया, किन्तु अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में जब इनका पुनः उदय हुआ तो 'उपन्यास' और 'रोमांस' का अन्तर स्पष्ट करते हुए क्लेरा रीव ने लिखा : "उपन्यास यथार्थ जीवन और व्यवहार तथा उस काल का जिसमें वह लिखा गया है, एक चित्र है। रोमांस उदात्त और उन्नत



भाषा में उन सबका वर्णन करता है जो प्रतिदिन हमारे सम्मुख होती रहती हैं, जो हमारे या मित्रों के अनुभव की हैं। उपन्यास की पूर्णता इसी में है कि वह प्रत्येक दृश्य का अंकन ऐसे सरल और स्वाभाविक रूप में करे कि वह पूर्णतः संभाव्य हो जाय। और हमें (कम-से-कम उपन्यास पढ़ते समय) यथार्थ की प्रतीति या भ्रम होने लगे। हम सोचने लगे कि उपन्यास के पात्रों के सुख-दुःख मानो हमारे सुख-दुःख हैं।”<sup>1</sup>

क्लेरा रीव के विभाजन को और अधिक स्पष्ट करते हुए क्रॉस ने लिखा है कि ‘वास्तविक जीवन का यथार्थवादी विधि से अंकन करने वाला गद्य-कथा-साहित्य सामान्य रूप से आलोचना एवं अन्य चर्चाओं में ‘उपन्यास’ कहा जाता है और जीवन का अयथार्थ एवं अतिरेक विधि से अंकन करने वाला, जीवन को अद्भुत, असम्भाव्य या असम्भव रोमांचकों के फलक पर चित्रित करने वाला, मानव-प्रकृति में निहित गुणों अवगुणों में आदर्श की स्थापना करने वाला गद्य-कथा साहित्य ‘रोमांस’ कहा गया है।”<sup>2</sup>

प्रायः चालीस वर्ष बाद लिखी गई एक पुस्तिका में हम उपन्यास और उसके यथार्थवादी स्वरूप की कहीं अधिक संगत व्याख्या पाते हैं। राल्फ फॉक्स लिखते हैं ‘उपन्यास गद्य में लिखी गई कथा-मात्र नहीं है; वह मनुष्य के जीवन का गद्य है। उपन्यास वह प्रथम कलारूप है जो समग्र मनुष्य को समझने और अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। ...यथार्थ की एक दूसरी ही दृष्टि उपन्यास प्रस्तुत करता है। काव्य, नाटक, सिनेमा, चित्रकला या संगीत द्वारा प्रस्तुत यथार्थ से निश्चय ही उपन्यास का यथार्थ भिन्न है। ये सब यथार्थ के उन पहलुओं को भले ही अभिव्यक्त कर सकें जो उपन्यास की पहुँच के बाहर हैं, परन्तु किसी एक पुरुष, स्त्री या बच्चे का सम्पूर्ण जीवन भली प्रकार अंकित कर सकने में इनमें से कोई भी समर्थ नहीं है।”<sup>3</sup>

उपन्यासों के ऐतिहासिक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए रॉल्फ फॉक्स ने बताया है कि उपन्यास बूर्जुवा संस्कृति की विशेष रचना ही नहीं, उसकी महानतम रचना भी है। रेनेसाँ के पूर्व उपन्यास अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में मिलता है। वहाँ रेनेसाँ के बाद ही आधुनिक बूर्जुवा सभ्यता उदित होती है और उपन्यास कला को निरन्तर विकसित करती है। उपन्यास ने भी प्रत्येक अन्य कलारूप की भाँति मानव-चेतना को विशद और गम्भीर बनाया है। उसके प्रति हमारे मन में सहज मोह है। इसलिए जब हम देखते हैं कि महाकाव्यों का अन्त प्राचीन सभ्यता के अन्त के साथ हो गया तो यह शंका होती कि क्या हमारी सम्यता के हास के साथ उपन्यासों हास हो जायेगा?

इस शंका को निर्मूल तभी माना जा सकता है जब प्राचीन सभ्यता के प्रसंग में आधुनिक सम्यता को और महाकाव्य के प्रसंग में उपन्यास को देखा जाय और दोनों की परस्पर तुलना द्वारा आज की उन संक्रमणशील प्रवृत्तियों को पहचाना जाय जो उपन्यास को अधिकाधिक जीवन्त और क्रान्तिकारी रूप दे रही हैं।

उपन्यास को आधुनिक समाज का महाकाव्य कहा जाता है। प्राचीन महाकाव्यों के साथ उपन्यास की तुलना करने पर हम देखते हैं कि महाकाव्य अपने समाज की, एक विशेष रूप में, इतनी पूर्ण अभिव्यक्ति थे कि उपन्यास वैसे कदाचित् कभी न हो सकेंगे। महाकाव्यों के चरित्रों में और उनके समाज में एक सन्तुलन था। ‘इलियड’ चरित्रों से अधिक एक समाज का चित्र है एक समाज का जिसमें व्यक्ति अपने समूह अथवा प्रकृति का विरोध नहीं कर

1. क्लेरा रीव ‘द प्राग्रेस ऑव रोमांस (1775)
2. द्रष्टव्य : क्रॉसडिवेलपमेण्ट ऑव इंग्लिश नॉवेल (लिखित 1899)
3. द्रष्टव्य : रॉल्फ फॉक्स ‘द नॉवेल एंड द पीपुल’

पाता। वह समाज का अंग है, प्रकृति का भी अंग है। वह प्रकृति से प्रायः अनुशासित है, किन्तु कभी भी वह प्रकृति से युद्ध नहीं छेड़ता, प्रकृति का स्वामी नहीं बनता। इन महाकाव्यों के चरित्र भी विशिष्ट नहीं, टाइप-मात्र हैं बुद्धि, साहस, स्वामिभक्ति के टाइप।

दूसरी ओर, किसी एक पुरुष या स्त्री के सुख-दुःख की निजी जीवन की कथा कहने वाली रचनाओं का उदय उस समय हुआ है जब ग्रीस, रोम और केल्टिक जातियों के प्राचीन सामाजिक जीवन का विघटन हो गया था। अब कथाओं में अधिक व्यापक संसार था अपने में पूर्ण समाज का नहीं चित्र खींचा जाने लगा है। समाज और प्रकृति की शक्तियों के साथ संघर्षरत व्यक्ति ही उपन्यास की कथावस्तु है। फलतः 'उपन्यास' ऐसे ही समाज में पल्लवित हो सकता है जिसमें समाज और व्यक्ति के बीच का सन्तुलन नष्ट हो चुका है। यह समाज पूँजीवादी समाज है।

इन स्थापनाओं को स्पष्ट करने के लिए राल्फ फाक्स, प्राचीन काल के एक महाकाव्य 'ऑडेसी' और अठारहवीं शती के एक उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' को लेकर उनके परस्पर पार्थक्य को दिखाते हैं। 'ऑडेसी' का नायक ऑडीसस ऐसे समाज का प्राणी है जिसके पीछे कोई इतिहास नहीं है, जिसमें पुराण-कथा और यथार्थ में कोई अन्तर नहीं किया जाता। यह सृष्टि का शैशव-काल है और मनुष्य देवताओं से प्रगाढ़ रूप में परिचित है। समुद्र-यात्रा करते हुए ऑडीसस को ज्ञात है कि उसका भाग्य देवताओं के हाथ में है तूफान देवताओं का 'क्रोध' है, जहाज का टूटना मार्ग में देवताओं द्वारा ली गई एक अन्य 'परीक्षा' है।

'रॉबिन्सन क्रूसो' के साथ ऐसा कुछ भी नहीं है। वह हासोन्मुख सामन्तवादी व्यवस्था और विकासोन्मुख पूँजीवादी व्यवस्था के संगम-स्थल पर खड़ा है, इसलिए क्रूसो समस्त अतीत की अवहेलना का नया इतिहास बनाने को अग्रसर होता है। क्रूसो वह नया इन्सान है जो अपने शत्रुप्रकृतिको जीतने चल पड़ता है। क्रूसो का संसार एक यथार्थ संसार है जिसका वर्णन भौतिक वस्तुओं के मूल्य को भली प्रकार समझने वाली भावना के साथ किया गया है। 'रॉबिन्सन क्रूसो' में तूफान प्रकृति की निर्दयता है; समुद्री डाकू और बागी मनुष्य हैं। और इन सबसे ऊपर क्रूसो की 'अपनी' आशावादिता है, जो उसे सारी कठिनाइयों पर विजय दिलाती है।

उपर्युक्त दोनों कथाएँ अद्भुत यात्राओं की कथाएँ हैं। दोनों के नायक अपने जीवन के शेष दिन शान्तिपूर्वक बिताने के लिए, अन्त में विश्राम लेते हैं। किन्तु, ऑडीसस का ध्येय केवल इतना है कि ट्रॉय के युद्ध से लौटकर अपने घर इथाका द्वीप पहुँचा जाय। दूसरी ओर, क्रूसो की यात्रा घर से बाहर निकलकर अन्यान्य देशों में साम्राज्य स्थापित करने वाले, प्रकृति को ललकारने और विजय प्राप्त करने वाले मानव की यात्रा है।

'रॉबिन्सन क्रूसो' जिस सामाजिक व्यवस्था की प्रारम्भिक स्थिति की रचना है उसे हम पहले ही 'पूँजीवादी' नाम से अभिहित कर चुके हैं। इस व्यवस्था ने एक ओर तो हमारे अतीतकालीन स्वप्नों को, विज्ञान एवं आधुनिकता को प्रगति देकर, पूरा किया है और दूसरी ओर इसने महान् प्राचीन संस्कृतियों को और पवित्र मानवीय सम्बन्धों को आमूल नष्ट कर दिया है। आडम्बर, धोखा, चरित्रहीनता, व्यापार, यही इस व्यवस्था के ज्वलन्त रूप हैं।

पूँजीवाद ने कलाकार को एक नितान्त नई परिस्थिति में डाल दिया है। अठारहवीं शती के मध्य तक कलाकार स्वतंत्र था कि मनुष्य को जिस तरह चाहे देखे और अंकित करे, अतीत की चाहे आलोचना करे। और पूँजीवाद ने क्या किया?

पूँजीवाद ने यथार्थवाद को एक प्रणाली के रूप में विकसित किया, उपन्यास में इस प्रणाली को परम उत्कर्ष दिया। पूँजीवाद ने 'मनुष्य' को कला का केन्द्र बनाया और पूँजीवाद ने ही

अन्ततः वे सारी सुविधाएँ नष्ट कर दीं जिनमें यथार्थवाद विकसित हो सकता था। पूँजीवाद ने मात्र इतनी सुविधा दी कि कला में और मुख्यतः उपन्यास में 'मनुष्य' केवल विकृत एवं शक्तिहीन रूप में ही व्यक्त हो सके।

पूँजीवाद ने श्रम-विभाजन और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण में वृद्धि की और इस प्रकार कला में तो सर्वत्र हास का संचार किया ही साथ ही व्यक्ति और समाज के वैषम्य के पार्टी में कलाकार को भी कुचल दिया, सांस्कृतिक सम्बन्धों में विकृति आ गई; कला को भी अन्य बेची और खरीदी जाने वाली वस्तुओं के समक्ष समझा जाने लगा। पहले की सामाजिक व्यवस्थाओं में कला में जो ताजगी और शक्ति मिलती थी, वह बहुत कुछ नष्ट हो गई।

सत्रहवीं, अठारहवीं शताब्दी के जॉन वनियन, डेफो और स्विफ्ट आदि उपन्यासकारों ने अपने युग की सामाजिक विशेषताओं पर जो कठोर व्यंग्य किये थे, उनसे शक्ति पाकर अठारहवीं शती के फील्डिंग, स्मालेट और स्टर्न आदि कलाकारों ने यथार्थवादी चित्रण का और भी परिष्कार किया। उन्होंने अपने पात्रों को वास्तविक अनुभव से चुना और यह दिखाने के लिए हास्य व्यंग्य का प्रयोग किया कि 'हम वह नहीं हैं जो हम दिखते हैं।' इन उपन्यासकारों ने निर्ममता के साथ 'बनावट के उस आवरण' को उघाड़ा है जिसमें छिपे रहकर क्रोध, प्रतिशोध, नृशंसता, मूढ़ता आदि मनोवृत्तियाँ समाज को धोखा देती रहती हैं।

इन अपेक्षाकृत पहले के उपन्यासकारों के समय में औद्योगिक पूँजीवाद का वह स्वरूप निखरा नहीं था जिसकी कुछ भीषणताओं का विवरण हम ऊपर प्रस्तुत कर चुके हैं। उन्नीसवीं शती के उपन्यासकार पूँजीवाद की विभीषिकाओं के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आए और जब तक इस शती के अन्तिम चरण में कला और सौन्दर्य की उपेक्षा तथा इनके पूर्ण हास का अनुभव रस्किन और विलियम मॉरिस ने किया तो उन्होंने सौन्दर्यवादी आन्दोलन का सूत्रपात किया। सौन्दर्य की पूजा तो मानो रस्किन का धर्म था। स्विनबर्न और वाल्टर पेटर ने इस आन्दोलन को आगे बढ़ा कर फ्रांस के कलावादी सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करने के यत्न हुए। रस्किन आदि को भ्रम था कि 'मध्यकालीनता को कलात्मक रूप में पुनर्जीवित कर' वे साहित्य की आदिम स्वच्छता को पा सकेंगे। इसलिए वलें, रिम्बा, बादलेया और फ्लावेयर आदि फ्रांसीसी कलाकारों का सम्मान इंग्लैण्ड में भी होने लगा। कला-सम्बन्धी विचित्र सिद्धान्त गढ़े जाने लगे और कला के वातावरण में एक विचित्र प्रकार की स्फूर्ति के दर्शन होने लगे।

पेटर के शिष्य ऑस्कर वाइल्ड ने 'सौन्दर्यवाद' का प्रतिपादन करते हुए अपने एक रोचक निबन्ध में लिखा : "...कला की महान् कृतियाँ जीवित वस्तु हैं वास्तव में ये कला-कृतियाँ ही एक मात्र वस्तुएँ हैं जो जीवित रहती हैं। आदर्श आलोचक इस सत्य को इतनी भली प्रकार पहचानता है कि मुझे विश्वास है कि सभ्यता के अधिकाधिक विकास और संगठन के साथ श्रेष्ठ व्यक्ति वास्तविक जीवन में कम रुचि लेने लगेंगे। कला ने जिनका स्पर्श किया है कदाचित् केवल उन्हीं वस्तुओं से, (श्रेष्ठ व्यक्ति) जीवन का प्रभाव या परिचय ग्रहण करना चाहेंगे।"

उसी निबन्ध में अन्यत्र वाइल्ड ने लिखा है : "...तृप्ति तथा अनुभव के लिए जीवन के पास न जाना चाहिए। जीवन तो सूत्रहीन परिस्थितियों के कारण संकीर्ण बन जाता है। कलात्मक मनोवृत्ति को एक की वस्तु सन्तुष्ट कर सकती है और वह है विधान और आत्मा का सुन्दर मिश्रण। जीवन में यह नहीं मिलता। ...कला और केवल कला के द्वारा हम अपनी पूर्णता की अनुभूति कर सकते हैं: कला के द्वारा और मात्र कला के द्वारा वास्तविक स्थिति के कष्टदायी त्रासों से हम अपने को सुरक्षित रख सकते हैं।"<sup>1</sup>

1. ऑस्कर वाइल्ड : द क्रिटिक ऐज आर्टिस्ट।

इन 'कष्टदायी त्रासों' से बच भागने की आकुलता जब हम कलाकारों में देखते हैं तो तत्कालीन परिस्थिति का चित्र सम्मुख आ जाता है। हम जानते हैं कि पूँजी केन्द्रीकरण से मानवीय सम्बन्धों में जो अन्तर आ गया था, उसके कारण बूर्जुवा संस्कृति के प्रति उन्नीसवीं शती के उपन्यासकारों में तीव्र घृणा का भाव जागा था। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के महान स्थानों को अपूर्ण देखकर मग्न, और श्रमिक के उदय से स्तम्भित इन उन्नीसवीं शती के कलाकारों के मन में 'विज्ञान' तक के प्रति अनास्था कर दी गई। वे विज्ञान की बहु प्रचारित प्रगति को भी एक बड़ा धोखा मानने लगे थे।

सच पूछें तो उन्नीसवीं सदी के कलाकार उस संसार को अस्वीकृत करने का प्रयत्न करते हैं जो उन पर ऐसे-ऐसे 'मानो' को लादता है जिन्हें वे कभी स्वीकार नहीं कर सकते। उनका कला-आन्दोलन भी एक ऐसा ही प्रयास है। वह ललकारकर कहता है कि 'कला रुपये के लिए नहीं है; कला कला के लिए है'।<sup>1</sup>

इसी समय यूरोप के फ्रांस तथा रूस आदि देशों के कथा-साहित्य में अभूतपूर्व परम्पराओं का निर्माण हो रहा है। स्तांदाल द्वारा निरूपित यथार्थ चित्रण की शैली को फ्रांस में ही बालजाक, फ्लावेयर और विक्टर ह्यूगो द्वारा पुष्ट आकर मिला। बूर्जुवा समाज के खोखलेपन, उसकी पतनमुखता और हीन आकांक्षाओं से लेकर समाज द्वारा उपेक्षित पात्रों तक के विविध चित्र इन उपन्यासकारों ने खींचे। किन्तु भीतर ही भीतर कोई ऐसा घुन इन सारे कलाकारों को खाए जा रहा था जिसके कारण इनकी कला अधिकाधिक विकृत होती जा रही थी। मात्र कला ही नहीं नर्वाल, रिम्बा, वेजाने, बैगाग आदि उन्नीसवीं सदी के अनेकानेक कलाकारों के मानसिक विकार और करुणा अन्त इस सत्य पर प्रकाश डालते हैं कि वे ऐसी सभ्यता से क्षुब्ध थे जिसकी दृष्टि में कला का कोई मूल्य न था।

जोला एक समाधान देने का उद्योग करते हैं। श्रमिकों के उद्वेगपूर्ण जीवन से परिचय प्राप्त करके वे 'प्रकृतवाद' के आधार पर समस्या के सुलझाने का प्रयास करते हैं। परन्तु हम सबको पता है कि जटिल एवं अव्यवस्थित जीवन की मूल समस्याओं को हल करने में वे भी कुछ विशेष सफल नहीं हुए।

अस्तु, पूँजीवादी समाज के उस घोर साहित्यिक आपतकाल में आशा की जो पहली किरण फूटी वह थी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रूसी उपन्यास का उदय। तुर्गनेव, टॉलस्टॉय और डास्टाएव्सकी ने जो यथार्थ देखा और अंकित किया वह उनके "फ्रांसीसी आचार्यों के यथार्थ की अपेक्षा कई गुना अधिक सजीव, जीवन के अधिक निकट, अधिक सहज, अधिक स्पर्श और अधिक मार्मिक था। जीवन के अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण और निर्दोष यथातथ्य वर्णन के साथ ही जटिल परिस्थितियों तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनः स्थितियों का निर्मम विश्लेषण करने की दक्षता का जैसा परिचय उन्होंने दिया, वह भी उस युग के लिए अपूर्व और कल्पनातीत था।"<sup>2</sup>

इन रूसी उपन्यासकारों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उन्होंने जारयुगीन दुर्दान्त शासन की आपदाओं के बीच भी 'सामूहिक मानवीय चेतना के उत्तरोत्तर विकास-सम्बन्धी अपने सहज विश्वास को' कभी न डिगने दिया। इसी महान् परम्परा के आगे चलकर गोर्की ने भी अपना महानतर योग दिया।

1. द्रष्टव्य : रॉल्फ फॉक्स'द नॉवेल एण्ड द पीपुल' तथा एस.डी. नील अ शार्ट हिस्ट्री ऑव द इंग्लिश नॉवेल (दसवाँ अध्याय)।
2. इलाचंद्र जोशी : विश्व उपन्यास-साहित्य का क्रमिक विकास और भविष्य।

एक ओर तो उपन्यास-क्षेत्र में उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ विकास पा रही थीं और दूसरी ओर यथार्थवाद के उक्त आन्दोलन के समानान्तर कुछ अन्य कला-प्रणालियाँ भी पनप रही थीं। आज हम उन्हें प्रतीकवाद, अति यथार्थवाद, डाडाइज्म, फार्मलिज्म आदि अनेकानेक नामों से जानते हैं। ये कला-रूप मुख्यतः कविता और चित्रकला के क्षेत्रों में कार्य करते रहे हैं और बीसवीं शती में पल्लवित हुए हैं किन्तु तत्कालीन समाज के अन्तर्विरोधों को तथा आगामी साहित्य के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक होगा कि संक्षेप में इन वादों-विवादों में से प्रमुख की विचार-धारा को जान लिया जाय।

‘प्रतीकवाद’ प्रथमतः प्रकृतवाद और यथार्थवाद का विरोधी आन्दोलन था। फ्रांस में इसके अगुआ थे वर्ले, रिम्बा और मलार्मे, तथा अन्यत्र यीट्स, हाथर्न, इलियट, जेम्स जाइस, ब्लाक आदि। प्रतीकवाद के अस्त्र थे रहस्यवादिता, सूक्ष्मता, दुरूहता, अबोधगम्यता और आदर्शवादिता, शैली, छन्दों एवं संगीत के परिष्कार, काण्ट, हीगेल और शॉपेन-हावर के दर्शनों की पृष्ठभूमि। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में निरूपित होकर यह साहित्यधारा बीसवीं सदी में विशेष फली-फूली।

‘अतियथार्थवाद’ बीसवीं शती के एक अन्य आन्दोलन ने उसको अपना सर्वप्रथम विषय बनाया जो दृश्यमान वास्तविकता से परे हो। यह आन्दोलन ‘स्वच्छन्दतावाद’ का ही एक बदला हुआ रूप था। स्वप्नों तथा व्यक्ति की अर्द्धजाग्रत अवस्थाओं के चित्र अतियथार्थवादी-कृतियों में खींचे गए। स्वतः चालित विचार और लेखन इस वाद की विधियाँ थीं। इसने अव्यवस्था को प्रश्रय दिया और अनीश्वरवाद को आधार-शिला माना। बॉदलेयर, लुई आरागॉ, पाल एलुआर, रिड, आन्ड्र बेकन आदि अतियथार्थवाद के समर्थक और पोषक रहे हैं।

‘फार्मलिज्म’ नाम से रूसी साहित्य की आलोचनात्मक प्रवृत्तियों के विरोध में समाजशास्त्रीय और प्रतीकवादी निकायों ने एक प्रतिक्रियावादी आन्दोलन चलाया। ये कला को शैली विधान या शिल्प-मात्र मानते थे। शिल्प कला की विधि नहीं उसका उद्देश्य भी है। इस सम्प्रदाय के समर्थकों ने आलोचना, कला तथा साहित्य के इतिहास आदि विषयों की व्याख्या अपने ढंग से की थी।

इन तथा ऐसे ही अन्य कई आन्दोलनों के मूल में जो प्रवृत्तियाँ काम कर रही थीं। उन पर हम यथेष्ट प्रकाश डाल चुके हैं। समाज की गलनशील एवं साहित्य की यथार्थोन्मुख विकासशील शक्तियों के बीच में पड़कर उन्नीसवीं शती के कलाकारों ने प्रतिक्रिया, विकृति और नकारात्मकता की भूमि पर खड़े होकर सौन्दर्य, कला तथा साहित्य के क्षेत्रों में उपर्युक्त अनेक दृष्टिकोण रखे।

इन दृष्टिकोणों की हम उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि अक्सर तो उनमें व्यक्त होकर ‘आदर्शवाद’ ही कई रूपों में ‘यथार्थवाद’ का विरोध कर रहा था। आदर्शवाद ने ही नैतिक और सौन्दर्य-बोधक मूल्यों की बाह्यात्मकता तथा नियामकता पर बल दिया था और फिर ‘आदर्शवाद’ ने ही मनुष्य के उस दैवी और अलौकिक स्वरूप की व्याख्या की जो पार्थिव जीवन-मृत्यु से परे है। इस धरातल पर आदर्शवाद ने प्रकृतवाद का खण्डन किया। ‘आदर्शवाद’ ने ही मनुष्य के हीन, कुरूप, सामान्य स्वभाव की उपेक्षा करके उसके श्रेष्ठता और रुचिकर गुणों का अन्वेषण करना चाहा। इस ओर इसी से सम्बद्ध ‘प्रतीकवाद’ के धरातल पर आदर्शवाद ने यथार्थवाद का खण्डन किया।<sup>1</sup>

1. द्रष्टव्य : शिपलेडिक्शनरी ऑव वर्ल्ड लिटरेचर पृष्ठ 310

और, प्रकृतवाद क्या था? स्थूल रूप से प्रकृतवादी रचनाएँ उन्हें कहा जाता था जो प्रकृति-प्रेम का वर्णन करती हों। सामान्यतः प्रकृतवाद के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती थीं जो प्रकृति के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क रखने की चेष्टा करके 'यथार्थवाद' का एक रूप प्रस्तुत करती हों। विशेष रूप से 'प्रकृतवाद' 19 वीं शती के उन कलाकारों द्वारा प्रतिपादित मत है जो मानव को प्रकृत रूप में अंकित करना चाहते थे मानववादी अथवा धार्मिक रूप में नहीं। फलतः ये कलाकार भौतिक विज्ञान के आधार पर मनुष्य का विवेचन करते थे और अनगढ़, व्यंग्यात्मक, हीन और गंदे ढंग से विषय का प्रतिपादन करते थे। हम पहले कह चुके हैं कि इनके अगुआ एमिली जोला थे। वे ऐसी बाह्यात्मकता का पालन करने में विश्वास करते थे जिसमें 'रचना का यथार्थ' निहित रहता हो। हम यह भी कह चुके हैं कि जोला समस्या का निदान या समाधान देने में सफल नहीं हुए, किन्तु जोला की रचनाओं से ही बल पाकर आयरिश उपन्यासकार जार्ज मूर सत्य के बहुत निकट पहुँच गए थे जब उन्होंने लिखा, "उपन्यास को 'समकालीन इतिहास' ही होना चाहिए ताकि वह हमारे युग की सामाजिक परिस्थितियों की वास्तविक तथा पूर्ण प्रगति हो सके।"

और, यथार्थवाद क्या था?

इस प्रश्न का उत्तर फिलहाल हम आन्द्र जीद से सम्बन्धित एक रोचक घटना का उल्लेख करके देंगे। आन्द्र जीद से एक आलोचक ने पूछा कि आखिर इसका क्या कारण है, 'सामाजिक असमानता' से जीद का परिचय केवल उसी समय हुआ जब वे 1925 में फ्रेंक काँगो की यात्रा करने गए?

जीद ने बताया कि वास्तव में ऐसा न था। उन्होंने 1893-96 में की गई यात्राओं के पूरे विवरण यदि प्रकाशित किये होते तो यह ज्ञात होता कि 'सामाजिक असमानता' से वे बहुत पहले परिचित हो चुके थे। पर कलाकार के नाते उनका क्षेत्र कुछ और ही था। अन्य विषयों की चर्चा उनके क्षेत्र के बाहर की बात थी और उन पर अधिक समर्थ और 'एक्सपर्ट' लेखकों को कलम उठानी चाहिए थी।

वास्तव में जीद के लिए उस समय संसार की स्थिति केवल आत्मनिष्ठ (Subjective) रूप में थी। प्रथम-महायुद्ध के पश्चात् काँगो-यात्राओं के सिलसिले में ही जीद ने संसार को 'यथार्थ' रूप में देखना प्रारम्भ किया, न केवल उस रूप में जैसा वह (संसार) उनकी व्यक्तिगत चेतना में स्थित था। फिर भी, काँगो यात्राओं के समय भी जीद का दृष्टिकोण अन्तःसपिण्ड ही था। यह अव्यवस्था से क्षुब्ध एक 'क्रोधित' व्यक्ति का दृष्टिकोण था न कि समग्रता और स्थिरता के साथ वस्तुओं को देखने वाले व्यक्ति का।

आन्द्र जीद ने स्वयं स्वीकार किया है कि प्रारम्भ में वह विश्वास करता था कि केवल 'विशेषज्ञ' को ही अपने विषय पर कुछ कहना चाहिए। जिन्होंने अन्याय, अत्याचार और पीड़ा को सहा है, उन्हीं को उसे मिटाने के लिए आवाज उठानी चाहिए। लेकिन धीरे-धीरे जीद ने जान लिया कि दूसरे लोगों को भी 'पीड़ित' के स्वर-में-स्वर मिलाना होगा अन्यथा 'पीड़ित' की अकेली आवाज तुमुल कोलाहल में डूब जायेगी। काँगो में तो जीद ने देखा कि अन्यायियों का विरोध करने वाला कोई भी नहीं है। तब जीद ने जबान खोली। पर इस समय भी वह विद्रोह एक 'साम्राज्यविरोधी' का विद्रोह न था। यह तो बहुत बाद में आन्द्र जीद ने अनुभव किया कि जो व्यवस्था ऐसे अनाचारों और अन्यायों को केवल इसलिए 'सहन' करती, 'रक्षा' करती और 'पक्ष' लेती थी कि उनसे लाभ उठती रहे, वह निश्चय ही ऊपर से नीचे तक हेय और निन्दनीय थी।<sup>1</sup>

1. रॉल्फ फॉक्स द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त विवरण के लिए देखिए : द नॉर्वेल एण्ड द पीपुल, पृष्ठ 35-37

दृष्टिकोण के विकास की यह समूची प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपनी आन्तरिक बुद्धिवादिता और अन्तर्भूत चेतना को त्यागकर, उस आदर्शवादी धरातल को भी उस समय छोड़ देता है जब वह देखता है कि बाह्य संसार मात्र-सत्ता ही नहीं है बल्कि उसे समझा और जाना भी जा सकता है। व्यक्तिगत चेतना जो बाह्य संसार की मन में तो 'पुनर्निर्मिति' है ओर विचारों में 'अनुवाद' बहिर्गत संसार को भली प्रकार जान लेने पर ही उन्मुक्त संचरण कर सकती है।

सच पूछा जाय तो दृष्टिकोण के परिवर्तन की यह कहानी केवल आन्द्र जीद या किसी एक व्यक्ति की कहानी नहीं, यह तो एक पूरे युग की कहानी है जो कला के कार्यों, सिद्धान्तों या उद्देश्यों के विषय में संकुचित दृष्टियों को त्यागकर अधिक व्यापक, स्वस्थ और यथार्थवादी दृष्टिकोण की ओर प्रगति करना चाहता है, इसके लिए पूर्वग्रहों और अन्तर्विरोधों से लड़ता है और उन पर विजयी होता है।

### 3

किन्तु बीसवीं शताब्दी की जटिलताएँ कलाकार को सुधरे और प्रशस्त पथ पर नहीं चलने देतीं, क्योंकि अब पथ 'अनेक' से 'अनन्त' हो गए हैं। ज्ञान, विज्ञान और मनोविज्ञान ने प्रगति कर ली है। अब सुनिश्चित कथानक, सुस्पष्ट चरित्र और सुगठित शिल्प से काम नहीं चलेगा अब गैलिलियो, डार्विन, मार्क्स और फ्रायड<sup>1</sup> कलाकार के मन पर चारों ओर से छाने लगे हैं। तो मूल्यों में फिर विघटन होना चाहिए और नई पद्धतियाँ निरूपित होनी चाहिए, क्योंकि हम "चलते जा रहे हैंकभी इस दिशा में, कभी उस दिशा मेंभले ही यह कोल्हू के बैल सरीखे एक ही घेरे में घूमना हो"<sup>2</sup>

वर्जीनिया वुल्फ ने आधुनिक कथा-साहित्य की आलोचना करते हुए लिखा कि वेल्स, बेनेट और गाल्सवर्दीतीनों लेखक वस्तुवादी हैं। "ये 'आत्मा' की अपेक्षा 'शरीर' से अधिक सम्बन्धित हैं। ...यदि हम उपर्युक्त तीनों लेखकों की रचनाओं पर एक बिल्ला चिपकाएँ जिस पर एक ही शब्द लिखा हो 'वस्तुवादी' तो हमारा अभिप्राय है कि वे महत्त्वहीन वस्तुओं की बात लिखते हैं, वे अत्यधिक परिश्रम एवं कौशल का व्यय केवल इसलिए करते हैं कि 'तुच्छ और अस्थायी' ही 'सत्य और शाश्वत' जान पड़े।"<sup>3</sup>

कथा को ठोस बनाने और जीवन से उसकी अनुरूपता दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ ही नहीं, गलत जगह पर केन्द्रित है, क्योंकि 'जीवन, आत्मा, सत्य या यथार्थ', जो 'मूल वस्तु' है, वह आगे बढ़ चुकी है ओर अब उन बेडौल ढाँचों में नहीं सँवर पाती, जिन्हें हम प्रस्तुत करते हैं। जीवन कुछ और ही हो गया है। आज 'मन' अनेक प्रभावों को ग्रहण करना जान गया है। तुच्छ, हास्यास्पद, संक्रमणशील और गहरे उतर जाने वाले प्रभाव प्रत्येक दिशा से असंख्य अणुओं की अबाध फुहारों जैसे आते हैं और हमें बताते हैं कि महत्त्व का क्षण कुछ और ही है। अस्तु, यदि लेखक एक 'स्वतन्त्र व्यक्ति' है, दास नहीं; उसे जो लिखना 'चाहिए' ऐसा न लिखकर यदि वह 'मनचाहा' लिख सकता है; यदि वह अपनी रचना को रूढ़ि पर आधारित न करके अपनी अनुभूति पर आधारित कर सकता है तो कथानक, सुखान्त-दुःखान्त कथाएँ, प्रेम का कौतूहल, परिणति आदि कुछ भी उस रूप में न होगा जैसा हम आज तक समझते और स्वीकृत करते आए हैं।

1. जोशी : 'आलोचना', अंक 11, पृष्ठ 18
2. वर्जीनिया वुल्फ, माडर्न फिक्शन (1923)
3. वही।

वर्जीनिया वुल्फ ने इस नये साहित्य के पक्ष में अपूर्व तर्क देते हुए कहा कि नये लेखक (1923 के) जीवन के अधिक निकट आने का प्रयास करते हैं; वे उसे अधिक निष्ठा के साथ सँजोते हैं जो उन्हें रुचिकर है, जो उन्हें द्रवित करता है। इसके लिए वे रूढ़ियों का परित्याग करने में तनिक भी नहीं हिचकते। भले ही यह सम्बद्ध और अप्रासंगिक जान पड़ता हो, किन्तु नये लेखक उस पटल का अन्वेषण करना चाहते हैं जिस पर प्रत्येक दृश्य और घटना अंकित होकर हमारी चेतना को प्रभावित करती है।

वस्तुवादी उपन्यासकारों के विरुद्ध कुमारी वुल्फ ने जेम्स जॉइस को 'आध्यात्मिक' बताया, क्योंकि वे उस अन्तर्निहित प्रकाश की लपटों को प्रकट करना चाहते हैं जो मस्तिष्क के माध्यम से अपनी ज्योति विकीर्ण करता है। इसके लिए जेम्स जॉइस सम्भावना, सम्बद्धता, क्रम आदि सभी तत्त्वों की पूर्ण अवहेलना करके अभूतपूर्व साहस दिखाते हैं।

वर्जीनिया वुल्फ भी निर्भीकतापूर्वक कहती हैं कि 'आधुनिकों' की रुचि का 'वह' बिन्दु कदाचित् मनोविज्ञान की अतल पतों में निहित है। और इस प्रकार अभी तक बिल्कुल अज्ञात रहने वाला एक नितान्त नूतन आकार हमारे सम्मुख खड़ा होता है।<sup>1</sup>

सधी हुई कलम और अकाट्य लगने वाले तर्कों द्वारा इन नये विचारों का प्रतिपादन किया गया। इस नये उपन्यासकारों ने 'व्यक्ति' पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और उसका 'मनोवैज्ञानिक अनुसन्धान' करना चाहा। 'कथानक और चरित्र' अविस्मरणीय हों या न हों, 'मन का सत्य' प्रकट होना ही चाहिए। एक व्यक्ति के 'मानसिक जीवन का इतिहास' लिखने के लिए 'अनुभव के क्षणों' पर उपन्यासकार ने दृष्टि केन्द्रित की; इन्हीं को अपनी लेखनी में पकड़ना चाहा। व्यक्ति का व्यक्तित्व भी कोई 'एक' वस्तु नहीं है। वह 'मनोवैज्ञानिक स्थितियों का क्रम' मात्र है। मनुष्य 'भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक क्षणस्थायी आदमियों' की एक माला है। यदि इस 'विभिन्न क्षणस्थायी आदमियों' के बीच कोई सुनिश्चित सूत्र स्थापित किया जायगा तो यह जीवन को झुठलाना होगा। असम्बद्ध दृश्यों में असम्बद्ध घटनाओं और उनमें भी असम्बद्ध घोषणाओं की शैली पाश्चात्य उपन्यास में असम्बद्ध घटनाओं और उनमें भी असम्बद्ध घोषणाओं की शैली पाश्चात्य उपन्यास में विकसित हुई है। सेक्स, घृणा, वितृष्णा, असामाजिकता आदि के यथातथ्य और विस्तृत वर्णन हुए, क्योंकि जीवन को 'रिकार्ड' करने के लिए कुछ भी छोड़ना नहीं चाहिए, सब-कुछ ले लेना होगा।<sup>2</sup>

हक्सले, जेम्स जॉइस, लारेन्स और वर्जीनिया वुल्फ आदि के द्वारा प्रतिपादित और आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा अनुमोदित इन परस्पर विरोधी, किन्तु मिलते-जुलते प्रेरणा-सूत्रों से परिचालित विचार आधुनिक उपन्यास में व्यक्त हुए। सबसे बड़ा व्यंग्य तो यह था कि 'तथ्य, यथार्थ और सत्य' के प्रति पूर्ण निष्ठा का दावा इन उपन्यासकारों द्वारा किया जाता था।

ह्यू वालपोल ने इन 'अस्त-व्यस्त, सूक्ष्म और भयावह' विचारों की अरोचक अभिव्यक्तियों के लिए लिखा 'यह विधि बहुत सरल हैचालाकी, आराम और साहस से भरी हुई। असम्बद्ध आत्म-कथा लिखने की यह शैली 'आधुनिक' भी है और इसमें 'अपने से भिन्न कथानक या चरित्र' निर्मित करने की असुविधा भी नहीं। अवसादयुक्त होकर विकृत व्यक्तियों की बात लिखना ठीक ही है, क्योंकि फ्रायड कह चुके हैं कि हम सब मग्न, पुंसत्वहीन और विरूप हैं ... इसलिए मग्नता की विशद व्याख्या करने वाले और शून्य (nothing) का कटुतम उद्घाटन करने

1. वर्जीनिया वुल्फ, माडर्न फिक्शन (1923)

2. विस्तार के द्रष्टव्य : सी.ई.एम. जीड गाइड टु माडर्न थॉट, पृष्ठ 284-337



वाले उपन्यास लिखे गए हैं। अत्याचारों को सहन करने वाली दीन जनता तथा संघर्षरत साहसयुक्त जनता से इन कलाकारों ने अपना बिल्कुल सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।”<sup>1</sup>

#### 4

स्पष्ट है कि इस प्रकार का नकारात्मक तथा आत्मपरक दृष्टिकोण साहित्य में अधिक दिन नहीं चल सकता। विद्रोह होना अवश्यम्भावी था और हुआ भी। जो शंकाएँ पाठकों के मन में सबसे पहले जागीं वे इन उपन्यासों की ‘सत्यता’ को लेकर थीं। पाठकों ने कहा कि यदि जीवन-मात्र इतना ही है तो उसका अंकन करने की आवश्यकता क्या है? और यदि जीवन इस सबसे कुछ अधिक है तो उसका विवरण इन कथाओं में नहीं मिलता।

यह संकट उस समय और भी तीव्र हो गया जब कहा जाने लगा कि आधुनिक मनोविज्ञान समस्त मानवीय क्रियाओं, विचारों, भावनाओं को पूर्ण रूप से समझने में समर्थ है। तब एक प्रश्न सबको विह्वल करने लगा कि क्या उपन्यासकार अपने कार्य को ‘मनोवैज्ञानिक’ द्वारा पूरा किये जाने के लिए छोड़ देगा? क्योंकि अभी तक तो हम यही जानते थे कि महाकाव्य के बाद उपन्यास ही वह प्रथम कला-रूप है जो मनुष्य समझने और अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है।<sup>2</sup>

जिस सहज रूप में प्रश्न उठा था उतने ही सहज रूप में उत्तर भी मिल गया कि ‘नहीं, यह न होगा’ क्योंकि मनोविज्ञान की सीमाएँ इस समय तक सबको ज्ञात हो गई हैं। ये सीमाएँ क्या हैं?

एक : मनोविज्ञान मानव-विचार की समस्त प्रक्रियाओं और मानव-प्रकृति के सभी परिवर्तनों की व्याख्या नितान्त मनसपरक आधारों पर करता है।

दूसरे : मनोविज्ञान का मानव-व्यवहार, विचार और अनुभूति के स्रोतों को अचेतन में खोजता है और इन स्रोतों की मूल प्रकृति ‘सेक्स’ बताता है।

तीसरे : मनोविश्लेषण शास्त्र, विवेक, इच्छा-शक्ति और सौन्दर्य-बोध आदि अपेक्षया बाद में विकसित हुए मानवीय गुणों को महत्त्व न देकर मनुष्य की आदिम और बर्बर पशु-प्रकृति को सर्वोपरि मानता है।

चौथे : मनोविज्ञान व्यक्ति को उसकी पूर्णता में देख पाने में असमर्थ रहा है। वह मनुष्य के सामाजिक महत्त्व को नहीं समझता।

इतना ही नहीं, मनोविज्ञान जीवन के ऐसे झूठे दृष्टिकोणों का आधार बना है जो मानव-व्यक्तित्व को विघटित करना ही कला का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। साथ ही मनोविज्ञान ने कभी यह अनुभव नहीं किया कि व्यक्ति सामाजिक समग्रता की ईकाई मात्र है। इस सामाजिक समग्रता के नियम प्रतिफलित होकर जब व्यक्ति-मन में प्रवेश करते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति को नियन्त्रित और परिवर्तित करते हैं।

अपनी उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव की ज्ञान-राशि में अद्भुत योग दिया है। उसकी अपेक्षा करना सम्भव नहीं है। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि आज के मनुष्य को बाहर और भीतरी दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ रही है। उस लड़ाई का बाह्य रूप है भूखमरी, बेकारी और युद्ध; और अन्तर-गत रूप है इन अनेक संकटों का मन पर पड़ने वाला प्रतिबिम्ब। इस दोहरे संघर्ष का प्रत्येक अंश एक-दूसरे पर प्रभाव डालता है

1. टेन्डेन्सीज ऑफ़ माडर्न नॉवेलइंग्लिश, ह्यू वालपोल।
2. देखिए, इस निबंध का पूर्वांश।

इसलिए आज हमें बहिर्भूत (Objective) और अन्तर्भूत (Subjective) आदि विभाजन निरर्थक या बनावटी जान पड़ते हैं। आज हम ऐसी परम्पराओं को विकसित करने वाले हैं। जिनमें उपर्युक्त दोनों वृत्तियाँ परस्पर उपयुक्त सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगी।

बालपोल के अनुसार ये परम्पराएँ 'रोमांटिसिज्म' की होंगी, क्योंकि उपन्यासों का आधुनिकतम झुकाव इन्हीं की ओर है। इसके संकेत कूपर पॉवेस, फिलिप बेन्टले, फ्रांसिस ब्रेट आदि उपन्यासकारों की रचनाओं में मिलते हैं, किन्तु जब हम वर्तमान सोवियत और चीनी साहित्य पर दृष्टि डालते हैं तो स्थिति भिन्न जान पड़ती है।

डी. एस. मर्स्की के अनुसार 'नये सोवियत उपन्यास की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं उद्देश्यवादिता, सामाजिक समग्रता के साथ संगति और ज्ञान के प्रकार के रूप में कल्पनात्मक रचना की स्वीकृति। इनके सम्मिलन को सोवियत आलोचकों द्वारा 'सामाजिक यथार्थवाद' कहा जाता है।<sup>1</sup> सोवियत उपन्यास का मूल मन्त्र 'संघर्ष' है वह संघर्ष, जो अन्ततः विजय में परिणत होगा; किन्तु शोषक बर्जुआ और सम्पत्तिशाली के खिलाफ आर्थिक-राजनीतिक युद्ध अभी छेड़े रहना है। इस संघर्ष का स्वरूप सृजनात्मक भी है, क्योंकि वह प्रकृति की अवरोधक शक्तियों का विरोध करता है और हमारे मन में शताब्दियों में स्थित कुण्ठाओं और दास-मनोवृत्तियों को दूर करके हमें समाजवादी मानवता के निकट पहुँचने के लिए शिक्षित करता है।

इसी प्रकार चीन के कथा-साहित्य ने भी अपनी महान् परम्पराओं को एक सामाजिक परिणति दी है। इन दिशाओं में अग्रसर होने के लिए चीन के कलाकार अत्याधिक ईमानदार बनने और यथार्थ के क्रान्तिकारी विकास को सच्चाई के साथ ग्रहण करने का उद्योग करते हैं। वास्तविक जीवन में अब भी अनेक विषमताएँ हैं। प्रगतिशील विकासोन्मुख शक्तियों को ह्रासशील मरणोन्मुख शक्तियों से घोर संग्राम छेड़ना पड़ता है। चीनी कलाकार ऐतिहासिक विकासक्रम को समझकर इन विषमताओं की विवेचना करते हैं और समाज-स्थित वर्ग-वैषम्यों का विवरण गहराई के साथ प्रस्तुत करना चाहते हैं। लूसून ने मुक्ति के पहले चीन पर शासन करने वाले प्रतिक्रियावाद के प्रति जनता में जो घोर घृणा थी उसका अंकन करके सत्य-असत्य के बीच स्पष्ट विभाजक रेखा स्थापित की। जीवन की विषमताओं को परदे में ढककर या आकर्षक के रूप में ढालकल रखना चीन के साहित्यकारों ने पसन्द नहीं किया, क्योंकि ऐसा करना यथार्थ को विकृत बनाना होता; ऐसा करने से साहित्य का सच्चा प्रभाव नष्ट हो जाता और उसकी विचार-सारण के मूल में स्थित संघर्ष क्षीण पड़ जाता।<sup>2</sup>

यह सच है कि चीन के पश्चिम के 'क्रान्तिकारी उपन्यास' ने अभी इस 'घोषित' महान् लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया है और वे उस स्तर तक नहीं पहुँच सके हैं जहाँ से वे मानव के विषय में हमारे ज्ञान की वृद्धि करके हमारी चेतना और बोध को बढ़ा देंगे इन उपन्यासों में प्रायः शक्तिहीनता, शुष्कता और रूपाग्रह के दर्शन होते हैं। परिपक्वता, परिष्कार, उत्कर्ष अथवा महानता की दृष्टि से उनमें बड़ी कमियाँ हैं। पर वे इस सत्य पर भली प्रकार प्रकाश डालते हैं कि वर्तमान वैषम्यों और दुरुहताओं से संघर्ष करने और उन पर विजय प्राप्त करने की प्रक्रिया में ही मानव के क्रान्तिदर्शी आशावाद की सच्ची शक्ति निहित है।

1. टेन्डेन्सीज़ ऑफ द माडर्न नॉवेलरशाडी.एस. मर्स्की
2. चाइनाज न्यू लिटरेचर एण्ड आर्ट

विश्व-उपन्यास की तुलना में हिन्दी-उपन्यास का लघु जीवन अपनी समग्रता में अधिक स्वस्थ और विकारमुक्त जान पड़ता है। यथार्थ की जो दृष्टि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पाई थी वह आज तक निरन्तर विकसित हुई है। 'परीक्षारु' से प्रारम्भ करके 'बाबा बटेसरनाथ' तक कथा-साहित्य की परम्परा भले ही बहुत गौरवपूर्ण न हो, स्वस्थ अवश्य रही है। उसने उपदेश, नीति और सुधारवादिता से प्रारम्भ किया था और आज वह श्रमिक, कृषक एवं मध्यमवर्गों के यथार्थवादी चित्रणों में से विकसित हो रही है। वर्णन की सच्चाई और विवरणों की यथातथ्यता हिन्दी-उपन्यास के सहज अंग रहे हैं। बिल्कुल प्रारम्भ केबालकृष्ण भट्ट के 'सौ अजान और एक सुजान' में ही देखिए— "...प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ घर-धर सब लोग भोजन के उपरान्त विश्राम-सुख का अनुभव कर रहे हैं, नींद आ जाने पर पंखा हाथ से छूट गया है, खरटि भरने लगे हैं। ...कोई-कोई बड़ी जँगरैतिन गृहस्थी का सब काम को शेष होते देख जेठ के दीर्घ दोपहर की ऊब दूर करने को सूप की फटकार से अपने पड़ोसी के विश्राम में विक्षेप डाल रही है।..."

हिन्दी-उपन्यास की इस प्रारम्भिक स्थिति में एक ओर ऐसे अनेक यथार्थ चित्रण हैं, दूसरी ओर व्यक्ति, समाज, धर्म तथा सामयिक विषयों पर विविध व्यंग्य और विवेचनाएँ हैं। इन सबको एक सशक्त और मुखर रूप प्रेमचन्द में मिलता है। बालकृष्ण भट्ट श्रीनिवास आदि की सुधारात्मक यथार्थवादी प्रणाली को प्रेमचन्द आगे बढ़ाते हैं और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की परम्परा का सूत्रपात करके जिस महान् औपन्यासिकता की सृष्टि करते हैं उसकी चर्चा करना बहुकथित बातों की पिष्ट-पेषण करना-भर होगा।

हिन्दी-उपन्यास प्रारम्भ से ही युग की समस्याओं के प्रति सजग रहा है। इसीलिए अतीत काल के गौरव और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन से लेकर धर्म, विवाह, छुआछूत, नारी, सेक्स, कुण्ठा आदि समाज, परिवार और व्यक्ति की अनेकानेक समस्याओं पर उसने दृष्टि डाली है। यह सही है कि इन सबके विवेचन में हिन्दी-उपन्यास अधिक 'क्रान्तिकारी' नहीं बन सका है, लेकिन शायद 'भारतीय मन' की यह सीमा एक प्रकार का वरदान भी सिद्ध हुई है, क्योंकि हम इसी निबन्ध में पहले देख चुके हैं कि 'साहस और निर्भीकता' ने पश्चिमी उपन्यास में कैसी-कैसी विकृतियाँ और असंगतियाँ पैदा कर दी थीं। बीच के खेवे के कुछ हिन्दी-उपन्यासकारों ने जिसके नाम सर्वविदित हैंसेक्स, नारी और समाज को लेकर फ्रेंच यथार्थवादियों की भाँति निर्भीक विचार व्यक्त किये थे, किन्तु सामाजिक चेतना के विकास के साथ इस धारा की कमियाँ खूब स्पष्ट हो गईं और शीघ्र ही उल्लेखनीय हिन्दी-उपन्यास इस प्रवृत्ति को छोड़कर आगे बढ़ रहा। अब ऐसा साहित्य 'रेलवे बुक-स्टालों' पर ही दिखाई देता है और उन सस्ते लेखकों द्वारा लिखा जाता है जिनका उद्देश्य अर्धशिक्षित जनता की वासनाओं को गुदगुदाकर धन कमाना भर रहता है।

हिन्दी-उपन्यास की विकासोन्मुख प्रगतिशील धारा वह है जो विश्व-उपन्यास की नवीनतम शक्तियों को यथाशक्ति अपना दान दे रही है। प्रेमचन्दोत्तर-युगीन ऐसे उपन्यासकार भी, जिनकी रचनाएँ पढ़कर, प्रारम्भ में कुछ लोगों को लगा था कि ये 'अनिष्ट' कर रहे हैं आज उस शंका को निर्मूल सिद्ध कर चुके हैं। जैनेन्द्र अपने नये उपन्यासों में पात्रों को व्यापक और तटस्थ सहानुभूति देकर उनके चरित्रों की सूक्ष्मताओं पर प्रकाश डालते हैं; इलाचन्द्र जोशी 'सुबह के भूले' और 'जिप्सी' आदि इधर के उपन्यासों तथा यत्र-तत्र प्रकाशित निबन्धों द्वारा अपनी शैली

और भाव-भूमि में उस 'प्रगतिशीलता' के निरन्तर प्रवेश की सूचना देते हैं जिससे वे ही नहीं हिन्दी के प्रायः सभी मान्य कलाकार इस बीच दूर जा पड़े थे। 'अज्ञेय' की नवीनतम कविताएँ एक विशेष प्रकार की सामाजिकता, आस्था और यथार्थ-दर्शन से ओत-प्रोत हैं और वे कदाचित् उनके अगले उपन्यास में पृष्ठभूमि बनाएँगी। यशपाल, 'अशक', अमृतलालनागर आदि ही नहीं, हिन्दी के प्रायः सभी उल्लेखनीय-अनुल्लेखनीय उपन्यासकार आज सामाजिक चेतना के साथ ऐसे अटूट सम्बन्ध अनुभव करने लगे हैं कि सुस्थिर मनीषी पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी को भी विचलित होकर कहना पड़ता है कि 'हिन्दी-उपन्यास पर यथार्थवाद का आतंक बढ़ता जा रहा है। यथार्थवाद में कौशल और साधन का आधिक्य अखरने लगा है।'

आचार्य द्विवेदी के उपर्युक्त मन्तव्य की विवेचना हमारा ध्यान एक दूसरी ही समस्या की ओर आकृष्ट करती है कि 'यथार्थ' का प्रतिबिम्ब रचना के विविध अंगोंभाषा, शिल्प, कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथनपर किस रूप में परिलक्षित हुआ है या हो? इसका व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक धरातलों पर अध्ययन रोचक होगा। इसकी उपयोगिता और आवश्यकता असन्दिग्ध होते हुए भी कदाचित् प्रस्तुत प्रसंग में यह चर्चा 'विषयान्तर' सरीखी होगी।

अस्तु, हम तो यही निवेदन करेंगे कि यथार्थवाद के वर्तमान 'साधनों का यह आतंक' कदाचित् उस निकट भविष्य का पूर्वाभास-मात्र है जो 'महान् साध्यों' को जन्म देने वाला है जब हिन्दी- उपन्यास आज के समान्य स्तर से ऊपर उठकर उच्चतर कृतियों और परम्पराओं का सृजन करेगा।

(आलोचना, अक्टूबर 1954 से)

## बृहत्कथा से नॉवेल तक

---

भोलाभाई पटेल

*The story is universal in India...It has  
also been one of the greatest gifts of India  
to the world outside.*

—Edward C. Dimock

भारतीय कथासाहित्य (Narratives) के मूल स्रोत और परम्पराओं को कहाँ ढूँढेंगे?  
रामायण-महाभारत में? गुणाद्वय की बृहत्कथा में? बौद्ध जातक कथाओं में? या कि सुबन्धु  
की वासवदत्ता, बाणभट्ट की कादम्बरी में? दंडी के दशकुमार चरित में? मध्यकालीन आख्यान  
या पांचाली आदि कथा-प्रकारों में?

अरेबियन नाइट्स या गुले बकावली की अरबी-फारसी दास्तान परम्परा में? या फिर अंग्रेजी  
ढंग के (Novel) में?

सभी का उत्तर एक 'हाँ' में है। भारतवर्ष की अपनी एक समृद्ध कथा परम्परा रही है,  
इतना ही नहीं कई विद्वान मानते हैं कि वैश्विक कथा-साहित्य के स्रोत भी प्राचीन भारतीय  
कथा-परम्परा में ढूँढे जा सकते हैं।

साहित्य अकादेमी, दिल्ली द्वारा 26-28 फरवरी, 1999 में आयोजित 'The Novel in  
Search of the Nation' विषयक राष्ट्रीय परिसंवाद के उद्घाटनप्रवचन में हिन्दी के प्रसिद्ध  
कथालेखक निर्मल वर्मा ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि Novel उपन्यास के विदेशी आदर्श  
(Model) ने भारतीय संस्कृति में प्रवर्तमान अद्भुत कथाविश्व को सीमित और संकुचित कर  
दिया है। उन्होंने कहा कि हमारे दो महाकाव्य रामायण और महाभारत में अनेक कथा  
वैविध्यों (Narrative Varieties) को पाया जा सकता है। ऐसा कोई 'मोडर्न नैरेटिव' नहीं है,  
जिसमें ये न हों। उन्होंने कहा कि यूरोपीय संवेदना और भारतीय संवेदना को यथोचित रूप  
में समझे बिना उपन्यास के यूरोपीय मॉडल को आयात किया गया। यह करुण भूल थी। यदि

हमारे महाकाव्यों से उपन्यास का रूप यहाँ विकसित हुआ होता तो वह एकदम भिन्न और अधिकृत होता।<sup>1</sup>

इसी तरह अमीय दे द्वारा संपादित ऐसे ही एक साहित्य अकादेमी परिसंवाद (22-24 फरवरी, 1990) के लेख-संग्रह Narrative-A seminar (1994) में प्रसिद्ध संरचनावादी साहित्य समीक्षक जोनाथन कलर ने भारतीय कथा-परम्परा के सन्दर्भ में महाभारत के महत्त्व और प्रासंगिकता की चर्चा की है। इतना ही नहीं, संपादक अमीय दे ने अपने प्रस्ताविक में इस बात को रेखांकित किया है कि पूरे परिसंवाद का ध्रुव पद (refrain) महाभारत रहा।

परन्तु शुद्ध कथा के रूप में जिस ग्रन्थ को भारतीय कथा-परंपरा के सन्दर्भ में हमें सर्वप्रथम याद करना है, वह है गुणादय की बृहत्कथा। बृहत्कथा की रचना हाल सातवाहन के समय में ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में हुई होगी। ऐसे विद्वानों का अनुमान है। दुःख की बात यह है कि पैशाची (प्राकृत) में रची गयी एक बृहत्कथा यों तो नामशेष है, लेकिन उसके कुछ रूपान्तर पाए जाते हैं। एक हैकरीब पाँचवी शती में बुद्धस्वामी चरित 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह', दूसरा है क्षेमेन्द्र कृत 'बृहत्कथा मंजरी' और तीसरा सोमदेव का 'कथा सरित्सागर'। पिछले दो रूपान्तर ग्यारहवीं-और बारहवीं शती के हैं। तीनों संस्कृत में हैं और श्लोक निबद्ध हैं। तीनों संस्कृत में हैं और श्लोक निबद्ध हैं। इन तीनों में विशेष महत्त्वपूर्ण हैकथासरित्सागर। इसकी रचना हुई उस समय तक बृहत्कथा का प्रचलन था, लेकिन कथासरित्सागर इतना लोकप्रिय हुआ कि बृहत्कथा विलीन हो गई।

अब सोमदेव के कथासरित्सागर में बृहत्कथा जीवित है। उन्होंने अपने ग्रंथ के आरंभ में ही कहा है कियथामूलं तथैवतन्न मनागप्यतिक्रमः। जैसा मूल में है, वैसा ही यहाँ है, मन से भी व्यतिक्रम नहीं है। यह अवश्य है कि जहाँ मूल में विस्तार है, उसका यहाँ संक्षेप और भाषा भिन्न है।

उमाशंकर जोशी कई बार कहते थे कि समस्त भारतीय साहित्य साढ़े तीन ग्रंथों से अवतरित हुआ है। 1. रामायण, 2. महाभारत, 3. भागवत् तथा कथा सरित्सागर। कथासरित्सागर के प्रभाव को एक तरह से गुणादय की बृहत्कथा का प्रभाव ही कहा जाएगा। बृहत्कथा तो अब है नहीं किन्तु कथासरित्सागर आदि रूपान्तरों की संरचना और कथनरीति को देखते हुए उसके मूलस्वरूप एवं सामग्री का अनुमान किया जा सकता है।

कथासरित्सागर की संरचना (Form/Structure) सुनियोजित है। उसके नाम के मुताबिक यह कथाओं की अनेक सरिताओं का सागर है। इस परिकल्पनानुसार ग्रंथ का विभाजन 124 तरंगों में है। ग्रंथ के 18 लंबक हैं। फिर कथापीठ, कथामुख, कथा और अंत में उपसंहार है। (संभव है कि बृहत्कथा की भी ऐसी ही संरचना रही हो)

प्रथम लम्बक कथापीठ है, दूसरा कथामुख। प्रथम लम्बक में ग्रंथ के स्वरूप और वर्ण्य विषय की बात है। दूसरे लम्बक कथामुख और तृतीय लम्बक लावण्य में मुख्यतया उदयन की कथा है। तत्पश्चात् कथानक नरवाहनदत्त के जन्म के कारण-नरवाहनदत्त चौथा लम्बक है। यद्यपि यहाँ भी बात उदयन की है। छठे लम्बक से नरवाहन दत्त के पराक्रम और परिणय की कथाएँ शुरू होती हैं। सौ कन्याओं से वह विवाह करता है। प्रत्येक के साथ एक-एक कथा। जिस कन्या के साथ उसका विवाह होता है, उसी के नाम से लम्बक है यथामदनमंचुलालम्बक।

कथा का आरंभ लाक्षणिक रूप से 'भारतीय' है, जो शिवपार्वती के संवाद से होता है। शिव आदि और आदिम Narrator हैं, पार्वती प्रथम उत्सुक श्रोता। अनेक भारतीय कथाओं, लोककथाओं के उद्भावक शिव माने गये हैं। पार्वती शिव से कहती है 'रम्यां काञ्चित् कथां

ब्रूहि देवाद्य मम नूतनाम् ।’

पार्वती को रमणीय और वह भी नई बात सुननी है।

वास्तव में सोमदेव ने अपने कथामुख में गुणाढ्य और उसकी बृहत्कथा के प्रणयन की कथा कही है। सिर्फ पार्वती के लिए कही जाने वाली कहानी शिव का एक गण पुष्पदंत सुन लेता है और पार्वती के शाप का भागी होता है। पुष्पदंत को और उसे क्षमा करने को विनती करने वाली माल्यवान् को मनुष्य योनि में जन्म लेने का शाप मिलता है।

इस शाप से मोक्ष कैसे?

यदि विन्ध्यारण्य में कुबेर के शाप से काणभूति नामक पिशाच के रूप में अवतरित सुप्रतीक दक्ष को यह कथा सुना दी जाय तो न सिर्फ कथम पुष्पदंत की अपितु उसके श्रोता काणभूति की भी मुक्ति हो जायेगी। शापित पुष्पदंत वररुचि और माल्यवान् गुणाढ्य होकर अवतरित होते हैं। फिर वररुचि (पुष्पदंत) काणभूति से (सात लाख श्लोक में सात कथाएँ) कथाएँ कहते हैं और फिर काणभूति ये कथाएँ गुणाढ्य से कहता है। वह पिशाच है और पैशाची भाषा में कहता है, जिसे गुणाढ्य अपने रक्त से पैशाची में लिखता है।

पार्वती की सूचनानुसार इस ग्रंथ का प्रचार हो, तदर्थ गुणाढ्य अपने शिष्यों को इस ग्रंथ के साथ राजा सातवाहन के पास भेजते हैं। एक तो पैशाची भाषा और उस पर रक्त से लिखी। राजा ऐसी कथा को धिक्कारता है। शिष्यों से यह बात सुनकर दुःखी गुणाढ्य निकट के पहाड़ पर एक अग्निकुंड बनाता है और फिर जंगल के पशुपक्षियों के समक्ष अपनी कथा पढ़ता जाता है और एक-एक पन्ना अग्नि को समर्पित करता है। जंगल के सभी जानवर चरना छोड़कर आँसू बहाते हुए गुणाढ्य की कथा सुनते हैं।

राजा को जब इसका पता चलता है तो वह आँसू बहाते हुए पशु-पक्षियों के बीच बैठकर अपनी कथा सुनाते गुणाढ्य के पास जाकर क्षमा माँगकर वह कथा माँगता है। छः लाख श्लोकों वाली छः कथाएँ जब तक जल गई थीं। एक लाख श्लोकों की अवशिष्ट एक कथा गुणाढ्य सातवाहन को देता है और राजा सातवाहन गुणाढ्य के शिष्यों की सहायता से इस कथा का प्रचार करता है। धीरे-धीरे यह कथा सारे भूमंडल में प्रसिद्ध हो गई।

परवर्ती सर्जकों-सुबंधु, कालिदास, बाण, दंडी, आदि ने इस बृहत्कथा का अत्यन्त सम्मान से उल्लेख किया है। यह कथा भारतवर्ष की सीमाएँ लाँघकर अन्य देशों में भी पहुँची। इसके अनेक रूपान्तर-अनुकरण हुए।

वासुदेव शरण अग्रवाल लिखते हैं :

‘गुणाढ्य की बृहत्कथा एक समय व्यास के महाभारत की तरह हमारे देश के काव्य और कथासाहित्य पर छाई हुई थी, सही अर्थों में वह भारतीय वाङ्मय की अद्भुत रचना थी।’

आधुनिक संस्कृतज्ञ ए.ए. वार्ड ने अपने ग्रंथ Indian Kavya, Literature के दूसरे भाग में बृहत्कथा को मात्र Novel ही नहीं greatest Indian Novel तक कहा है।

वार्ड के मतानुसार पहली बार एक गद्य कथा में महाकाव्य का विस्तार और क्षेत्र समेटा गया है। इसकी भव्य और मृदु-मंथर रीति, सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्यौरे, विविध भावों तथा रसों का निर्वाह और वह भी अधिकतम यथार्थ के साथ जिस-समय वीरत्व का स्थान वाणिज्य, कला और विज्ञान ने ग्रहण किया उस समय के अनुरूप बृहत्कथा एक आधुनिक महाकाव्य (Great Epic) थी, जिसके स्वप्न सब देखते हों ऐसी सफलता की एक महान कहानी (Great Story) थी मारों वह उदात्त नायक और अलौकिक आदर्श वाले रामायण को अतिक्रमित करने के लिए आई थी।

वार्ड ने यह भी कहा कि गुणाढ्य की कथा का अतिमानवीय तत्त्व और कथा का उद्देश्य

अति विश्व से जुड़े होने के बावजूद बृहत्कथा का निकटतम रूपान्तरण पढ़ने पर जो छाप पड़ती है वह उसमें निहित यथार्थ (realism) की है।

सामान्य तौर पर 18-19वीं सदी में पश्चिम में उपन्यास का जो रूप विकसित हुआ, उसमें सर्वाधिक जोर इस यथार्थ तत्त्व पर है, और वार्डर को यह पहली शती भी बृहत्कथा में और उसके चरित्रचित्रण में और उसमें आने वाल छल, लूटपाट और कपट के प्रसंगों में देखने को मिलता है। वार्डर तो आधुनिक Science fiction के साथ इसकी तुलना करता है।<sup>2</sup>

गुणादय की बृहत्कथा के साथ पादलिप्ताचार्य की प्राकृत कथा 'तरंगलोला' की चर्चा भी की जानी चाहिए। यह रचना भी मौलिक बृहत्कथा की तरह भूलोक से लुप्त हो गई है किन्तु 'तरंगवती' नाम से उसका एक संक्षिप्त रूपांतर, जो लगभग विस्मृत हो चुका था उसका, 1921 में लोयमेन ने जर्मन में अनुवाद किया। उससे साहित्यिक गुणों वाली इस अद्भुत कथा की ओर साहित्यिक रसिकों का ध्यान गया।

(इस जर्मन अनुवाद से गुजराती में इसका अनुवाद नरसिंह भाई पटेल ने किया है। डॉ. हरिवल्लभ भायाणी ने तरंगवती की मूल प्राकृत रचना से 1998 में इसी नाम से गुजराती अनुवाद किया है।)

यदि पादलिप्ताचार्य को सातवाहन की सभा का राजकवि होने की जनश्रुति मान लें तो वह एक तरह से बृहत्कथा के रचयिता गुणादय के समकालीन सिद्ध होते हैं। इस तरह मूल तरंगलोला का रचनाकाल ई. सन् की पहली शती के आस-पास स्थिर होता है। हालाँकि अब तो तरंगवती के आधार से ही इस रचना की अद्भुत सर्जनक्षमता का अनुमान किया जा सकता है।

तरंगवती की संरचना देखें तो आरंभ में मंगलवाचन के बाद संक्षेपकर्ता की भूमिका है उसके बाद अन्य कथाओं की तरह कथापीठ और कथामुख हैं। कथापीठ में सुव्रता नामक गणिनी (साध्वी) के गोचरी (भिक्षा) के लिए निकलने पर उसकी रूप प्रभा से विस्मित महालय की सेठानी कहती है : 'आज मेरी आँखें तो तेरा रूप देखकर धन्य हो गईं। किन्तु मेरे कान तेरी जन्मकथा सुनना चाहते हैं।' कथामुख में आर्या सुव्रता, (पूर्वजन्म की तरंगवती) अपनी आत्मकथा कहती है : तरंगवती नगरसेठ की कन्या थी, तरुणावस्था में अनेक कलाओं में वह निपुणता प्राप्त करती है। एक बार शरदऋतु में उद्यानविहार करते समय उसे पूर्वजन्म का स्मरण होता है कि पूर्व जन्म में वह चकई थी और अपने प्रियतम चकवा के मारे जाने पर मरण को प्राप्त करती है। इस स्मृति के साथ ही उसे लगता है कि उसका प्रियतम भी मनुष्य के रूप में जन्म होगा और वह उसकी खोज शुरू करती है। खोज सफल होती है। दोनों प्रेमी मिलते हैं। नगरसेठ अपनी कन्या सार्थवाह के पुत्र को देने के लिए राजी नहीं होते तो दोनों प्रेमी भाग जाते हैं। भीलों द्वारा पकड़ लिए जाने पर चोरपल्ली में उनकी बलि देने की तैयारी की जाती है किन्तु अंत में वे छूट जाते हैं। सगे-संबंधी भी मिल जाते हैं, बाद में, जैन कथा के लाक्षणिक समापन की तरह, अंत में वैराग्य पैदा होने पर दीक्षा ग्रहण करते हैं।

वैसे देखें तो जैन साध्वी बनी तरंगवती अपनी कथा कह रही है इसलिए कृति में जैन धर्म का परिवेश एकदम सहज रूप में आता है, परन्तु तरंगवती स्वयं एक कलाविदग्ध संवेदनप्रवण चरित्र के रूप में प्रकट होती है। साध्वी के रूप में बात करने के बावजूद मानव संवेदनों के और उसमें भी विशेष रूप से प्रणयावेग के कथन में तरंगवती की प्रगल्भता प्रभावित करती है।

कृति में प्रथमपुरुष कथनकेन्द्र का अत्यंत कुशलतापूर्वक निर्वाह हुआ है, विशेष रूप से बालस्मृतियों के निरूपण में। आत्मकथा के साथ पूर्वजन्म के वृत्तान्त को कलात्मक रूप में पिरोकर पादलिप्त संरचनाकाल में भी दक्ष सिद्ध होते हैं।



हरिवल्लभ भायाणी ठीक ही कहते हैं 'पादलिप्त जैसी पात्र की सूक्ष्म और प्रबल रेखाएँ अंकित करने की, कथावस्तु के सक्षम अंशों को पहचान कर उनका मार्मिक निरूपण करने की तथा यथार्थ और आलंकारिक वर्णनशक्ति प्राकृत अथवा संस्कृत कथा-साहित्य में अधिक दिखाई नहीं देती। अनेक स्थलों पर वास्तविक जीवन के संस्पर्श ने 'तरंगवती' को जीवन्त बनाया है. .. 'तरंगवती' को पादलिप्त का अद्भुत और अमर सर्जन कहने में ही उसका उचित मूल्यांकन समाया हुआ है।'<sup>3</sup>

बृहत्कथा का एक महत्त्वपूर्ण अवतार है संघदासगणि वाचक रचित प्राकृत ग्रंथ 'वसुदेव-हिंडी'। बृहत्कथा की रचना के बाद दो-तीन शती के दौरान ही इसकी रचना हुई है। किन्तु भ्रमण कथालेखक ने लौकिक कथा को एक धर्मकथा में रूपांतरित किया है।

भारतीय कथासाहित्य के इतिहास में 'वसुदेव-हिंडी' को जितना महत्त्व मिलना चाहिए, उतना नहीं मिला। इस ग्रंथ में औपन्यासिक तत्त्वों की कमी नहीं है। इस ग्रंथ का संविधान सुविभाजित है :

कहुपत्ती	कथा की उत्पत्ति
पेढिया	पीठिका
महुं	मुख
पडिमुहं	प्रतिमुख
सरीर	शरीर
	उपसंहार

उत्पत्ति, पीठिका और मुख इन तीन विभागों में कथा का प्रास्ताविक है, प्रतिमुख में कथा के नायक वसुदेव अपनी आत्मकथा (वास्तव में पराक्रमप्रचुर भ्रमणकथा) का आरंभ करते हैं। जैसे कथासरित्सागर का 'लंबक' में विभाजन है, प्रत्येक लंबक में कन्या प्राप्ति की बात है वैसे ही 'वसुदेवहिंडी' का भी 'लंब' में विभाजन है। कन्या की प्राप्ति के आधार पर लंब का नामकरण किया गया है; जैसे श्यामाविजया लंबक (सामाविज्या लंबो), श्यामली लंबक (सामली लंबो) ...। कुल 28 लंब संघदास की वसुदेव-हिंडी में हैं। (एक अन्य लेखक धर्मसेन गणि ने इसका दूसरा खंड लिखा है, इसमें 70 लंबक हैं। वसुदेव ने सौ वर्ष भ्रमण किया था, अतः उनकी पत्नियों की संख्या भी सौ होनी चाहिए, ऐसी परंपरा रही होगी। धर्मसेन गणि ने एक सौ की संख्यापूर्ति के लिए इस दूसरे खंड का प्रणयन किया होगा।

'वसुदेव-हिंडी' में प्राकृत 'हिंड' का अर्थ है चलना, परिभ्रमण करना। इस ग्रंथ में वसुदेव ने अपने परिभ्रमणों की कथाएँ कहीं हैं। इन पराक्रम गाथाओं के कहने का उपक्रम भी रोचक है। बुजुर्ग वसुदेव (श्रीकृष्ण के पिताजी ही) जब अपने परिवारजनों के बीच बैठे थे तब उनके पौत्र प्रद्युम्न ने कहा :

'आर्य अपने सौ वर्ष तक भ्रमण करके हमारी मातामहियों को प्राप्त किया। लेकिन साम्ब के अंतःपुर को देखिए। सुभानु के लिए एकत्र की गई कन्याएँ एक साथ साम्ब के साथ ब्याही गईं।'

वसुदेव ने प्रद्युम्न से कहा :

'साम्ब कुएँ के मेंढक जैसा है, जो आसानी से प्राप्त भोगों से संतुष्ट हुआ है। मैं तो मानता हूँ कि मैंने परिभ्रमण करते-करते जितने सुखों दुःखों का अनुभव किया है उतना शायद ही किसी अन्य पुरुष ने अनुभव किया होगा।'

तब प्रद्युम्न ने कहा :

‘अज्जय! कुणह से पासयं, कहह जरा हिंडियत्था।’

(आर्य! मुझ पर कृपा कीजिए, अपने परिभ्रमण की बात कहिए।)<sup>4</sup>

और तब वसुदेव अपना वह भ्रमणवृत्त प्रस्तुत करते हैं, जिसमें उन्होंने पराक्रम करते हुए अनेक मानव और विद्याधर कन्याओं के साथ विवाह किया और भाँति-भाँति के अनुभव प्राप्त किये।

यूरोपीय उपन्यासों का एक प्रकार है Picaresque. novel जिसमें घुमंतु नायक के भ्रमण के साथ-साथ कथा बनती जाती है। वसुदेवहिंडी की तुलना में ये अर्वाचीन हैं। वसुदेवहिंडी में जैन धर्म की अनेक बातें हैं, लेकिन मूलतः वह कथाग्रंथ है। वसुदेव को इस मुख्य कथा में अनेक छोटी-बड़ी कथाएँ गूँथ ली गई हैं। बृहत्कथा या कथासरित्सागर में नायक नरवाहनदत्त के पराक्रम की बातें हैं, यहाँ वसुदेव की। लेकिन कुल मिलाकर वसुदेव ...हिंडी बृहत्कथा के गोत्र की कथा है। सी. एच. टोनी (C. H. Tawny) कृत कथासरित्सागर के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में पैजर ने जो बात इस ग्रंथ के लिए कही है, उसे बृहत्कथा के सगोत्र सभी ग्रंथों के लिए प्रयुक्त कर सकते हैं। उन्होंने लिखा है:

“जब हम इस ग्रंथ को देखते हैं, तब इसमें आई हुई हर प्रकार की कथाओं को देखकर मन आश्चर्य से भर जाता है। ईसा से सैकड़ों वर्ष पहले की जीवजन्तु-कथाएँ इसमें हैं। ध्रुलोक और पृथ्वी के निर्माण संबंधी ऋग्वेदकालीन कथाएँ भी यहाँ हैं।

कथासरित्सागर, अलिफलैला की कहानियों के मूल रूप इसमें हैं। इसके द्वारा न केवल इरानी और तुर्की लेखकों को, बल्कि बोकेशियों, चॉसर एवं लॉ फीन्तेन जैसे अन्य लेखकों के द्वारा पश्चिमी संसार को भी अनेक कल्पनाएँ प्राप्त हुई हैं। सोमदेव ने सोचा होगा कि जैसे हिमालय से आई हुई अनेक धाराएँ आगे-पीछे बहती हुई समुद्र में पहुँच जाते हैं, वैसी ही छोटी-कड़ी कहानियाँ इस महाग्रंथ में इकट्ठी हो जाएँ और सच्चे अर्थ में कहानी रूपी नदियों का सागर बन जाय। कथासरित्सागर के रूप में कल्पना ने एक ऐसे महान कथासागर की सृष्टि भी की है जिसमें अद्भुत कन्याओं और उनके साहसी प्रेमियों, राजाओं तथा नगरों, राजतंत्र और षड्यंत्र, जादू और टोने, छल और कपट, हत्या और युद्ध, पशु-पक्षियों की सच्ची और गढ़ी हुई कहानियाँ एवं भिखमंगे, साधु, पियक्कड़, जुआरी, वेश्या, विट और कुट्टनी आदि सभी की कहानियाँ एकत्र हो गई हैं। ऐसा यह कथा सरित्सागर भारतीय कल्पना जगत का दर्पण है। जिसे सोमदेव भावी पीढ़ी के लिए छोड़ गए हैं।”<sup>5</sup>

भारतीय कथा परंपरा में बौद्ध जातकों का स्थान महत्वपूर्ण है। यद्यपि इन कथाओं को ‘वसुदेव-हिंडी’ की तरह धर्मकथाओं के अंतर्गत रखा जाता है, किन्तु इन कथाओं का गोत्र बृहत्कथा से एकदम भिन्न नहीं है।

जातक कथाओं में बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाएँ हैं। इन कथाओं में बुद्ध, जिनको पूर्वजन्म में बोधिसत्त्व कहते थे, या तो कथानायक होते हैं, या कथा का कोई चरित्र या सिर्फ द्रष्टा। इन कथाओं में धर्म का थोड़ा-सा ही रंग है, वास्तव में धर्म के चौखट्टे में लोककथाएँ, प्राणीकथाएँ और रोमांटिक कथाएँ ही प्रस्तुत की गई हैं।

पालि भाषा में रचित जातक कथाओं का जो रूप आज हमें मिलता है, वह ईसा की पाँचवी शताब्दी का है, जिसका मूल रूप ईसा पूर्व दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में प्रचलित रहा होगा। जातकों की संख्या 500 के करीब है। प्रत्येक जातककथा का एक निश्चित ढंग का आरंभ है, निश्चित प्रकार का अंत है। प्रत्येक जातक कथा के पाँच अंग होते हैं :

1. पच्युपन्नवत्थु (प्रत्युत्पन्न वस्तु) वर्तमान की कथा

- |                          |                 |
|--------------------------|-----------------|
| 2. अतीववत्थु (अतीतवस्तु) | भूतकाल की कथा   |
| 3. गाथा                  |                 |
| 4. वेय्याकरण (व्याकरण)   | गाथा का अर्थघटन |
| 5. समोधान (समवधन)        | अर्थात् संबंध।  |

वर्तमान की कथा में बुद्ध ने भिक्षुओं को जिस प्रसंग पर यह बात कहीं उसका उल्लेख होता है। भूतकाल की कथा में बुद्ध के किसी पूर्वजन्म की कथा गद्य में कही जाती है। यही है जातक। फिर प्रसंगानुरूप गाथा और उसकी व्याख्या और अंत में अतीत में आने वाला पात्र वर्तमान में (जब बुद्ध कथा कर रहे होते हैं) बुद्ध और उनके शिष्यों में से कौन है, इसकी पहचान करायी जाती है।

इस प्रकार 'स्वरूप' की दृष्टि से निश्चित होने पर भी विस्तार की दृष्टि से कोई जातक कथा एक या दो पृष्ठों की होती है, तो कोई सौ-डेढ़ सौ पृष्ठों की, बिल्कुल उपन्यास की तरह।

जातक कथाएँ अनेक हाथों की रचनाएँ हैं। अनेक कथाएँ ऐसी हैं, जिनका बौद्ध धर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। बौद्ध भिक्षुओं ने जनसाधारण में प्रचलित लोककथाओं, दंतकथाओं और अन्य प्रचलित कथाओं को इसमें समाविष्ट करने का आग्रह रखा है।<sup>6</sup>

पूर्वजन्म की कथाओं में चमत्कार का अंश है, किन्तु इनमें कहीं-कहीं यथार्थ जीवन के प्रश्नों का मार्मिक चित्रण भी है। इन कथाओं में समकालीन समाज की रीतिनीति का अवलोकन है। यहाँ जनसाधारण की जीवनयात्रा के साथ पशु-पक्षियों की कथाएँ संमिश्रित हैं। सभी में वास्तविकता का संस्पर्श है, फलतः ये उतनी ही रसप्रद भी हैं।

सभी कथाओं में नायक बोधिसत्त्व हैं। ऐसा नहीं है कि बोधिसत्त्व राजकुल या उच्चकुल में ही अवतार लेते रहे हों। अनेक कथाओं में वे निम्नकुल के हैं। एक कथा में तो वे चोरों के सरदार भी हैं। जातक कथाओं में विशेषता यह है कि उस समय की अन्य कथाओं में जिस यथार्थ का प्रायः अभाव है, वह इनमें पाया जाता है।

'बंगसाहित्येर उपन्यासेर धारा' के लेखक श्रीकुमार बंद्योपाध्याय का तो कहना है कि 'इहादेर मध्ये उपन्यास लेखकेर मनोभाव (mentality) सम्पूर्ण भावे प्रकट।' बीसवीं सदी के अंतिम वर्ष में उपन्यास की चर्चा करते समय इस लेखक का निम्नलिखित अभिप्राय ध्यान देने योग्य है। उन्होंने लिखा है:

'इन जातक कथाओं में उपन्यास के उपादानों का प्राचुर्य देखकर ऐसा लगता है कि परवर्ती समय में यदि इन कथाओं की धारा अक्षुण्ण और अखंडित हो रही होती और यथार्थ के साथ निबिड़ स्पर्श में बाधा न उत्पन्न हुई होती तो शायद हम ही (भारत के लोग) उपन्यास स्वरूप के आविष्कार का गौरव प्राप्त कर सके होते और यदि ऐसा न हुआ होता तो उपन्यास को हमारे साहित्य में विदेशी भाव से विकृत होकर प्रवेश नहीं करना पड़ता।'<sup>7</sup>

प्राचीन भारतीय कथासाहित्य में बृहत्कथा के उपरान्त यदि कोई दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, तो वह है सातवीं शताब्दी में बाणभट्ट द्वारा रचित कादम्बरी। कादम्बरी और उनके जैसी अन्य प्रविष्ट कथाओं को 'गद्यकाव्य' की संज्ञा दी गई है। छंद को छोड़कर काव्य (Poetry) के सारे उपादान यहाँ विद्यमान हैं। ऐसी रचनाओं के लिए आख्यायिका, कथा, खंडकथा, परिकथा, कथानिका (अग्निपुराण), सकल कथा (आनंदवर्धन)जैसे नाम भी प्रचलित थे, जिनमें मुख्य दो हैं : कथा और आख्यायिका। भामह (700-800), दंडी (750), रुद्रट (825-900) विश्वनाथ आदि संस्कृत आलंकारिकों ने कथा-आख्यायिका के स्वरूप की चर्चा की है। तदनुसार, कथा में विषयवस्तु कल्पित होती है। ('कथा कल्पितवृत्तान्ता') जब कि आख्यायिका उपलब्ध वस्तु

पर आधारित होती है। ('सत्यार्था आख्यायिका मता') कथा में नायक के सिवा अन्य किसी व्यक्ति के द्वारा कथा प्रस्तुत होती है। आख्यायिका में नायक स्वयं कथा प्रस्तुत करता है। कथा यदि विभाजित होती है, तो विभाजक को 'लंबक' या 'लंबक नाम दिया जाता है, आख्यायिका में 'उच्छ्वास' नाम दिया जाता है। कथा संस्कृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में भी हो सकती हैं, आख्यायिका सिर्फ संस्कृत में। आख्यायिका में कविवंश का वर्णन भी होता है।

हम देख सकते हैं कि ये सारे लक्षण अधिकतर तो बाहरी हैं। दंडी भी यही कहते हैं कि ऐसे भेद कृत्रिम हैं 'अन्यो वक्ता स्वयंवेति कीदृक्वा भेद लक्षणम्?' कृति का विभाजन लंबक के नाम से हो या 'उच्छ्वास' नाम से हो, उसमें भी क्या फर्क पड़ता है? दंडी कहते हैं कि गद्यकाव्य का कथा और आख्यायिका वास्तव में एक प्रकार की (जाति) हैं, दो संज्ञाएँ दी गई हैं। तत्कथारख्यायिकेत्यिका जातिः संज्ञा द्वयाङ्किता। दंडी ने स्वयं अपने सिद्धान्तों की परिपूर्ति अपने ही विशिष्ट कथासर्जन 'दशकुमारचरित' से की, जो कथा-आख्यायिका दोनों के लक्षणों से युक्त है।

कुछ भी हो, बृहत्कथा से भिन्न कथा किस प्रकार के रूप में 'गद्यकाव्य' से अभिहित रचनाओं को देखा जाता रहा। साहित्य के पंडितों ने इस स्वरूप की अधिक सराहना भी की क्योंकि 'साहित्यिकता' की दृष्टि से बृहत्कथा आदि से ये कथाएँ अधिक समृद्ध हैं।

इनकी अधिक 'साहित्यिकता' का कारण क्या हो सकता है? जब कि ये कथाएँ भी अपनी बृहत्कथा के लोक कथाओं से लेती हैं। वस्तुतः ये कथाएँ, गद्य में लिखी जाने पर भी अलंकृत कविता के सारे लक्षणों से सम्पन्न होती हैं। अर्थात् इनमें समासप्रचुरता, श्लेषबहुलता, दीर्घ वर्णनों की अतिशयता और अलंकारों की इतनी अधिकता होती है कि श्लोकनिबद्ध कविता से भी कई बार ये गद्य कथाएँ अधिक 'कविता' हो जाती हैं। 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' उक्ति अलंकारों के भार से झुकी-झुकी-कथाओं के सन्दर्भ में प्रचलित हुई होगी।

एक बात और भी है। बृहत्कथा और इसकी सगोत्रीय कथाओं की प्रस्तुति की परम्परा अधिकतर तो मौखिक रही होगी। 'प्राप्यावन्तीमुदयनकथा कोविदाग्रामवृद्धान्' कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी के वर्णन के प्रसंग में उदयन की कथा कहने वाले निपुण ग्रामवृद्धों का उल्लेख किया है। कथाकथन की लोकप्रिय मौखिक परंपरा का इसमें निर्देश है। मौखिक कही जाने वाली कथाओं में काव्य की सरसता की अपेक्षा तो अवश्य रहती है लेकिन सबसे प्रथम शर्त है उसकी सद्यः संक्रमणक्षमता। उसका सरल होना आवश्यक है। निरक्षर श्रोता भी उसका आस्वाद ले सकते थे। दूसरी ओर वासवदत्ता या कादम्बरी जैसी कथाएँ (गद्य काव्य) पाठ्य ही रही होंगी, इतना ही नहीं उनका पाठकवर्ग उन्नतभ्रू और इसी कारण सीमित रहा होगा। साहित्य-जगत में प्रतिष्ठा इन गद्यकाव्य कही जाने वाली कथाओं को अधिक मिली है।

ऐसी कथाएँ आज बहुत कम शेष रही हैं, जिनमें अन्यतम है कादम्बरी। कादम्बरी के पहले सुबन्धु की वासवदत्ता-दंडी की दशकुमार चरित (अवन्ति सुंदरी) कथा प्रसिद्ध है। इस तरह से सुबन्धु, बाण और दंडी संस्कृत गद्यकाव्य के स्वामी (Masters) हैं, एक 'तिलकमंजरी' के रचयिता धनपाल (तेरहवीं सदी में) भी हो गये हैं।

मध्यकाल में भारतीय आर्यभाषाओं में जो अनेक कथाएँ आईं उनमें भालण जैसे विरले ही कादंबरी को लाने वाले हैं। अधिकतर तो श्यामल भट्ट सदृश 'सिंहासन द्वित्रिंशिका (सिंहासन बत्तीसी)' या 'वैताल पंचविंशति' (बैताल पचीसी) अथवा 'शुकसप्तति' (सूडा बहोतरी) के रूपान्तरकर्ता ही हैं।

अठारहवीं उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य भारतविदों (Indologist) और संस्कृतज्ञों ने इन

अद्भुत कथाओं की जानकारी विश्व को दी। हम भारतवासियों को भी अपनी विरासत का भान कराया। लेकिन विण्टरनिट्ज हों या कीथ (कादंबरी के संपादक) पीटर्सन हों या मैकडॉनलये सभी विद्वान अपने पाश्चात्य साहित्यिक मानदंडों से इन कथाओं का परीक्षण-मूल्यांकन करने में गलती कर गए। खेद की बात तो यह है कि उनके अभिप्रायों से प्रभावित होकर अनेक भारतीय संस्कृतज्ञ भी इनकी बातों को दुहराते रहे। वासवदत्ता, कादम्बरी आदि कथाओं को पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने पाश्चात्य कथारूपों की श्रेणी में से उठाकर Prose-romance जैसा एक भ्रामक नाम दिया, जो अब तक प्रचलित है। इस प्रकार उन्नीसवीं शती के पाश्चात्य साहित्यिक निकषों से सातवीं-आठवीं शती के भारतीय कथाओं का मूल्यांकन होतर रहा।

पश्चिमी देशों में तो प्राचीन तथा मध्ययुग में हमारे जैसी गद्य कथाएँ थीं ही नहीं। सामान्य कथासंदर्भ में विचार करें तो वहाँ आज का सर्वव्यापी उपन्यास का स्वरूप अभी मात्र दो शती के आयुष्य वाला है। सर्वाटिस की प्रसिद्ध स्पेनिश कथा 'दोन कि होते' (डॉन क्विकज़ोट) को छोड़ दें, डिफो, रिचर्डसन और फिल्लिंग ने अठारहवीं सदी में novel का रूप प्रतिष्ठित किया। देखते-ही-देखते वह इतना लोकप्रिय बना कि सभी साहित्य स्वरूपों से आगे निकल गया। इस नव्य स्वरूप में एरिस्टोटेलियन स्ट्रक्चर के साथ संभाव्यता (Probability) वाला यथार्थ का (realism) निरूपण इसका निकष है। तत्कालीन कृतियों के आधार पर Novel स्वरूप के जो मानदंडों के आधार पर। नॉवेल के यथार्थ को 'कथा' में खोजने से उसकी सही मूल्यांकन में विपर्यय होगा। यूरोकेन्द्री रस-रुचि और विवेचन यूरोपीय देशों द्वारा संस्थापित संस्थानों में प्रतिष्ठित हुए और आज भी वैसे ही हैं। अतः अब आधुनिक दक्षिण अमेरिका के स्पेनिश लेखक माकर्वेज अपना उपन्यास Hundred Years of Solitude लेकर आते हैं तब उनके realism के पूर्व विशेषण जोड़ना पड़ता है Magic (realism)।

सुबंधु विरचित वासवदत्ता कादम्बरी की पुरोगामी कथा है, जिसमें स्वप्नदर्शन, शुक-सारिका संवाद, शाप आदि लोककथा के मोटिफ मिलते हैं, लेकिन यह अलंकृत 'गद्यकाव्य' है। कथा का नायक राजकुमार कंदर्पकेतु एक दिन प्रातःकाल एक स्वप्न में सुन्दर कन्या देखता है और उस स्वप्नदृष्ट कन्या के विरह में व्याकुल होकर उसे पाने के लिए अपने मित्र मकरन्द के साथ निकल पड़ता है। मार्ग में अरण्य में एक जामुन के वृक्ष के नीचे आराम करते समय वे पेड़ पर स्थित शुक सारिका का विवाद और फिर संवाद सुनते हैं, जिसमें शुक कुसुमपुर के राजा श्रृंगारशेखर की पुत्री वासवदत्त के स्वप्नदर्शन की बात करता है। वासवदत्ता ने कंदर्पकेतु का दर्शन किया था। उसने अपनी सखी को कंदर्पकेतु के पास भेजा है और शुक कहता है वह इस समय इस पेड़ के नीचे सो रही है। कंदर्पकेतु और मकरन्द उससे मिलते हैं फिर कुछ शाप आदि विधनों को पार करने के पश्चात् कंदर्पकेतु और वासवदत्ता का विवाह होता है। इस तरह से यहाँ कथातत्त्व तो अति अल्प है, इसमें किसी प्रकार की संकुलता नहीं है और चरित्रचित्रण भी कम प्रभावशाली है, किन्तु सुबन्धु ने अलंकृत गद्यशैली में दीर्घवर्णन कला का सम्यक् परिचय दिया है। नायिका के अंग-उपांग के वर्णन या प्रकृति के रम्य-रौद्र रूपों के वर्णन में सुबंधु की कवि कल्पना का पूर्ण वैभव दिखलाई पड़ता है। सुबन्धु की वर्णनकला को बाण का पूर्वाग्रही हम कर सकते हैं।

कादम्बरी दो युगलों की मर्मस्पर्शी प्रणयगाथा है। एक युगल है कथा की नायिका कादम्बरी और चन्द्रापीड का, दूसरा है महाश्वेता और पुंडरीक का। यह प्रणयकथा विशिष्ट इस अर्थ में है कि वह जन्म-जनमांतर की प्रणय कथा है। कथा में कथानायक चन्द्रापीड के साथ तथा पुंडरीक के तीन-तीन जन्म हैं (चंद्र-चन्द्रापीड-शूद्रक। पुंडरीक-वैशंपायन (मंत्रीपुत्र)वैशंपायनशुक।)

हालाँकि नायिका और उसकी सखी महाश्वेता एक ही जन्म में हैं।

कादम्बरी में बृहत्कथा और वसुदेव हिंडी की तरह कथा में कथा है किन्तु यहाँ प्रथम दो ग्रंथों की तरह कथानायक के एक सूत्र में पिरोये गये मनकों की तरह अलग-अलग-सी कथाएँ नहीं हैं। कादम्बरी में कथानक अत्यंत सुग्रथित है, सिर्फ कथन के ढंग में पेटिका (emboxing) की रीति है।

विदेशानगरी के राजा शूद्रक की राजसभा में एक चंडाली द्वारा आहत शुक मनुष्यवाणी में अपनी कथा कहता है, जिसमें त्रिकालदर्शी जाबालि मुनि आते हैं जो शुक के पूर्वजन्म की कहानी अपने शिष्यों से कहते हैं, जिसमें उज्जयिनी के राजा तारापीड के पुत्र चंद्रापीड की कथा आती है जिसके समक्ष महाश्वेता अपना वृत्तान्त कहती होती है, शुक फिर जाबालि द्वारा कही उस कथा को आगे बढ़ाता है, जहाँ अंत में वह इस समय शूद्रक की राजसभा तक पहुँचा है। शुक की कथा समाप्त होती ही चांडालकन्या शूद्रक से कहती है : 'आप ही चंद्र-चंद्रापीड हैं, मैं हूँ पुंडरिक की माता लक्ष्मी' और इतना कहकर वह आकाश में उड़ जाती है। शूद्रक और शुक के शरीर यहाँ निश्चेष्ट होते हैं और मृत चंद्रापीड और पुंडरिक जीवित होकर कादम्बरी और महाश्वेता को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार यहाँ अतिप्राकृत (Supernatural) वातावरण है, चरित्र भी देवी-अर्धदेवी हैं, घटनाएँ भी चमत्कारिक हैं। कादम्बरी अद्भुत रस की कथा है किन्तु बाण की सिद्धि इसमें है कि इन सबके बावजूद कथा प्रधानतः मानवीय धरातल की है। इस प्रणयकथा में बाण ने मानवीय प्रेम की अनेक भावदशाएँ चित्रित की हैं। साहित्यशास्त्र कथित प्रेम की दसों अवस्थाएँ (दसवीं मरण अवस्था तक) यहाँ आलेखित है। अद्भुत के साथ-साथ शृंगार के चित्रण में भी बाण अद्वितीय हैं। पुंडरिक-महाश्वेता और चंद्रापीडकादम्बरी अन्यान्य के प्रथम दर्शन से किस प्रकार कामपीड़ा का अनुभव करते हैं, इसका आलेखन अद्भुत है। वह कामचेतना सूक्ष्म प्रेम में पर्यवसित होती है। 'ज्ञास्यामि मरणेन प्रति' 'मेरे मरण से मेरा आपके प्रति कैसा प्रेम है वह आप जान सकते हैंहालाँकि मैं मर नहीं सकतीऐसा कहकर वह प्रबल प्रेम की अभिव्यक्ति करती है, और अभिव्यक्ति की यह रीति कितनी अद्भुत है।'<sup>8</sup>

संस्कृत में नायक-नायिकाओं के प्रायः type characters होते हैं, यहाँ एकदम उसका अपवाद नहीं लेकिन प्रथम दर्शन से मर्माहत पुंडरिक को हम भूल नहीं सकते उसके शुक अवतार में भी। और इस कथा की दो कन्याएँ महाश्वेता और कादम्बरी! वे जितनी स्वप्नलोक की हैं, उतनी ही इस धरती की हैं। कादम्बरी का पाठक इन दो सखियों को भूल नहीं सकता, भूल नहीं सकता इन दोनों के अनुपम सख्य को, कादंबरी के वाचक चित्त पर इन दोनों सखियों की छवि कहरी रेखाओं से अंकित हो जाती है, साथ ही दोनों कितनी भिन्न?

(यहाँ डॉ. नामवर सिंह का कथन उद्धृत करने योग्य है, उन्होंने लिखा है : यह कैसी विडम्बना है कि उन्नीसवीं सदी में जब अंग्रेज 'ओरिएंटलिस्ट' कादम्बरी, कथासरित्सागर, पंचतंत्र जैसी भारतीय कथाओं में पागल थे, स्वयं भारतीय लेखक 'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल' लिखने के लिए व्याकुल थे। ये हैं उपनिवेशवाद (संस्थानवाद) के दो चेहरे।'<sup>9</sup>

बाण की कथा की अनन्यता उसके वर्णनों में है। प्रायः अन्य भारतीय कथाओं की भी एक विशेषता उसकी वर्णनप्रधानता रही है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं : 'बाणभट्ट एक-एक चित्र तैयार करते हुए कहानी कहते हैं, दूसरे लोग घटनाओं के वर्णन से कहते हैं। समस्त कादम्बरी काव्य एक चित्रशाला है।' वे कहते हैं : 'यद्यपि बाण कहानी कहने जा रहे हैं किन्तु भाषा के विपुल गौरव को कम करके कहीं भी अपनी कहानी को दौड़ाते नहीं हैं। 'संस्कृत भाषा को वे अनुचरों

से घिरे सम्राट की भाँति आगे बढ़ाते हैं, कहानी तो उसके पीछे लुकती-छिपती मात्र छत्र को ढोती हुई चलती है।”<sup>10</sup>

संस्कृत भाषा का सम्पूर्ण वैभव कादम्बरी में देखने को मिलता है। वेबर जैसे पाश्चात्य संस्कृतविदों ने बाण के गद्य को ‘भारतीय जंगल’ की उपाधि दी है जहाँ प्रवासी को अपना मार्ग खुद तय करना पड़ता है और वहाँ भी अपरिचित शब्दों के वन्य जानवर उसे डारते रहते हैं। वास्तव में ये पश्चिमी साहित्यिक बाण को नहीं समझे। बाण की कादम्बरी लोककथा और प्रशिष्ट साहित्यकला का एक अद्भुत संगम है।

गुजराती में गोवर्धन सरस्वतीचंद्र की रचना अंग्रेजी नॉवेल के आदर्श के अनुरूप भले करते हों, अनेक स्थलों पर वे कादम्बरी की वर्णनशैली का अनुसरण करते हैं। सरस्वतीचंद्र भाग-2 में ‘जंगल, अँधेरी रात और सरस्वतीचंद्र’ जैसा प्रकरण देखने से प्रतीत होता है कि गोवर्धन राम ने भारतीय कथासाहित्य की एक श्रेष्ठ रचना-परंपरा को किस तरह आत्मसात् किया है। कादंबरी में बाणभट्ट ने धार्मिक द्रविड़ का जो वर्णन किया है, गोवर्धन राम ने बाण के ही शब्दों में सरस्वतीचंद्र भाग-4 में ‘एक ब्राह्मण’ का आलेखन किया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ में बाण के ही शब्दों में वृद्ध पुजारी का वर्णन किया है। गुजरात के प्रसिद्ध कवि न्हाणालाल ने ‘जगत कादंबरियों में सरस्वतीचंद्रनुं स्थान’ नामक अपनी पुस्तक में कादंबरी शब्द को उपन्यास के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है।<sup>11</sup>

यहाँ संक्षेप में बाण की दूसरी कृति ‘हर्षचरितम्’ का उल्लेख करना चाहिए। ‘हर्षचरितम्’ को स्वयं बाण ने आख्यायिका कहा है। हमने देखा कि दंडी ने इस कथा-आख्यायिका के भेद को स्वीकार किया है, लेकिन हर्षचरितम् अपने ऐतिहासिक आधार के कारण कादम्बरी को अवश्य अलग स्वरूप रखता है। यह शुद्ध रूप से ऐतिहासिक चरित नहीं है, है गद्यकाव्य ही यह और जैसा कि वासुदेव शरण अग्रवाल कहते हैं उसी तरह काव्य के ढंग से बाण ने हर्ष के जीवन, उनके व्यक्तित्व, समकालीन कुछ घटनाएँ और सम्बन्धित पात्र, इत्यादि बातों का काव्यमयी शैली में वर्णन किया है। उसका आरंभ पौराणिक कथा के ढंग पर (ब्रह्मलोक में खिले हुए कमल के असन पर ब्रह्मा बैठे हैं) शुरू होता है। आठ उच्छ्वास के इस ग्रंथ में प्रथम ढाई उच्छ्वासों में बाण ने अपना जीवनवृत्त दिया है। यह इस ग्रंथ की एक विशेषता है।<sup>12</sup> हर्षचरित में हम परवर्ती ऐतिहासिक उपन्यास का प्राक् रूप (Pre-historical novel) देख सकते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अर्वाचीन युग में ‘बाणभट्ट की आत्मकथा’ (1946) जैसा उपन्यास में लिखा, जिसके प्रेरणा स्रोत हर्षचरितम् में देख सकते हैं।

दंडी का दशकुमारचरित सातवीं-आठवीं शताब्दी में लिख गया माना जाता है। दंडी दक्षिण भारत के पल्लवकालीन रचनाकार हैं। विद्वानों के मतानुसार दशकुमार वास्तव में अवन्तिसुन्दरी नामक दीर्घकथा का ही अंश है। (वार्डर अवन्तिसुन्दरी को मूल कथा मानते हैं।)

तो भी दशकुमार का कथासंघटन अपने आप में पर्याप्त है। तीन भागों में कथा विभक्त है। पूर्वपीठिका, दशकुमार की प्रधानकथा और उत्तर पीठिका।

राजकुमार राजवाहन के नेतृत्व में दिग्विजय के लिए निकले दशकुमार एक आकस्मिक घटना में नियतिवश एक दूसरे से अलग हो जाते हैं और भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भ्रमण करते हैं। नियति उनको फिर इकट्ठा करती है। हरेक कुमार अद्भुत अनुभवों का पाथेय लेकर आया है और वह अपनी कथा प्रस्तुत करता है। इस तरह से वस्तुविन्यास को एकत्व प्राप्त होता है। दंडी ने भी गुणाढ्य की कथनरीति को अपनाया है। यहाँ भी कथा में कथा आती है। दंडी ने इन कथाओं की सामग्री पुराणों से, जातक कथाओं से ली है, लेकिन उनको एक समग्रता

प्रदान की है। जहाँ बाण और सुबुन्धु अलंकृत गद्यशैली का प्रयोग करते हैं, दंडी की शैली में लालित्य (दाण्डिनः पदलालित्यम्) होते हुए भी एक प्रकार की सादगी और प्रासादिकता है।

यद्यपि कथा के केन्द्र में अवन्ति और मगध हैं फिर भी दशकुमार का भौगोलिक व्याप आश्चर्यजनक है। कुमार विभिन्न राज्यों में गये हैं, अतः लेखक कांची का होते हुए भी एक ही कथा कांची से संलग्न है। यहाँ गुजरात की वलभी है, उत्तरप्रदेश की मथुरा-वाराणसी हैं, आज के महाराष्ट्र, उड़ीसा, केरल, बिहार के नगर भी हैं। दंडी ने अनेक प्रकार के पात्रों और प्रसंगों की उद्भावना की है। यहाँ आदर्श राजा है, वफादार मंत्री हैं, मित्र हैं, वत्सल माताएँ हैं और शत्रुओं का भी अभाव नहीं है। यहाँ राजकुमार के शिक्षावर्णन के साथ गणिकाओं के प्रशिक्षण की बात है। राजा की दैनिकचर्या के साथ पाकशास्त्र और चौर्यशास्त्र की भी बात है। दंडी का दृष्टिकोण नीति-निरपेक्ष (amoral) है। उसके नायक असत्यभाषण, चोरी, हत्या, व्यभिचार से मुक्त नहीं हैं। दंडी नाक-भौं सिकोड़नेवाले शुचिवायु कथाकार नहीं। उनका एक चरितनायक मातृगुप्त अपनी कथा ओष्ठ्यवर्णों को विवर्जित करके कहता है, उसके होठों को उसकी प्रियतमा के दंतक्षतों ने विक्षत किया है! दंडी अति प्राकृत घटनाओं से युक्त एक मनोरंजक कथा तो कहते हैं, अपने समय का यथार्थ सामाजिक दस्तावेज भी प्रस्तुत करते हैं। इस तरह दशकुमार पाश्चात्य novel का सगोत्रीय मालूम पड़ती है।

संस्कृत-प्राकृत में गद्यकथा की दीर्घकालीन परम्परा के साथ-साथ 12 वीं 13 वीं से कुछ थोड़ा आगे-पीछे भले ही, बंगाली, मराठी, हिन्दी, गुजराती आदि आधुनिक आर्य भाषाएँ अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने लगी थीं, साथ ही संस्कृत प्राकृत की परंपरा भी जारी थी। इन नव विकसित भाषाओं में पद्यरचना होने लगी किन्तु साहित्य गद्य आश्चर्यजनक ढंग से लुप्त हो गया। व्यवहार में तो गद्य का प्रयोग रहा ही होगा, किन्तु साहित्य में गद्य का विनियोग नहीं मिलता है। चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी में पूरे देश में भक्ति का प्रचंड ज्वर आया। अनेक संतों, भक्तों तथा धर्म कवियों ने साहित्य को राजाश्रय से मुक्त कराया। इतना ही नहीं साहित्यरचना में समाज के निम्नतम स्तर से आने वाले कवि अभिजात वर्ग के कवियों की बराबरी में रचनारत मिलते हैं। भक्ति-साहित्य के साथ-साथ रामायण, महाभारत और भागवत् अलग-अलग रूपों में रचे गए, साथ ही इन स्रोत ग्रंथों के आधार पर आख्यानादि मौलिक रचनाएँ भी हुईं। गुजराती में नाकर और प्रेमानंद द्वारा आख्यान लिखे गए, जो कथा परम्परा को जारी रखते हैं। जैसा कि बंगाली में स्थानीय देवताओं के प्राचीन प्रसंगों को केन्द्र में रखकर मंगलकाव्य और पांचाली परम्परा की अनेक कृतियाँ। आख्यान, पांचाली या मंगलकाव्य कथा साहित्य के ही रूप हैं।

इस प्रकार देखा जाए तो सदियों पुरानी भारतीय कथा-साहित्य-परंपरा जीवित थी। इसने विश्व कथासाहित्य में एक समय अपना अमूल्य योगदान भी दिया था। परंतु उन्नीसवीं सदी में ऐतिहासिक परिवर्तनों के जब हमारे यहाँ novel आता है तो वह पाश्चात्य साहित्य के एक प्रदान के रूप में आता है। उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी राज, अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी साहित्य के साथ ब्रिटिश उपनिवेश (कॉलोनी) बने भारत में novel आया। देखते देखते देश की समस्त भाषाओं में नवोदित वाचकवर्ग तथा लेखकवर्ग पर वह छा गया।

Novel अंग्रेजी साहित्य में ही नहीं, यूरोप में भी 'नया' था। उसका यथार्थ आविर्भाव वहाँ भी अठारहवीं सदी<sup>13</sup> में हुआ था। ब्रिटिश उपनिवेश बने भारत में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है निबंध, कविता आदि अन्य साहित्य स्वरूपों के साथ उपन्यास आया और लोकप्रिय बना, इसके कारणों में प्रिंटिंग प्रेसों का उदय, परिणामस्वरूप समाचारपत्रों का प्रकाशन और उसके लिए आवश्यक गद्य का आरंभ। मौखिक परंपरावाले इस देश में प्रिंटिंग प्रेस और अखबारों



के कारण एक वाचक वर्ग बनता गया, जिसका उत्सव अवश्य ही ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित शिक्षणतंत्र और शासनतंत्र भी है; फिर भी हमारी भाषाओं के गद्य के विकास में ईसाई मिशनरियों का प्रदान ऐतिहासिक है। ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ मिशनरी आए। ईसाई धर्म के प्रचार हेतु स्थानीय भाषाएँ सीखकर उसमें बाइबिल का अनुवाद करने लगे। बाइबिल छापने के लिए प्रिंटिंग प्रेस स्थापित किया। ई. सं. 1800 में कलकत्ता के समीप श्रीरामपुर में विलियम केरी ने बाप्टिस्ट मिशन प्रेस की स्थापना करके इस प्रवृत्ति के लिए व्यवस्थित तंत्र का निर्माण किया। एक ओर इन मिशनरियों ने तो दूसरी ओर अंग्रेज सरकार भी इस बहुभाषी प्रजा पर अपनी पकड़ मजबूत बनाने के लिए यहाँ की भाषा तथा संस्कृति का परिचय अंग्रेज अधिकारियों के लिए आवश्यक मानने लगी। इसके लिए लार्ड वेलेस्ली ने 1801 में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। उसका उद्देश्य 'वर्नाक्युलर्स' (देशी भाषाओं) का विकास करना भी था तथा सरकारी नौकरी-पेशावालों के लिए पाठ्यपुस्तकों का निर्माण किया था। विलियम केरी यहाँ बंगाली के प्रोफेसर के रूप में और गिलक्रिस्ट हिन्दुस्तानी के प्रोफेसर के रूप में आए और उन्होंने अंग्रेजी, फारसी तथा संस्कृत में अनुवाद कराए, छपवाए। संक्षेप में गद्य निर्मित होने लगा, भले ही 'मिशनरी' छाप।

प्रिंटिंग प्रेस के कारण देशीभाषाओं में भी अखबार शुरू हुए। साथ ही 1835 को अपनी प्रसिद्ध 'मिनिट' में मैकाले ने फारसी तथा संस्कृत शिक्षण को दी जाने वाली सहायता बंद करके उसके बदले में अंग्रेजी शिक्षण का समर्थन किया। English is better worth knowing than Sanskrit and Arabic। हालाँकि मैकाले के 'मिनिट' के पहले ही 1820 में कलकत्ता में अंग्रेजी शिक्षण देने के लिए कुछ हिन्दुओं और कुछ अंग्रेजों ने मिलकर 'हिन्दू-कॉलेज' की स्थापना की। बाद में 1857 में कलकत्ता, मुंबई और चेन्नई (मद्रास) में युनिवर्सिटियों की स्थापना से अंग्रेजी शिक्षण यानी अंग्रेजी साहित्य-शिक्षण का आधार दृढ़ बना। अंग्रेजों की नियत इस देश का विकास करने की ही बिल्कुल ऐसी तो नहीं ही थी। उन्हें तो अपने शासनतंत्र के लिए 'अंग्रेजी बोलने वाले भारतीय' पैदा करना था, हालाँकि परिणाम तो उनकी अपेक्षा के विपरीत ही आया। अंग्रेजी शिक्षण ने हमें स्वतंत्रता के मूल्यों, अपनी अस्मिता के प्रति जागरूक होने का बोध कराया। इसी प्रकार पाश्चात्य भारतविद्याविदों (Indologists) ने हमारी संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं में लिखे गए वेद से लेकर समग्र प्रशिष्ट साहित्य का अध्ययन करके उसे हमारे समक्ष रखकर विश्व को तथा हमें भी यह बताया कि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा कितनी समृद्ध तथा प्राचीन है। (शाकुंतल के अनुवाद ने गेटे जैसों को भी कितना प्रभावित किया था, इस प्रसिद्ध हकीकत जैसे अनेक उदाहरण हैं।) हमारे बहुत से बुद्धिजीवियों में अंग्रेजी के प्रति उनकी साम्राज्यवादी चेतना के कारण आदर होने से भी वे संस्कृत के प्रति जागृत बने। बंगाली में बंकिमचंद्र का प्रकृत उदाहरण है। गुजराती में गोवर्धनराम, मणिलाल का अपनी भाषाओं में गद्य के विकास में आरंभिक काल में संस्कृत के प्रति अभिमुखता का यही एक प्रमुख कारण है। (फारसी-प्रेमी महीपतराम तथा संस्कृतप्रेमी गोवर्धनराम के गद्य की तुलना करके देखा जा सकता है।)

अब उपन्यास की लोकप्रियता पर विचार करने से पहले इस बात पर चर्चा करनी जरूरी है कि अंग्रेजों के संपर्क के कारण किस प्रकार के उपन्यास सर्वप्रथम हमारे यहाँ आए।

ईसाई मिशनरियों ने बाइबिल के साथ-साथ ईसाई धर्म के प्रचार हेतु साहित्य सृजन, ईसाई साहित्य का भारतीय भाषाओं में अनुवाद का काम आरंभ किया। इस संदर्भ में शुरुआत में जो रूपक-कथा हमारे यहाँ आई, वह थीजॉन बनयन कृत The pilgrim Progress। भारतीय

भाषाओं में इसके अनुवाद की घटना रोचक है, इतना ही नहीं हमारे उपन्यासों के आरंभिक दौर के प्रभवक घटकों की भी वह द्योतक है :

तेलुगु : यात्रुकनी प्रयाणम 1793

बंगाली : यात्रिदेर अग्रेसरण विवरण 1821-22

मराठी : यात्रिकक्रमण 1841

मलयालम : परदेशी मोक्षयात्रा 1845

कन्नड : यात्रिकना संचार 1847

पंजाबी : मसीहि मुसाफिर दी यात्रा 1849

असमिया : यात्रिकर यात्रा 1851

उर्दू में भी इसका अनुवाद हुआ। अधिकांश अनुवाद ईसाई पादरियों ने किए हैं। बनयन की इस कथा से प्रेरित होकर ईसाई धर्म में दीक्षित हुए बाबा पदमनजी ने भारतीय भाषाओं में लिखे गए पहले उपन्यास 'यमुना पर्यटन' का 1856 में मराठी में प्रणयन किया। इसमें हिन्दू विधवा की करुण दशा का चित्रण किया गया है। उपन्यास की नायिका विधवा होने के बाद ईसाई धर्म अंगीकार करती है। इसमें निरूपित किया गया है।

अंग्रेजी शिक्षण और साहित्य ने उन्नीसवीं सदी के साक्षर भारतीयों के सम्मुख एक नई दुनिया का द्वार खोला, उसमें भी विशेष रूप से उपन्यासों ने। किन्तु जैसा कि मीनाक्षी मुखर्जी का अवलोकन है कि स्कॉट, डिकन्स और थेकरे में प्रकट होने वाला समाज कृषिप्रधान भारतीय समाज से एकदम भिन्न था। अंग्रेजी शासन ने उस समाज को थोड़ा विशृंखलित किया था। भारत में नई शिक्षाप्राप्त और नगरों में बसने वाले लेखकों द्वारा उपन्यास लिखे जाने लगे, परन्तु डिकन्स, थेकरे की तरह यहाँ के नए नगर जीवन का यथार्थ प्रस्तुत करने हेतु किसी कथास्वरूप की खोज में वे असमर्थ थे। इसलिए डिकन्स, थेकरे के बजाय विल्की कोलिन्स, मेरी कॉरिली, बेंजामिन डिजरायली, बुलवार लिटन तथा जी. डबल्यू एम. रोनाल्ड जैसे लोकप्रिय किन्तु मध्यम दर्जे के विक्टोरियन उपन्यासकारों ने भारतीय लेखकों को अधिक प्रभावित किया। इसके साथ ही डेनियल डिफो के 'राबिन्सन क्रूजो' तथा जोनाथन स्वीफ्ट का 'गुलिवर्स ट्रावल्स' यहाँ खूब प्रचलित हुए और उनके अनेक अनुवाद भी हुए। हमारे रचनाकार इन लेखकों से प्रभावित हुए।

गुजराती का पहला सामाजिक उपन्यास 'सासु बहुनी लढ़ाई' ई. सन् 1866 में लिखा गया, किन्तु महीपतराम के सामने किसी विदेशी उपन्यास का मॉडल हो ऐसा नहीं लगता। समाजसुधार-विशेष रूप से स्त्रियों को योग्य सामाजिक स्थान दिलाने के उद्देश्य से लिखी गई इस कथा में उपन्यास के लिए आवश्यक सामाजिक यथार्थ दिखलाई पड़ता है, किन्तु लेखक ने अपना रचना को कहीं भी उपन्यास (नवलकथा या नॉवेल) नहीं कहा है।

गुजराती उपन्यासकार नंदशंकर ने 'करणघेलो' (1866) की प्रस्तावना में लिखा है 'रसेल साहब के कहने पर 'अंग्रेजी गाथा तथा कथा की तरह कहानी बनाने के ख्याल से 'करणघेलो' की रचना की। उसके मुखपृष्ठ पर अंग्रेजी में Karanghelo, The Last of the Rajput Kings of Gujrat - A Novel लिखा है। नंदशंकर का आदर्श लिटन है, जिसके उपन्यासों के शीर्षक थे 'लास्ट ऑफ द बैरन्स' या 'लास्ट ऑफ द बैरन्स' या 'लास्ट डेज ऑफ पोम्पिआई' इत्यादि। नंदशंकर ने novel के लिए गुजराती में 'वार्ता' संज्ञा का प्रयोग किया है। गुजराती मुखपृष्ठ इस प्रकार है : 'करणघेलो, गुजरातनो छेल्लो राजपूत राजाएक 'वार्ता'। ('करणघेलो', गुजरात का अंतिम राजपूत राजा, एक वार्ता।) प्रस्तावना में भी 'गद्य में लिखी गई वार्ता' ऐसा उल्लेख है। किन्तु उसके मन में तो अंग्रेजी में जो Novel है उस प्रकार की यह वार्ता है। इसकी समीक्षा

करते समय नवलराम भी 'गुजराती में पहला नॉवेल हैग्रंथकार के इस दावे का स्वीकार करते हुए उसके लिए गुजराती पर्याय 'वार्ता' शब्द का ही उपयोग करते हैं। गुजराती में 'नवलकथा' (उपन्यास) संज्ञा का प्रथम प्रयोग करने वाला वास्तव में कोई दक्ष व्यक्ति होना चाहिए।<sup>14</sup> गुजराती में उपन्यास सही अर्थों में तो बाद में आता है गोवर्धनराम के 'सरस्वतीचंद्र' के रूप में। बंगाली में और बाद में इसी के अनुकरण पर असमिया, उड़िया और हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द को लगभग अपना लिया गया। बंगाली में भूदेव मुखोपाध्याय ने कहानी उपाख्यान (story) और (Novel) उपन्यास इन दो संज्ञाओं में अंतर बताया है। उनका 'अंगुरीय विनिमय' बंगाली में प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास माना जाता है यद्यपि बंगाली का प्रथम उपन्यास होने का मान 1858 में प्रकाशित 'आलालेर घरेर दुलाल' को मिलता है। उसकी अंग्रेजी प्रस्तावना में उसके लेखक ने लिखा है : The above original novel in Bengali being the first works of its kind.. और बंगाली भूमिका में 'उपन्यास' शब्द का उपयोग किया है। बाद में बंगाली में 'उपन्यास' को एक साहित्यस्वरूप के रूप में सफलतापूर्वक स्थापित किया बंकिमचन्द्र ने।

बंकिमचंद्र के एक आदर्श वाल्टर स्कॉट हैं। 1865 में 'करणघेलो' से एक वर्ष पूर्व बंकिमचंद्र का उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' प्रकाशित हुआ था। बंकिम ने 1885 तक 14 ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यास लिखकर पहले बंगाली में बाद में समग्र भारत में सनसनी फैला दी। वे सभी भारतीय भाषाओं में पहुँचे। 'दुर्गेशनन्दिनी' की तुलना बहुत से लोग स्कॉट के आइवन्हों के साथ करके उसे novel के बजाय Romance की कोटि में रखते हैं।

मराठी के गद्य के आविर्भाव के साथ-साथ पाश्चात्य और पौरात्य अनुवादों से novel लिखने की शुरुआत हुई। 'पिलीग्रिम से प्रोग्रेस' के अनुवाद के अलावा 'रॉबिन्सन क्रूसो', 'गुलिवरचा वृत्तान्त', 'आइवन्हो' जैसी अंग्रेजी कृतियों के साथ-साथ अरबी भाषेतील सुरसव चमत्कारिक गोष्ठी' (1861, चिपलुणकर), 'हातिमताई', 'सिंहासन बत्तीसी', 'बेताल पचीसी' जैसी अद्भुत रसवाली परम्परागत कथाओं के भी अनुवाद हुए। फिर भी 'आधुनिक मराठी वाङ्मय का इतिहास' में अ. ना. देशपांडे लिखते हैं : 'लघुकथा आणि कादंबरी हे वाङ्मय प्रकार मराठी ने इंग्रेजीपसुन' घेलते।' जबकि भालचंद्र नेमाडे के अनुसार कथा साहित्य का सूत्र भारतीय साहित्य की परंपरा में पहले से ही लोकप्रिय रहा है। इसलिए पंचतंत्र की कहानियों या पेशाची भाषा की कथासरित्सागर (बृहत्कथा) जैसे कथनतंत्र वाले रचना प्रकारों में से 19 वीं सदी में प्रकट 'मध्यवर्गीय कादम्बरी ह्यातली उत्क्रांति सहज स्पष्ट आहे।' <sup>15</sup> (मध्यवर्गीय उपन्यास की उत्क्रांति सहज स्पष्ट है।) 'यमुना पर्यटन' 1856 में लिखी गई, किन्तु बहुत से लोग 1861 में प्रकाशित लक्ष्मणशास्त्री हळबे की अद्भुतरस प्रधान रचना 'मुक्तामाला' को मराठी का पहला उपन्यास मानते हैं। 1871 में लिखा गया गुंजीकर का 'मोचनगड' मराठी का पहला ऐतिहासिक उपन्यास है। बंगाली के बंकिमचंद्र की भाँति मराठी में ह. ना. आपटे अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर मराठी 'कादम्बरी' (उपन्यास) का स्वरूप स्थिर करते हैं। आपटे डिकन्स, थेकरे, स्कॉट, जेन ऑस्टिन और रेनोल्ड्ज के भी पाठक थे। रेनोल्ड्ज के एक उपन्यास के रूपान्तर द्वारा उपन्यासकार के रूप में उन्होंने अपना जीवनकार्य आरंभ किया था।

उर्दू में आधुनिक उपन्यास का लेखनकार्य आरंभ हुआ उससे पहले अरबी की लम्बी दास्तान परम्परा थी, जिसमें रतननाथ सरसार का 'फसाना-ए-आजाद' (1880) अत्यन्त प्रसिद्ध है। दास्तान परंपरा में होने के बावजूद उसकी पृष्ठभूमि समकालीन है इतना ही नहीं मध्यकालीन मानसिकता की विरोधी है। किन्तु इसकी परंपरा से सैंकड़ों मील दूर ऐसा उर्दू का पहला उपदेशप्रधान उपन्यास है नजीर अहमद कृत 'मिरातुल उरुस' (1869)। उर्दू में एक सर्वांगपूर्ण उपन्यास का मान मिलता

है 1899 में लिखे गये मिर्जा रुस्वा के उपन्यास 'उमरावजान अदा' को।

हिन्दी का पहला उपन्यास 1882 में प्रकाशित लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' है जो 'आलाल...' की भाँति उपदेशप्रधान है। हिन्दी में उस समय देवकीनंदन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी के तिलस्मी तथा जासूसी उपन्यासों, विशेष रूप से 'चन्द्रकान्ता' (1892) और 'चंद्रकान्ता संतति' का साम्राज्य विस्तृत होता है। इन कथाओं ने एक विशाल वाचकवर्ग तैयार किया।

यहाँ कुछ भारतीय भाषाओं में उपन्यास की उत्क्रांति का आलेखन मात्र किया गया है, जो कमोवेश 19 वीं सदी में सभी भाषाओं के उपन्यास के आरंभिक विकास का निर्देश करता है।

बृहत्कथा से उपन्यास तक की इन दो हजार वर्षों तक फैली भारतीय साहित्य की कथापरंपरा को देखने से पता चलता है कि यह कितनी समृद्ध तथा बहुआयामी रही है। इसमें संस्कृत-प्राकृत की कथा-आख्यायिका परंपरा है, अरबी-फारसी की दास्तान परंपरा भी है और उसमें अंग्रेजी और पाश्चात्य उपन्यास भी हैं।

उन्नीसवीं सदी में अंग्रेजी उपन्यास के मॉडलों ने उपनिवेशवादी भारतीय लेखकों को इस स्वरूप को स्वीकारने के हेतु आकृष्ट किया है। अतः आज का भारतीय उपन्यास फॉर्म की दृष्टि से मुख्य रूप से पश्चिम की देन है, ऐसा कहा जा सकता है किन्तु भारत की दीर्घ कथापरंपरा भी प्रत्यक्ष-परोक्ष भावतंत्र और कथनरीति के महत्त्वपूर्ण घटकों के रूप में घुली-मिली है, यह नहीं भूलना चाहिए। भारतीय उपन्यास में मात्र बृहत्कथा ही नहीं रामायण, महाभारत, पंचतंत्र जातकादि कथा परंपरा के भी आनुवंशिक लक्षण मिल जाते हैं भले ही यह पश्चिमाभिमुख रहा हो, आज उसकी विशिष्ट भारतीय पहचान है।

(‘भारतीय उपन्यास परम्परा और ग्राम केन्द्री उपन्यास’ नामक पुस्तक से)

## संदर्भ :

1. Without understanding European Sensibility and Indian Sensibility properly, the European model of the novel was imported here. In this context we realise that it was a tragic mistake. If our own form of novel had evolved from our epics it would have been so different and authentic. Sahitya Akademi-Quarterly News letter Jan-March, 199, P. 18.
2. A.A. Warder, Indian Kavya Literature Vol. II (1974) Page 116, 128.
3. तरंगवती (गुजराती) : अनु. हरिवल्लभ भायाणी (1988) प्रस्तावना पृष्ठ IX।
4. वसुदेव हिंडी (गुजराती) प्रथमखंड, अनु. भोगीलाल ज. सांडेसरा, गांधीनगर (1988) पृ. 172।
5. उद्धृत : कथासरित्सागर, अनु. केदारनाथ शर्मा, 'सारस्वत', पटना (1960), प्रस्तावना पृष्ठ. 22।
6. विशेष के लिए देखिए :  
(क) कमलर तंतु, हरिवल्लभ भायाणी, अहमदाबाद, (1979) भूमिका।  
(ख) जातककथा-मंजूषा : हरिवल्लभ भायाणी, अहमदाबाद, (1993)।
7. श्री श्रीकुमार वंद्योपाध्याय, बंगसाहित्ये उपन्यासेर धारा, कलिकाता 1965, पृष्ठ 8।
8. उमाशंकर जोशी ने कादंबरी में बाण के अंतिक शब्दों से शुरू करके 'भट्ट वाण' नाम से एक कविता रची है। 'समग्र कविता' : पृष्ठ 513।
9. अंग्रेजी ढंग का नावेल और भारतीय उपन्यास : साखी (पत्रिका) प्रवेशांक, 1992।
10. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्राचीन साहित्य, गुज. अनु. अहमदाबाद (1976 संस्करण) पृष्ठ 59।

11. "Bana's prose is an Indian wood, where all progress is rendered impossible by the undergrowth until the traveller cuts out a path for himself and where even then he has to reckon with malicious wild beasts in the shape of unknown words."
12. मराठी और कन्नड़ में उपन्यास के लिए 'कादंबरी' संज्ञा रूढ़ हो गई है। गंगाधर पाटिल तथा भालचंद्र नेमाड़े जैसे मराठी साहित्यकारों के मत में मराठी उपन्यास एक ओर अंग्रेजी उपन्यास तथा दूसरी ओर बाण आदि के हासकालीन संस्कृत ग्रंथों का परिणाम है।
13. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946) जैसा उपन्यास, (जिसे ठेठ भारतीय उपन्यास कहा जा सकता है) इस सब सामग्री का उपयोग करके लिखा है, जो भारतीय उपन्यास परंपरा के लिए एक मार्गसूचक स्तंभ के समान है।
14. इआन वाट कहते हैं : Our usage of the term "Novel" was not fully established until the end of eighteenth century. "The Rise of the English Novel: Ian Watt, London (1960) पृ. 10।
15. 'साठीनुं साहित्य' (गुज.) में डाह्याभाई देरासरी लिखते हैं : 'नवलकथा' शब्द 'नवल' अंग्रेजी नॉवेल पर से बनाया गया है और संस्कृत शब्द नवल का उसे आभास प्रदान किया गया है। इस शब्द का इस अर्थ में सर्वप्रथम प्रयोग किसने किया यह ज्ञात नहीं है।
16. भालचंद्र नेमाड़े, टीका स्वयंवर, (1980) पृ. 231।

## भारतीय उपन्यास : एक खोज

परमानन्द श्रीवास्तव

गुजराती कवि उमाशंकर जोशी ने 'उपन्यास में भारत की खोज' शीर्षक अपने आलेख में भारतीय उपन्यास की पहचान की कसौटी के रूप में 'भारत की खोज' जैसे अभिप्राय का उल्लेख किया है। भारत प्रतिमा की खोज को सार्थक परिप्रेक्ष्य देनेवाले जिन उपन्यासों को उन्होंने महत्त्व दिया है, उनमें प्रमुख हैंगोरा (रवीन्द्रनाथ टैगोर) और सरस्वतीचन्द्र (गौवर्धनराम त्रिपाठी)। भारतीय उपन्यास की विकास-यात्रा के अध्ययन की दृष्टि से नमूने के तौर पर उन्होंने जिन कृतियों का विश्लेषण किया है, उनमें महत्त्वपूर्ण हैं आरण्यक (विभूतिभूषण), मैला आँचल (फणीश्वरनाथ 'रेणु') मानवीनी भवाई (पन्नालाल पटेल)। यह चयन संकेत है कि उनकी दृष्टि में एक विशेष अर्थ में आँचलिक उपन्यासों से ही भारतीय उपन्यास की मौलिक पहचान बनती है क्योंकि वे ही भारतीय समाज के गहरे साक्षात् में सबसे अधिक सहायक हैं।

इधर गुजराती के ही एक लेखक-मित्र ने यह जानकारी दी कि उनके यहाँ 'आँचलिक' शब्द की जगह 'जनपदीय' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है, जो 'आँचलिक' से कुछ भिन्न अर्थ देनेवाला है। 'जनपदीय' उपन्यास की यह अवधारणा प्रेमचन्द की परम्परा के निकट है, जहाँ गाँव और शहर की जीवन-पद्धतियाँ कहीं तो अधिक घुली-मिली है और कहीं 'अधिक द्वन्द्वमूलक सम्बन्ध बनाती हैं। उन्होंने प्रेमचन्द के 'गोदान' की तुलना रघुवीर चौधरी के गुजराती उपन्यास 'उपरवास कथात्रयी' के तीसरे खण्ड 'अन्तरवास' से की है, जैसा कि इसी रूप में गुजराती में पहले अकल्पनीय था। यहाँ उपन्यास का एक निश्चित सामाजिक सन्दर्भ है। औपन्यासिक अनुभव की सार्थकता यहाँ वैयक्तिक मनोविकारों के सूक्ष्म अंकन में नहीं, उपन्यास को सामाजिक महत्त्व का दास्तावेज बनाने में है, जिसमें व्यक्तियों का जीवन-राग भी सामाजिक अनुभव है। विनोदवृत्ति और वर्जनामुक्त जीवन का यह आकलन सामाजिक अनुभव का जीवन्त हिस्सा है। उपन्यास का विशेष अर्थ में जनपदीय होना और अन्तर्वस्तु तथा रूपबंध में भारतीय होनाक्या इनमें कोई अनिवार्य संगति है?

आश्चर्य नहीं कि सामाजिक और साहित्यिक रूपों के सम्बन्ध पर पहली बार सार्थक विचार मराठी इतिहासकार और चिन्तक विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने 'कादम्बरी' या 'उपन्यास' (1902) निबन्ध में ही किया था। उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय सामाजिक उपन्यासों का महत्त्व वैयक्तिक सम्बन्धों तक सीमित उपन्यासों से कहीं अधिक था। वे इंग्लैण्ड के सीमित अनुभववृत्तवाले उपन्यासों की तुलना में टाल्सटॉय, ह्यूगो और जोला को अधिक महत्त्व दे रहे थे। याद करें कि वैयक्तिक सम्बन्धों तक सीमित मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी उपन्यास-धारा के लगभग सूख जाने पर हिन्दी में 'आँचलिक उपन्यास' का उदय हुआ। इसके पीछे भारत का स्वाधीनता-संघर्ष था और नई-नई आजादी के खट्टे-मीठे अनुभव थे। शायद भारत की अपनी प्रतिमा खोजने की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक बेचैनी थी। अभी-अभी रेणु पर प्रकाशित पुस्तक 'फणीश्वरनाथ रेणु : व्यक्तित्व, काल और कृतियाँ' में गोपीकृष्ण प्रसाद ने इस सन्दर्भ की ओर ध्यान दिलाया है कि 1942 के आन्दोलन वाले दौर में पन्त की कविता 'भारतमाता' के किन्हीं मधुरेन्द्र द्वारा किए गए सस्वर पाठ ने रेणु को आगे के उपन्यास 'मैला आँचल' के लिए उपयुक्त शीर्षक दे दिया। जिन पंक्तियों की गूँज उपन्यास लिखे जाने तक रेणु के मन में बनी रही, वे थीं : भारतमाताग्रामवासिनी। खेतों में फैला है श्यामलधूल भरा मैला सा आँचलगंगा-यमुना में आँसू जलमिट्टी की प्रतिमाउदासिनी !'

इस रहस्योद्घाटन के सन्दर्भ में 'भारत की खोज' जैसे अभिप्राय या विचार-सूत्र के सहारे भारतीय उपन्यास की पहचान निर्धारित करने के संकल्प की क्या कोई विशेष सार्थकता है? इस विचार-सूत्र की सार्थकता जाँचने के लिए हम यहाँ जिन तीन भारतीय उपन्यासों को मुख्य आधार बनाना चाहेंगे, वे हैं : उपरवास कथात्रयी (रघुवीर चौधरी), रस्सी (तकषी शिवशंकर पिल्लै) और ढोंड़ाय चरितमानस (सतीनाथ भादुड़ी)।

उपरवास कथात्रयी एक विशेष अर्थ में भारत की सच्ची प्रतिमा की खोज में लिखी गई गुजराती ग्रामाँचल की मार्मिक जीवन-गाथा है, जिन में किसान-चेतना और स्त्री-चेतना की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति में ही कहीं सार्थक भारतीय उपन्यास होने की विकलता मौजूद है। उपन्यासकार रघुवीर चौधरी ने इसे 'अँचल की आत्मकथा' कहा है। प्रस्तावना में वे कहते हैं : 'गुजराती साहित्य के साठोत्तरी 'कलावाद' से आक्रान्त हुए बिना, आधुनिक नकार से डरे बिना, मैं अपनी ग्रामीण अनुभव सृष्टि में लौटा। सामाजिक यथार्थ का संकुल चित्रण करने हेतु मैंने अँचल की यह आत्मकथा लिखी।' ग्रामीण अनुभव-दृष्टि ही यहाँ इस आँचलिक महागाथा का चरित्र निर्धारित करती है। आजादी के बाद के भारतीय समाज की प्राणधारा को समझने पर कथाकार का जितना बल है, उतना ही मनुष्य और प्रकृति के सम्बन्ध, मनुष्य के जीवन-राग, क्षुद्र और महान् के द्वन्द्व के सजग आकलन पर भी है।

देश स्वाधीन हुआ पर विभाजन की त्रासदी के साथ। नए भारत के स्वरूप निर्माण में गाँधीजी के आदर्शवाद को जिन विकृतियों का सामना करना पड़ा उन में जातिगत अस्मिताओं का आपसी संघर्ष मुख्य था। चौधरी, गरासिया, कुम्भार, सुथार, हरिजनों में से डेढ़, भौंमी, शोनाया, भंगी जातियाँ। अशिक्षा थी, असमानता थी और असंख्य विकृतियाँ थीं। कभी सेवादल, कभी किसान-संगठन। समाज को जाग्रत रखने के प्रयत्न। देबू और लवजी। रमणलाल और वालूभाई। हेती और जैमिनी। सबको इस समाज की विकृतियों से लड़ना है। घृणा का रास्ता छोड़कर। प्रेम और राग के बल पर। उपन्यास के राजनीतिक सन्दर्भ में स्वाधीनता संघर्ष भी शामिल हैं। 1937 में काँग्रेस की जीत। किसान समिति का गठन। अहिंसक आन्दोलन। सत्याग्रह। मूल्यचेतना का उदय। आजादी के बाद भ्रष्टाचार का विस्तार, अनेक स्तरों पर। दुनिया को

शीतयुद्ध से मुक्त रखने के नेहरू के प्रयत्न। नेहरू की विचारधारा और भारत के ग्रामीण समाज के बीच का अन्तराल। क्षेत्रीय अस्मिता। महा गुजरात का स्वप्न। प्रज्ञाभारती और श्रमशिविर। कृषि-संस्कृति के अपने मूल्यों के लिए देवू और आगे लवजी का संघर्ष। चुनाव की राजनीति। स्वतन्त्र पार्टी और दूसरे संगठन। युवा पीढ़ी मोहभंग। असन्तोष की चेतना। प्रगतिशील किसान और भारत का भविष्य। साम्प्रदायिक दंगे। गाँधी शताब्दी वर्ष में काँग्रेस का विभाजन। 'खेत के बीचोंबीच खड़े देवू का ध्यान पक्षी की ओर जाता है। वह अपने घोंसले तक पहुँचे, इसके पूर्व ही सूरज दादा अस्त तो नहीं हो जाएँगे?' उपन्यास का अन्त इसी दृश्य से है। क्या इसके विशेष राजनीतिक निहितार्थ हैं?

मनुष्य और प्रकृति के रागात्मक सम्बन्ध की चेतना रघुवीर चौधरी की उसी ग्रामीण अनुभव-दृष्टि का हिस्सा है, जो उन्हें कलावाद से विमुख करती है और सामाजिक यथार्थ के वृहत्तर साक्षात् के लिए तैयार करती है। शुरू में ही नरसंग का प्रकृति के साथ रिश्ता यह है 'बछड़े की जीभ की अपेक्षा बुढ़ऊ की हथेली कुछ ज्यादा ही खुरदुरी थी। वह चाटता रहा और बुढ़ऊ खड़े रहेआम के पेड़ की तरह।' नहाती हुई हेती की आत्मगुंथता में प्रकृति-संवेदना शामिल है 'आषाढ़ की वर्षा से सफेद मिट्टी की तरह उसकी देह जैसे पहले चमकी, फिर सुगन्धित हो उठी थी।' याद आता है ताराशंकर का उपन्यास गणदेवता, जिसमें चरितनायक के हर नए प्रस्थान की प्रेरणा प्रकृति है। देवू-लवजी पगडण्डी पकड़ कर जाते हैं तो 'बाजरे की पूलियों की गन्जियाँ खेतों के बीच सर उठाए' ध्यान आकृष्ट करती हैं। यहाँ उपरवास में भी गँवई संवेदना में शहर का हस्तक्षेप है अपनी व्यापार-दृष्टि, धनलिप्सा और मूल्य-क्षय के साथ। हेती साबरमतीवाले पुल से गुजरती है तो उसे ईसा मसीह की छाती में लगी कीलें उसी नदी के पुल में दिखाई देती हैं! उपरवास में हेती और ईजूजैसी स्त्रियाँ अपनी कोमलता में अपने दाम्पत्य जीवन-राग में भीतर से बहुत समृद्ध दिखाई देती हैं पर जो चरित्र अपनी प्रखरता और जटिलता में देर तक मन पर टिके रहनेवाले हैं, वे हैं तखत और जैमिनी जैसे स्त्री-चरित्र। जैमिनी एक तरह से नई स्त्री की पहचान है यद्यपि यह उसके व्यक्तित्व की मूल कल्पना के प्रतिकूल है। वह जो लवजी से प्रेम करती है और लवजी के लिए मोगरे की गन्ध है, लवजी को शान्ति के लिए सहज ही मुक्त कर देती है क्योंकि उसे 'माँगा हुआ भविष्य' नहीं चाहिए। वह-जो शान्ति से कह सकती है 'लवजी भले कृष्ण न हो किन्तु में राधा हूँ, यह निश्चित मानना। मैंने ही उसे चाहना सिखाया है, तभी तो वह तुम्हें चाहता है? उसकी परिणति नवीनता के समस्त शुभ संकल्पों की पराजय है। नई स्त्री-चेतना का भविष्य क्या यही है? 'एक नीच ट्रेजेडी'! कार दुर्घटना में मृत्यु, दूसरी ओर यौन-विकृति के लिए बदनाम, अवैध सम्बन्धों का इतिहास बनानेवाली जो स्त्री अपनी क्षुद्रता में भव्य और महान दिखती है वह है तखत। गणदेवता की पद्म अर्थात् लोहार बहू और स्वैरिणी दुर्गा को याद करें। दुर्गा की उच्छृंखलता सब हदों को पार कर गई थी। ताराशंकर तब भी उस की आसक्ति में पवित्र आत्मा की विकलता खोज रहे थे। और पद्म की पहली ही झलक कुछ ऐसी : लमहे में पद्म मानो लहक उठी। उसके शिथिल शरीर के अंग-अंग में एक अधीर चंचलता-सी फैल गयी बड़ी-बड़ी आँखें क्रोध से लाल और विस्फारित हो उठीं। अनिरुद्ध को लगा, लुहारखाने की आग में माना लोहे के दो टुकड़े आग से भी तेज और गरम होकर गलने को हैं।' उपरवास की तखत जैसे पद्म और दुर्गा की मिश्रित छवि हो : अपवादों से घिरी, भव्य और महान। जिस क्षुद्र परिवेश की वह उपज है, उसके बाहर उसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

तखत के बारे में कहा गया है कि उसकी शादी पहले इसी सोमपुरा में हुई थी, लेकिन



विधवा होने के बाद हेती के ससुरालवाले गाँव गोकुलिया में जा बैठी। कहा जाता है कि उसने पति को मार डाला था। वह हिडिम्बा के रूप में ही जानी जाती थी। वह किसी भी मर्द को खा जाती। सुडौल शरीर की लम्बी छरहरी तखत न समझ में आनेवाली स्त्री है। गुस्से और शर्म से बना हैं उसका चेहरा। स्वाभिमानि मादकता लिए। जो किसी रात छना ने दिया था, उसे ही पानी में मिला कर पति को पिला दिया। तब छना और पति अभिन्न थे। दोनों सरीखे पुतले दिख रहे थे। छना उस पर पति की हत्या का अभियोग लगा रहा था पर वही जानती थी कि कामना के किन प्रबल क्षणों में वह पति को खो बैठी थी। चरम देहासक्ति के क्षणों में आसन्न मृत्यु। यह स्थल उपन्यास के सबसे महत्वपूर्ण स्थलों में है। एक साथ जीवन और मृत्यु का सामना!

‘सिन्दूर का पात्र लाकर खाट के नीचे रखा। फिर डरते-डरते तखत के कपड़ों को ऊपर खिसकाया। तखत ऐसे लेटी रही जैसे सो रही हो। उसने तखत की जाँघ पर सिन्दूर से लकीर खींची। तखत के लिए यह स्पर्श असह्य हो उठा फिर भी आँखें बन्द किए लेटी रही। दूसरी बार भी जब उसकी भीगी उँगलियों ने जाँघों का स्पर्श किया तो उसे लगा जैसे बिजली गिर गयी हो। वह उठ कर बैठी। हथेली से दीया बुझाकर पति को अपने ऊपर खींच लिया। ‘अपने आवेश में पति की मन्द पड़ती साँसों और ठण्डे होते जा रहे शरीर पर ध्यान न गया। भरी हुई छातियों में उसका अर्थ में हैं कि भारतीय समाज की प्राणधारा को पहचानने की कोशिश में ही अपना मुँह दावकर इस प्रकार पड़ रही जैसे बाद में कोई लड्डा पकड़ कर तैर रहा हो।’

उपरवास में वर्जनामुक्त यौन सम्बन्धों के कितने ही सन्दर्भ हैं तखत का ही गलवा से सम्बन्ध, धमला और जेणी बहू का देह-राग। करसन के कई स्त्रियों से सम्बन्ध। विकृत उपभोगवाद। गौरी-अनरी-रणछोड़-यौन सम्बन्ध की विकृतियाँ। वर्चस्व प्रमाणित करने की होड़। इनके बीच तखत के आकर्षण का जादू अलग है। रमणलाल का सवाल समाज से नहीं अपने से है ‘...एक स्त्री और एक पुरुष के मिलन को देखकर मैं क्रोधित क्यों हो उठा? प्रकृति पुरुष को जाग्रत करती है, प्रेरित करती है, यदि यह सच है तो मुझ इस तरह बेचैन होकर प्राकृतिक नियम पर समाज का बनाया हुआ कानून लागू करने का अपराधी बनना चाहिए। मान लो गलवा मेरा भाई नहीं है और तखत मेरे लिए अपरिचित है...और वे मुद्राएँ उस महाशिल्पी के अदृश्य हाथों का खेल है।...’ रमणलाल तखत के बारे में अक्सर सोचते हैं : ‘अभी तक यौवन क्यों इसका पीछा नहीं छोड़ता? सुकोमलता स्त्री के सौन्दर्य का लक्षण माना जाता है, जब कि यह स्त्री ऊँची और पुष्ट है, जो इसकी क्षति नहीं मानो पूँजी है। सौन्दर्य की एक निराली प्रतिमा है तखत। इसकी उपस्थिति के माने केवड़े से महकता हुआ वन्य वातावरण।’ एक दिन तखत का व्यक्तित्वान्तर ही चकित करनेवाला है। जो पहले आग थी, अब केवल प्रकाश है। यह जटिल स्त्री-चरित्र उसी आँचलिक परिवेश की उपज है, जिसमें शान्ति जैसी स्त्रियों भारत की ‘गोप संस्कृति’ के बचे हुए सत्व को सजीव करती हैं।

उपरवास में भारतीय ग्रामीण समाज का भविष्यद्रष्टा है लवजी, जो नेहरू की नीतियों का कठोर आलोचक भी है। वह अंत तक प्रकृति के इस जीवन-राग पर ही टिका है; अमेरिका का लम्बा प्रवास भी उस मूल राग को मिटा नहीं सका है। वह जैमिनी को पत्र में लिखता है ‘मैं अगले जन्मों में भी जुताई के दिन खेतों पर ही गुजारूँगा। मूँजरे बैल के घुँघरू बज रहे होंगे, उन्हें सुनूँगा और खेतों में जुताई की वजह से ऊपर आए कूड़े पर धूम रही वीरबहूटियों को छू कर देखूँगा, फिर देवू भाई से पूछूँगा, जानते हो भैया, इन्हें संस्कृत में इन्द्रगोप कहते हैं।’ कहते हैं गुजराती में उपरवास के छपने पर पहली प्रतिक्रिया यही हुई थी कि उपन्यास

के पहले दो खण्डउपरवास और सहवास अधिक बाँधनेवाले हैं, क्योंकि अँचल की प्रकृति (जिसमें मानव प्रकृति भी शामिल है) का यथार्थ रघुवीर चौधरी के सहज अनुभव प्रत्यक्ष का हिस्सा है। यह लगाव 'नास्टेल्लिज्या' सरीखा है। अन्तरवास का राजनीतिक-सामाजिक यथार्थ एक हद तक सूचना है, खबर है, सन्दर्भ है। गोदान से तुलना करके देखें तो रघुवीर चौधरी का जनपदीय यथार्थ प्रेमचन्द से किसी स्तर पर मिलता-जुलता है, यद्यपि दोनों की फलश्रुतियाँ भिन्न हैं। 'गोदान' की तुलना 'गणदेवता' से तो की जा सकती है, 'उपरवान कथात्रयी' से नहीं। यद्यपि ये सभी भारतीय उपन्यास इसी अर्थ में हैं कि भारतीय समाज की प्राणधारा को पहचानने की कोशिश में ही अपनी सार्थकता उपलब्ध करते हैं।

मलयालम की कालजयी उपन्यास-रचना रस्सी (तकषी शिवशंकर पिल्लै) को पढ़ते हुए सब से पहले इस कथांश पर ध्यान दिया जाता है : 'कोटोत्रा के आच्योमन कुरूप का वही एक काम था पुराने जमाने की कहानियाँ कहना। अपने अनुभव की कहानियाँ ही नहीं, सुनी-सुनाई कहानियाँ भी, चाहे धान कुटने के घर में हो या विश्राम स्थल में हों या आम के पेड़ के नीचे हों, उनकी कहानियाँ, सुननेवाले हर जगह होंगे। कहानी सुनने में मजा आता है न। कोई सुनने वाला न हो तो किसी को ढूँढ निकाल कर कहानी कहेंगे या उड़ते जानेवाले कौवे से पूछेंगे : "अरे कौवे कहाँ जाते हो? जरा सुस्ताने के लिए बैठ जाओ।" आम के पेड़ के नीचे उछल-कूद करनेवाली गिलहरी से कहेंगे? "पास आकर जरा चुपचाप बैठ, गिलहरी।" आच्योमन मामा का प्रचलित नाम पुराण था। भारतीय उपन्यास की रूपगत विशिष्टता निर्धारित करने के लिए अक्सर ये पद सुनाई देते हैं : वर्णनात्मक, किस्सागोई, 'नैरेटिव' की कला, लचीला ढाँचा, ढीला-ढाला रूपबंध, कथा की मन्द मन्थर लय। कहानी में कहानी। न भूलें ढीला-ढाला रूपबंध कहीं उपन्यास की सार्थकता न होकर उपन्यासकार की कमजोरी भी हो सकता है। वर्णन की कला (नैरेटिव) और दस्तावेज की कला (डाकुमेन्टेशन) जहाँ संश्लिष्ट रूप में, अपने उत्कर्ष में मौजूद हैं, वह है रस्सी। औपन्यासिक अनुभव और शिल्प दोनों दृष्टियों से अद्वितीय। दोनों छोरों को बँट कर बनी हुई एक लम्बी रस्सी। एक सन्दर्भ से दूसरे सन्दर्भ तक लम्बी। उपन्यास के प्रतिमानों को ध्वस्त करता हुआ यह महाकाव्यात्मक उपन्यास अत्यन्त समृद्ध इतिहास बोध, जीवनप्रत्यक्ष और विराट कल्पना के बग़ैर असम्भव है। उपन्यासकार के ही शब्द हैं : 'नायक नहीं है, नायिका नहीं है। समूह इसका नायक है। समूह ही नायिका है। करीब ढाई सौ वर्षों में इस प्रदेश में जो लोग पैदा हुए, जिन्दा रहे और मर गए, उनमें कइयों को इसमें देख सकते हैं। वे आनन्द उठाते थे, दुःख सहते थे। मैंने उनके मोहभंगों उनकी निराशाओं, विजयों-पराजयों और कमजोरियों को उस समय की पृष्ठभूमि में आविष्कृत करने का यत्न किया है। उपन्यास के नियत लक्षण 'रस्सी' में नहीं आ पाए होंगे। लक्षणयुक्त करने का यत्न भी नहीं किया। जीवन लक्षणों के मानदण्ड के अन्दर समा भी नहीं सकता।'

'अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास' शीर्षक लेख में नामवर सिंह का अनुमान है : 'यदि सभी भारतीय भाषाओं ने मराठी की तरह नॉवेल' के लिए 'कादम्बरी' संज्ञा स्वीकार कर ली होती तो शायद अपनी जातीय स्मृति अधिक सुरक्षित रहती और अपनी परम्परा का प्रत्यभिज्ञान हमारी कथात्मक सर्जनात्मकता में कुछ और रंग लाता।' तथ्य यह है कि जिन्हें अपनी प्रतिभा और अन्तर्दृष्टि (विजन) के साथ जातीय स्मृति या परम्परा के प्रत्यभिज्ञान की सच्ची चिन्ता थी, उन्होंने उपन्यास की संज्ञा की परवाह न की और अपनी खास कलात्मक युक्ति अपने अनुभव से ही खोज निकाली। बाणभट्ट की आत्मकथा के लेखक हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यही किया विदेशी महिला कैथराइन के हाथ लगी किसी पुरानी पोथी के अनुवाद के बहाने!

और यही रस्सी में तकषी कर सके हैं, रेकार्ड रूम के जीर्ण-शीर्ण पुराने कागजों के ढेर में अदालतों के पुराने मुकदमों की छानबीन करते हुए। मातृसत्तात्मक सम्प्रदाय के क्रमिक ध्वंस की इस महागाथा में मनुष्य की मिट्टी के प्रति प्यास से लेकर सामाजिक परिवर्तनों की युगव्यपी हलचल में मनुष्य की मिट्टी के प्रति प्यास से लेकर सामाजिक परिवर्तनों की युगव्यापी हलचल तक अंकित है।

रस्सी का फलक इतना व्यापक है कि उसमें स्त्री की यातना, स्त्री का विद्रोह, प्रसव की वेदना के वृहत्तर अर्थ, प्रेम, निर्वासन धर्मान्तरण, मिथकीय यादें, भूमि-संघर्ष, मुकदमे गाँव का क्षय, साम्प्रदायिकता, वर्ग और वर्ण संघर्ष, वर्ण भेद, गाँधी का स्वराज्य, गोरों से संघर्ष, उग्रवाद, दमनचक्र अवैध सम्बन्ध, भूमि-सुधार, कानून ऋण-मुक्ति, जर्मनी-पोलैण्ड, भारत छोड़ो आन्दोलन, विश्व-युद्ध का प्रभावसब कुछ आ जाता है। प्रकृति और मनुष्य का घनिष्ठ जैविक रिश्ता जैसे सब सम्बन्धों का मूल है। प्रेम और राग का। घृणा और द्वन्द्व का। इस मादक प्रकृति गन्ध में जीवन भी है और मृत्यु भी। पूर्णिमा की रात्रि में कोटान्त्रा के बगीचे में पारिजात की सुगन्ध फैल जाती है। अपने बचपन में नइडा को लगता, मानो उस सुगन्धि में वह भूमि से उठ कर चाँदनी के रूपहले बादलों के समान बह रही हो। कौटान्त्रा खानदान के हर कमरे और कोठरी की रहस्य कक्षाएँ हैं। मालकिनों की सुहागरातें। स्त्री का 'मुझे मंजूर नहीं' बाहर सुनाई नहीं पड़ना चाहिए। किन स्त्रियों में गन्धर्व प्रवेश करेगा। कैसी वेदना है प्रसव के पहले की 'वह घोर अन्धकारपूर्ण रात थी। एक भी नक्षत्र नहीं निकला था। पीपल के पत्तों ने भी हिलना-डुलना बन्द कर दिया था।' विवाह के रूढ़ बन्धन और प्रेम तथा अवैध सम्बन्ध की मुक्ति साथ-साथ चलते हैं। एक कुलीन पुरुष अकुलीन को छू नहीं सकता, पर अकुलीन स्त्री से विवाह कर सकता है। यह छूट कुलीन तो को नहीं है। यों यह समाज जानता है कि जहाँ स्त्री है, वहाँ भूल हो सकती है। कोटान्त्रा को जैसे संकल्प कामुक गन्धर्व का शाप था। नर साँप और मादा साँप जैसे अभिप्राय। त्रिपुर सुन्दरी जैसे रहस्य। समुद्र में कुरिच्ची, कुट्टन और चूटा जैसी मछलियाँ। परीत का पात्तुम्मा से निकाह। पात्तुम्मा ही परीत को बना पाती है पुरुष। सब स्त्रियाँ जानती हैं कि उनका बदन प्रसव के लिए ही बना है। वे बच्चा न पैदा कर सकें तो जीना व्यर्थ। कई-कई संस्कृतियों के मिथक। खलिहान में पर्वताकार धान के टीलों पर सुनहरे उत्तम सर्प रेंगते हैं। सर्प ही धान के दानों को फूँक-फूँक कर बनाते हैं माणिक्य। श्रम और स्वामित्व का विभाजन। मक्का से मदीना का रास्ता। ऊँटों के झुण्ड का रेत के पहाड़ के बगल से तारतम्य या संगठन है उतनी है, उतनी ही मुक्ति है। मिथक में यथार्थ और मिथक की आवाजाही कथा का अनिवार्य कौशल है।

दूसरे भाग के आरम्भ में ही संकेत है कि धर्मनीतियाँ उलट-पुलट जानेवाली हैं। निचली जाति के लोग बड़े हो जाएंगे। एक युग का अन्त। पुराणविद् चेन्नाटन का आश्वासन है कि भगवान कल्कि का अवतार लेंगे। कल्कि घोड़े पर सवार होगा। खुली तलवार पकड़ कर तूफान की तेजी से सब का संहारकर करता जाएगा। यही कहता है भविष्य पुराण। गणपति नम्पूतिरी की पत्नी ने मृत बच्चे को जन्म दिया। कहते हैं कि वह बच्चा समुद्र-तट के किसी मुसलमान का था। जन्म देनेवाली स्त्री सफाई दे रही थी कि कारूर के तमिष ब्राह्मण की सन्तान थी वह। उसकी साँस रुँध रही थी। चारों ओर की स्त्रियाँ उसे ऐसे घेरे थीं, जैसे नाखूनों से चीर डालेंगी। गाँव का क्षय हो रहा था। गाँव के आशान शासक उजड़ते जा रहे थे। भगवान की प्रतिमा की नाभि में कृमि-कोड़े रेंगने लगे थे। सभी को फिर किसी सिद्धि का इन्तजार था। धर्म परिवर्तन के दबाव। साम्प्रदायिक गतिविधियाँ। चेन्नान्टन याद दिलाता है आजानुबाहु शामु

मेनोन को, वैसा ही हो, तो मुसलमानों से मालगुजारी वसूल कर सके। पर उसका भी हुआ क्या! उसे तो काट डाला गया और उसकी बेटी चिन्नम्यु बलवाइयों के हाथ पड़ गई। डर है कि पाठशालाओं में निचले वर्ग के लड़के पढ़ेंगे तो शुद्धि और सफाई नहीं बचेगी। अब किसी कोरी के बच्चे के साथ किसी नायर के बच्चे पढ़ेंगे क्या! क्या मन्दिरों में प्रवेश करेंगे वे कोरी, चमार और चाण्डाल! क्या गोरे देश छोड़ जाएँगे! फिर शासन कौन करेगा?

देखते-देखते स्त्री के कथानक में एक नया मोड़ आता हैस्वाधीनता की चेतना। स्वाधीनता के लिए संघर्ष। प्रेम ही इस नए विचार का सन्देश-वाहक है। नारायण के घर के दक्षिणी भाग में करुवेटन का भवन। करुवेटन की कुञ्जिकुक्की अच्छी सी है। घूमते-घामते वहाँ पहुँचते समय डाकमुन्शी के नेत्र उसके लिए तड़पते हैं। पत्रों का आना-जाना एक नया विचार है। नए युग का आरम्भ। कितनी बाधाएँ आएँ, पत्रों का आना-जाना स्थगित नहीं होता। पत्रों में हर बार नया सन्दर्भ होता है‘एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर, मानव के लिए’, ‘आजादी हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है’, ‘विदेशी देश छोड़’, ‘नायरो के लिए सुधार-सम्पत्ति का बँटवारा।’ स्त्रियों को उनका हक चाहिए। गाँधी ही जन्मदाता है इन विचारों का। वाचनालय है नवजागरण का केन्द्र। मुकद्दमे। झगड़े। बेचैनी। बँटवारा नहीं रूकेगा। सम्पत्ति के बँटवारे की वैधानिक स्वीकृति। गाँधी का अहिंसा-दर्शन। उग्रवाद की दूसरी विचारधारा भी। खेतिहर मजदूरों का संगठन। गाँधी आश्रम की मनोवेदनाक्या वह जाग उठेगा। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी।

रस्सी उपन्यास के तीसरे भाग का सबसे मार्मिक सन्दर्भ है मालकिन गौरी और डाकिये का सम्बन्ध। मालकिन गौरी के दोनों बेटे फौज में हैं। वह डाकिये की खूब खातिर करती। वही तो अच्छी खबरें ला सकता था बेटों की। पर युद्ध की खबरें सब अच्छी तो नहीं होती। ‘उस काली घड़ी का अविभाज्य अंश है डाकिया। दोपहर को भोजन करके यों ही बैठी थी। बच्चे कुछ-कूक कर कोयल को मात दे रहे थे। तब डाकिया आता है। उसका चेहरा काला पड़ गया था। वह एक मानव का चेहरा नहीं था। व्याकुल था। वह कोई मनीआर्डर या चिट्ठी आदि लानेवाला डाकिया न था। उस माँ के पेट के नीचे से एक भभक ऊपर उठी। ‘डाकिये के थैले में मालकिन गौरी के क्रूरतम दुर्भाग्य की कोई खबर है जिसे वह छिपाता आया है। डाकिया मालकिन गौरी का कोई नहीं। मालकिन गौरी डाकिये की कोई नहीं। तकषी का संकेत है कि जिस अन्तिम दिन डाकिये ने समूचा राग आश्रवासन की तरह व्यक्त किया था, वही दुर्भाग्य की काली घड़ी थी। जब सारा संसार नींद में उस पार की पथरीली हालत में संज्ञाशून्य पड़ा था, वही एक अकेला व्यक्ति था जो पसीज रहा था। कहाँ होंगे युद्ध में उसके बेटे वासुदेवन, कृष्णन्। यह पूछते हुए मालकिन गौरी का मन एक कीड़े जैसा तड़प उठा था। फिर डाकिया उस बस्ती में नहीं आया।

परिवर्तन और सुधार के जिस चरम बिन्दु पर इस समूह गाथा को ले आना थावही इस महाकाव्यात्मक उपन्यास का अन्त है। भूमि-सुधार कानून अमल में आया। पंचायत गठित हुई। जमीन सरकार की। जमींदारी खत्म। मालगुजार के पास जो जमीन लें वह मालगुजार की है। ‘दूसरे दिन सूर्य नए कानून की दुनिया में निकलेगा। जिसके पास सौ एकड़ जमीन है उसकी पचासी एकड़ जमीन नष्ट हो जाएगी। जिसके पास सुई की नोक भर जमीन है उसे निवास के लिए दस बिस्वा जमीन मिल रही है। यदि एक अँचल की यह समूह-गाथा सैकड़ों वर्षों के संघर्षों और जीवन-पद्धति के रहस्यों को समेटनेवाली न होती तो शायद सुधारवाद के ढर्रे का अन्त प्रेमचन्द के आरम्भिक प्रयत्नों से अधिक महत्वपूर्ण न होता। यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है तो सुदूर अतीत और वर्तमान के दो छोरों को बँट कर कथाविधान को लम्बी रस्सी की-सी

निर्मिति देने के अर्थ में। कथा के अप्रत्याशित विस्तार में संगठन की कला लुप्त नहीं हो गई है। कथा के एकदम अन्त में जब मिट्टी में बीज बोने का समय हो गया है, वे पूछ रहे हैं कि धर है कृतिका! आसमान में किस तरफ है आर्द्रा। सारे नक्षत्रों के स्थान बदल गए हैं।

सतीनाथ भादुड़ी का बाँग्ला उपन्यास 'ढोड़ाय चरितमानस' फणीश्वरनाथ रेणु के कथाशिल्प को बहुत गहरे प्रभावित करनेवाली कृति के रूप में प्रसिद्ध है। रेणु के 'मैला आँचल; को 'ढोड़ाय चरितमानस' की छाया बताने वाले लेखक हिन्दी में हुए हैं, पर किसी ने दोनों कृतियों की अन्तर्वस्तु और रूपगठन का ऐसा विश्लेषण नहीं किया कि प्रभाव ग्रहण में रेणु की मौलिकता या सतीनाथ भादुड़ी का अपना वैशिष्ट्य प्रकट हो सके। रेणु अपने आरम्भिक निर्माण-क्रम में ही पूर्णिया में सतीनाथ भादुड़ी के सम्पर्क में आए थे और उन्हें अपना कथा-गुरु माना था। उन्होंने 'जागरी' और 'ढोड़ाय चरितमानस' भादुड़ी के दोनों उपन्यासों से सहयोगी लेखकों को परिचित कराया था। बाँग्ला में ताराशंकर, विभूतिभूषण, मानिक बन्धोपाध्याय ग्रामीण यथार्थवाद के कथाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। 'गणदेवता', 'पथेर पाँचाली', 'पद्मा नदीर माँझी' उपन्यास प्रमाण हैं कि ग्रामीण समाज से उनका परिचय गहरी संवेदनात्मक समृद्धि लिए हुए हैं। इन उपन्यासों की शिल्प-संरचना और भाषा-संवेदना से सर्वथा भिन्न प्रभाव है 'ढोड़ाय चरितमानस' का। बाँग्ला उपन्यासों की मूल कथाभूमि से अलग पड़नेवाले उसके प्रभाव का सन्दर्भ वह कथा-क्षेत्र भी है, जो 'मैला आँचल' के निकट है। यह भी याद रखने की चीज है कि सतीनाथ भादुड़ी ने बाँग्ला में भी पूर्णिया की लोकभाषा 'अंगिका' का सार्थक उपयोग किया है जिसके कारण अनुवाद में भी यह कृति मूल कृति-जैसी ही दिखाई देती है। भारतीय उपन्यास के रूप में 'ढोड़ाय चरितमानस' के महत्त्व को इस सन्दर्भ से जोड़ कर भी देखा जा सकता है। 'गणदेवता' नवजागरण का महाकाव्य है, एक व्यापक अर्थ में। उसका फलक बड़ा है, 'रस्सी' जैसा। 'ढोड़ाय चरितमानस' अगर नवोदित भारत का महाकाव्य है तो एक सीमित अर्थ में। समूह-चेतना की अभिव्यक्ति से अधिक वह एक अकेले व्यक्ति ढोड़ाय का आत्मचरित है। ढोड़ाय जैसे कायर और महान, महान और साधारण चरितनायक की जीवनगाथा, जो आत्मनिर्वासन के लिए अभिशप्त है। 'आँचलिक' होते हुए भी इस उपन्यास में चरित नायक की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है।

निरीह और साधारण ढोड़ाय में माँ ने एक किसी रामचन्द्र की छवि देखी थी। उसी राम के निर्वासन और आत्मदंश की अनुभूतियों जैसे उस अभिजात छवि ढोड़ाय की साधारणता और मामूलीपन में संक्रमित है। वह महान है, तो अपनी साधारणता में ही। वह एक अस्वीकृत व्यक्तित्व है। सामाजिक हित के संघर्ष में निरन्तर संलग्न रहकर भी। सतीनाथ भादुड़ी इस चरित नायक के आत्मनिर्वासन की त्रासदी का बयान करने के साथ ही इस उपन्यास को भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में साधारणजन की हिस्सेदारी का दस्तावेज बनाते हैं। इस कृति को 'ढोड़ाय रामचरित मानस' कह कर अपने साधारण चरित-नायक की महानता को एक तरह की स्वीकृति दी गई है, पर उसे इस साधारणता से विच्छिन्न नहीं किया गया। वह जिरानिया या ततमा टोली में हो या बिसकन्धा में उसकी अपनी मुश्किलें कभी कम नहीं होतीं। जब लगता है उसके जीवन में कोई अनुकूल क्षण आनेवाला है, तभी उसे किनारे कर दिया जाता है। शाश्वत निर्वासन उसकी नियति है। इसकी तीव्रतम अनुभूति प्रेम में ही होती है। आश्चर्य नहीं कि कृति का अन्त 'हताश काण्ड' से है। अन्य काण्ड हैं आदि काण्ड, बाल काण्ड, पंचायत काण्ड, रमिया काण्ड, सगिया काण्ड और 'लंका काण्ड'। शीर्षकों के इस चुनाव में सर्जनात्मक कौतुक की जो वृत्ति काम कर रही है, वह तर्कहीन या असंगत नहीं है। इनमें दो स्त्री-चरित्रों के नाम का जुड़ना सोची-समझी युक्ति है जो आँचलिक कथा में अनेकार्थता या बहुव्यंजकता की नजर देनेवाली

है। रमिया और सगिया इन दो स्त्रियों के साथ ढोड़ाय की नियति इस तरह जुड़ी है कि वे ही उसके शाश्वत निर्वासन का निमित्त बनती हैं।

सतीनाथ भादुड़ी इस उपन्यास में सबसे पहले उस परिवेश को मूर्त करते हैं जिसकी स्थानिक विशेषताएँ या लाक्षणिकताएँ महत्त्व रखती हैं—अयोध्या जी नहीं—यह है जिरानिया। रामचरित मानस में इसका उल्लेख है—जीर्णारण्य। खुद नहीं पढ़ सकते तो मिसिर जी से पढ़वा लीजिए। ..ततमा टोली के लोग इसी को कहते हैं—टौन।’ और ततमा टोली ऐसे ही शहर की ‘सहूर तली’। दक्षिण की ओर से कारी कोशी की सूखी धारा गुजरती है—लोग कहते हैं—मरनाधार। परती के बीचों-बीच गुजरती है—कोसी सिलीगुड़ी रोड। ततमा टोली के लोग इस सड़क को कहते हैं पक्की। ढोड़ाय कहीं जाय, उसके पाँव ‘पक्की’ की ओर ही लौटना चाहते हैं। ‘रोजा’, ‘रोजगार’, ‘रामायन’ यहाँ जीवन के मुख्य चालक तत्त्व हैं। उनके संकेतार्थ हैं। पिता की मृत्यु के बाद माँ ने दूसरा विवाह किया। अभाग्ये ढोड़ाय को बौका बाबा की छाया मिली, जिन्होंने देख लिया—‘उसकी नाभी के ऊपर तीन रेखाएँ उभरी हुई हैं—ठीक रामचन्द्रजी की तरह।’ रेवनगुनी की कृपा वे वह मरते-मरते बचा था। माँ ने उसे कितनी ही कथाएँ सुनाई—राजपुत्र सदावृद्ध मिट्टी के नीचे सुरंग खोदा करता है—राजकन्या के महल में पहुँचने के लिए। सुरंग में घुप्प अँधेरा है और पाँव फिसलने वाली दीवाल। ढोड़ाय जीवन भर मानो सुरंग ही खोदता रहता है। क्या सगिया रमिया ही उसकी ‘राजकन्याएँ’ हैं!

जातिप्रथा। सामाजिक जकड़न। बाबा ने तो उसे ‘भगत’ बनाया था पर वह रमिया से ही शादी करेगा—यह घोषणा वह कर बैठा। बाबा मन पर जमी उस की यादें मिटा देना चाहते हैं। रमिया को घर के अन्दर ही रखना चाहता है—ढोड़ाय और पच्छिम की लड़की रमिया मुक्ति चाहती है। सामुआ का छल काम करता है और एक दिन, भरी पंचायत में उसे रमिया का अस्वीकार बताया जाता है। रमिया उसी के बच्चे की माँ बनने वाली थी। वह नई जगह नई जाति के बीच पहुँचता है। बिसकन्धा। तम्बाकू के खेत की नौकरी। गिदर मण्डल मोसम्मात विधवा की लड़की सगिया पर अखि लगाए हुए हैं—जबकि वह अनजाने ढोड़ाय के प्रति आसक्त हो उठती है। गाँव में अनेक जातियाँ। अनेक दल। स्वार्थ। द्वेष। जमींदार शोषण भी करते हैं और एक दिन ‘किसान’ कहे जाने लगे हैं। मोसम्मात को मेले में अपने अकेले छूट जाने का बहाना मिल जाता है और वह ढोड़ाय को जवाब दे जाती है। इसके पहले अकाल, भूकम्प और बाढ़ जैसी आपदाओं में ढोड़ाय दिन-रात समाज के लिए खटता रहता है। वह गिदर मण्डल को चुनौती देता है जिसकी बाबू साहब जैसों से साठ-गाँठ है। कोइरी जाति के लोगों में संघर्ष की चेतना पैदा होती है। गाँधीजी का नमक सत्याग्रह। स्वाधीनता-संघर्ष में तेजी। जिरानिया के पूरब में बकरहट्टा का मैदान है। उसे लेकर बड़े लोगों का गोलमाल नहीं चलेगा। मुकदमे में खर्च करने के लिए सगिया ढोड़ाय को अपनी दुर्लभ चीज सौंपती है। ‘एँटे हुए सूत के गुच्छे में गुँथी हुई एक माला।’ माला में चाँदी के दो रूपए। माला छोटे बच्चे के गले की। रुपया एक रामचन्द्रजीवाला-तीर-धनुष कन्धे पर दोनों भाइयों का चित्र। दूसरा फारसी-लिखा सिक्का। ढोड़ाय कठिन दिनों में भी इस दुर्लभ भेंट को कैसे बेच सकेगा! पर सगिया को तो उसके जीवन से जाना ही है। वह बिदेसिया वाले के साथ चली जाती है। भूकम्प के बाद दरार में आधी देह तक धँसी सगिया को ढोड़ाय ने खींच कर निकाला था। अब कहाँ-कहाँ उसकी मुक्ति के लिए लड़े? सतीनाथ भादुड़ी लिखते हैं, ‘नदी मरनाधार की तरह है सगिया। बाढ़ भी नहीं आती है, तट भी नहीं टूटते हैं, आँधी-तूफान में भी लहरें नहीं उठती हैं।’ उसे याद करते एक औरत याद आती है—‘पान के पत्ते से पतले होंठ थे उसके। उसे देखते ही दिल के ऊपर मानो साँप

उलट-पलट आता था।' वह रमिया थी। वह समाज के बड़े लोगों के अन्याय से लड़ता रहता है और रमिया को भूलना चाहता है, हालाँकि यह कभी सम्भव नहीं हो पाता। महात्मा गाँधी उसकी संघर्ष चेतना की मूल प्रेरणा हैं। कलियुग के रघुनाथजी-जैसी ही। रिलीफ के सवाल पर वर्ग-संघर्ष की नौबत इसलिए आती है कि सारा लाभ बड़े लोग ही लेना चाहते हैं, जिनका समाज में प्रभाव है, जिनके साथ अधिकारी हैं और समूची न्याय-व्यवस्था है। विरोधी चेतना का प्रतिनिधि है ढोड़ाय। वोट के बहाने वह रामराज्य का सपना देखता है। कुर्मी छत्री, कुशवाहा छत्री और यदुवंशी छत्री मिल कर 'त्रिवेनी संघ' बनाते हैं और उच्च वर्गों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं।

एक पूरे क्षेत्र में युगान्तर की-सी अनुभूति। 'दुनिया ठीक-ठीक बदल नहीं रही है। टूट कर गिर रही है धड़ाम-धड़ाम।' नए-नए राजाओं का उदय। चक्की और जूट की कीमत का राजा। कपड़े और किरासिन का राजा। जमीन और जमींदार। हाकिम। दारोगा। फौज का राजा। उधर आतंकवाद और क्रान्तिवाद की लहर। रेल लाइन उखाड़ी जा रही हैं। तार काटे जा रहे हैं। तभी स्वराज आ जाता है। ढोड़ाय भाग आता है कोशी पार के आज़ाद दस्ते में। ढोड़ाय की नई संज्ञा 'रामायन जी'। तभी बटुए की माला को लेकर कहा-सुनी। सन्देह। स्पष्टीकरण। वह लड़ता है। 'जिसका दिया हुआ है वह जरा भी खबर नहीं रखती।' बिसकन्धा पहुँचता है जहाँ सगिया पहले से अधिक प्रगल्भा होकर लौट आई है। सिरपंचमी की जरा-सी अबीर वह ढोड़ाय के कपाल में लगा देती है। 'मैला आँचल' की याद यहाँ आ सकती है। क्रान्ति दल से शिकायतें हैं ढोड़ाय की। वहाँ आए किशोर एन्टनी में वह रमिया के बेटे अर्थात् अपने बेटे की छवि देखना चाहता है। इसी उम्मीद में पहुँचता है जिरानिया। मोहभंग की घड़ी है यह। पता चलता है कि मृत बच्चे को जन्म देकर मर चुकी है। सब कुछ हार गया है ढोड़ाय। 'कई बातों की बालू गिरने की वजह से उसके शरीर की और मन की सभी यन्त्रणाएँ सजग हो गयी हैं। एकदम अकेला है वह आज।' वह एस. डी. ओ के सामने जा कर 'सरेण्डर' कर चुका है। अब तो जोखिम भी नहीं बचा है जीवन में। बड़े-बड़े नेता छोड़े जा रहे हैं। क्रान्ति दलवालों के लिए वह कायर है, भगोड़ा है। कायरता और महानता के इसी द्वन्द्व में फँसा है ढोड़ाय, जो सतीनाथ भादुड़ी के इस उपन्यास की एक मार्मिक सृष्टि है।

उपन्यास में जनपदीय चेतना या आँचलिकता, उपन्यास में भारत की खोज के निहितार्थ, भारतीय समाज की प्राणधारी की पहचान, नैरन्तर्य तथा जिजीविषा का बोध, परिवर्तन की समझ और सन्वेदना, परम्परा और स्मृति का पुनरान्वेषण और पुनराख्यान, किस्सागोई और कथा का ढीला-ढाला ढाँचा या रूपबंध-ऐसी लाक्षणिकताओं को सुनिश्चित करके भारतीय उपन्यास की कोई मुकम्मल परिभाषा देने की कोशिश यहाँ नहीं की जा रही है। 'कविता की मुक्ति' की तरह 'उपन्यास की मुक्ति' का सवाल हमारे लिए भी एक जरूरी सवाल है। अनिता देसाई जब भारतीय उपन्यास की लाक्षणिकता निर्दिष्ट करना चाहती हैं तो आश्चर्य नहीं उन्हें वे उपन्यास याद आते हैं जो वैचित्र्य-रस प्रधान हैं। यह रस अधिकतर खास ढर्रे के भारतीय अंग्रेजी उपन्यासों में ही उपलब्ध हैं। गणदेवता और गोदान, मैला आँचल और रस्सी, उपरवास कथात्रयी और ढोड़ाय चरितमानस ऐसे उपन्यास नहीं हो सकते। यहीं महत्वपूर्ण कन्नड़ उपन्यासकार अनन्तमूर्ति की एक टिप्पणी याद आती है। 'भारतीय कथा-साहित्य में भारतीयता क्या है?' इस पर विचार करते हुए वे कहते हैं: 'उपन्यास की शैली में ही ऐसी कोई बुनियादी चीज है जिसने हमारे बौद्धिक प्रशिक्षण के बावजूद इसे भारतीय होने को मजबूर किया है। जीवन की सतह पर उपन्यास आनन्द देता है और यह वृक्ष के सार के बारे में तभी कुछ कह सकता है जब यह छाल की

खुरदरी और बेढंगी संरचना का वर्णन करे। इस प्रकार उपन्यास सार्वभौमिकता पर एक तरह का आक्रमण है। इसलिए प्रेमचन्द, कारन्त और रेणु जैसे क्षेत्रीय भारतीय उपन्यासकारों ने ग्रामीण जीवन को इस की पूरी स्पष्टता और सम्पन्नता के साथ प्रस्तुत किया है और इस तरह अपने उपन्यासों में हमें एक सघन भारतीयता दे दी है।' इस अर्थगर्भ टिप्पणी के बाद भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान के बारे में बहुत कुछ कहने की जरूरत नहीं रह जाती। साधारण में महान अपूर्णता की खोज करनेवाले हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे लेखक या कथाकार के लिए भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान कठिन नहीं है। इसीलिए बाणभट्ट की आत्मकथा को वे अन्तर्वस्तु और संरचना दोनों दृष्टियों से ऐसी गहरी भारतीयता दे सके हैं जिसे किसी भी एक लाक्षणिकता में सीमित करना कठिन है। उपन्यास की मुक्ति ऐसी ही बड़ी सर्जनात्मक कल्पना में सम्भव है। द्विवेदीजी के ऐतिहासिक गल्प में जनपदीय चेतना की भूमिका गम्भीर विलेपण का विषय है।

अन्त में, 'उपन्यास का जनपद' इस सूत्र के सहारे यदि भारतीय उपन्यास की अपनी पहचान सुनिश्चित करने चलेंगे तो देहाती दुनिया (1925: शिवपूजन सहाय), कुल्ली भाट और बिल्लेसुर बकरिहा (1939, 1941 : निराला) जैसी कृतियों के सर्वथा नए भाष्य या पुनः पाठ की जरूरत होगी। देहाती दुनिया लिखते हुए शिवपूजन सहाय अपनी ओर से इतना ही कह रहे थे : 'मैं ऐसे ठेठ देहात का रहनेवाला हूँ जहाँ इस युग की नयी सभ्यता का बहुत ही धुँधला प्रकाश पहुँचा है। वहाँ केवल दो ही चीजें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं—अज्ञानता का घोर अन्धकार और दरिद्रता का ताण्डव नृत्य: वहाँ पर मैंने जो कुछ देखा-सुना है, उसे यथाशक्ति ज्यों का त्यों उसमें अंकित कर दिया है।' पर यही वह जमीन है जिस पर सर्जनात्मक खिलवाड़ का 'अनोखा साहस प्रमाणित करनेवाले उपन्यास कुल्ली भाट और बिल्लेसुर बकरिहा लिखे गए। उपन्यास के रूप के बारे में हमारे पूर्वाग्रह इतने प्रबल हैं कि आज तक इन्हें 'रेखाचित्र' कहा जाता है। वास्तविकता यह है कि उपन्यास के औसत रूप को ध्वस्त करते हुए ये ऐसे उपन्यास हैं जिनमें आत्मकथा और जीवनचरित, संस्मरण और रेखाचित्र अन्तर्भुक्त हैं। एक अर्थ में प्रति-उपन्यास (एन्टी-नॉवेल) होने का पहला साहस हिन्दी में यही कृतियाँ दिखाती हैं। आश्चर्य है कि भारतीय उपन्यास की अवधारणा पर विचार करने वाले किसी हिन्दी कथाकार या कथा-समीक्षक को इन उपन्यासों की याद नहीं आई! सर्जनात्मक खिलवाड़ का साहस बिल्लेसुर बकरिहा जैसे उपन्यास में हमें जिस मुख्य अभिप्राय तक ले आता है, वह है अपराजेय मनुष्य की धारणा। कथा का फलक विस्तृत नहीं है और कथा की कुछ ही रूपरेखाएँ उभारी गई हैं, पर भारतीय उपन्यास के अपने ठेठ देसी मौलिक ढाँचे में लिखी गई यह एक अन्यतम कृति है। सम्भव है, इस विश्लेषण से भारतीय उपन्यास की अवधारणा के बारे में कुछ और और सुविधाजनक सवाल पैदा हों। उन पर फिर कभी।

(‘भारतीय उपन्यास की अवधारणा और स्वरूप’ नामक पुस्तक से)



## उपन्यास में समय की सत्ता

राजी सेठ

समय और उपन्यास के बीच बहुपत्तीय रिश्ता है, समय कथा के प्रसार और घटना के विविध सोपानों को व्यवस्थित करने का आधार बनता है। कुछ और गहरे स्तर पर जाने से वह कभी कभी विजन तक पहुँचने का आवश्यक फासला... कभी रचना के दौरान आसानी से पकड़ में न आने वाली रचनात्मक कड़ियों की खोज...कभी परिप्रेक्ष्य...कभी गत्वरता का पर्याय और कभी-कभी लेखक की मानसिकता के माप का आश्रय बनता है। समय की ये सारी भूमिकाएँ एक तरह से निर्विवाद और समाधानपरक हैं। अन्तर्निहित और अनायास भी। अन्ततः समय और रचना के बीच जो रिश्ता सधता है। कथा-रूप की वास्तविकता को अर्जित करने के लिए ही सधता है। पर समय के संदर्भ में जब हम उपन्यास की रचनात्मक समस्याओं की बात करते हैं। उपन्यास की रचना-क्षमता की ओर उन्मुख...प्रश्नों से भरी। जैसे की समय के जिस बिन्दु पर उपन्यास के सभी पात्र, सभी घटनाक्रम स्थित हैं, जहाँ सब कुछ घट रहा है या घटाया जा रहा है। वह क्या सचमुच घटना का समय है? यदि नहीं है तो फिर कौन-सा समय है? क्या घटना के साथ समय का भी पुनःसृजन होता है? यदि समय-कथा के कलेवर का अनुषंग ही है तो ऐसा क्यों है कि रचना के समय के अतिक्रमण हो कथा-मूल्यों के अंतर्गत शामिल कर लिया गया है? क्या कथा अपने समय और परिवेश में स्थित होकर सभी कालों में प्रासंगिक नहीं मानी जा सकती?

घटना या कथावस्तु समय में ही स्थित होती है, इसलिए इन प्रश्नों के साक्षात्कार के लिए हमें कथावस्तु तक जाना पड़ता है। इसी संदर्भ में यह पूछना सार्थक होगा कि हम अपनी कथा के बीज-सूत्र प्रायः अतीत के अनुभवों से ही क्यों चुनते हैं? क्या वह उस घटना, उस समय-संदर्भ को पकड़ने की बेचैनी या सम्मोहन है या हमारे अपने समय में घिरते दबावों के सजातीय भावाश्रयों की तलाश? ध्यान दिया जाय तो पीछे देखने में जो सहज अनुकूल सुविधा है वही इसका समाधान है। यहाँ तक कि भविष्य को दर्शाने वाले यूटोपियन उपन्यासों में भी

वर्तमान को अतीत में रिड्यूस करके ही तार्किक परिप्रेक्ष्य खड़ा किया जाता है और समय की टकराहटों को सह चुकने के बाद अपनी स्थायी आधारों को संचित कर लेता है और अस्थायी तत्त्वों की धूल-मिट्टी को झाड़ चुका होता है। वह अपने सत्व रूप में स्मृत होता है। अपने समय के तात्कालिक आवेशों से परे और फिर सामने दौड़ते समय की संभावनाओं को जज्ब करने के लिए तत्पर और खुला हुआ।

यह स्थिति एकदम स्वागत योग्य बन जाती है कि सत्व को समेट लिया जाय और उसे अपने समय के परिप्रेक्ष्य में स्थित करके नई अर्थवत्ता और नये समाधानों का आश्रय बना दिया जाय। शायद इसलिए कथा-लेखन में परंपरा और इतिहास एक चिरस्थायी भूमिका अदा करते आये हैं। हमारी रचनात्मक चेतना बार-बार मिथकों, स्मृतियों, प्रतीक ओर बोध-कथाओं के ऐतिहासिक ढाँचों का पुनः सृजन करने को ललकती रहती है। जहाँ इतिहास नहीं होता, वहाँ यह काम व्यक्तिगत, व्यावहारिक और सामाजिक अनुभव-स्मृति करती हैं, पर स्मृति तो अक्षरशः अनुभव नहीं होती। वह बीते अनुभव के किसी वजनदार हिस्से की एक गूँज, एक संभावना, एक कच्चा-अटपटा मानसिक ढाँचा भर होती है। यह उपलब्धि ढाँचा मात्र होती है यह बात अधिक महत्वपूर्ण है। तभी उसमें विभिन्न कालों, विविध जीवन-अनुभवों, विविध घटनाओं और स्मृतियों का प्रवेश हो पाता है। एक केन्द्र के चारों ओर कितना बुने जाने की गुंजाइश बनी रहती है! यानी स्मृतियों का प्रवेश हो पाता है। एक केन्द्र के चारों ओर कितना कुछ बुने जाने की गुंजाइश बनी रहती है! यानी स्मृत-कथा को नये और मौलिक रचना-रूप में मूर्त करने की संभावना। इसलिए रचना में किसी भी घटना का पुनःकथन नहीं होता, पुनः सृजन होता है। प्रयोग के लिए कभी उसी घटना को यथातथ्य पकड़ने की चेष्टा की जाय तो भी यह असंभव होगा क्योंकि इस बीच रचना-मानस न जाने कितने संवेदन कालों से गुजरता है। और स्रष्टा का भी मानसिक रसायन बदल चुका होता है। और समय भी वही नहीं है। जैसा कि हेराक्लाइडस ने कहा है, "One cannot step into the same stream twice." यों भी रचना असल जीवन नहीं, जीवन की तदरूप कोशिश है। उसी का रचाव है। रचनाकार की मौलिकता से ढलकर आने के कारण हर रचना विशिष्ट होती है, थोक उत्पादन की वस्तु नहीं होती।

किसी भी उपन्यास के भीतर का वह समय वह समय नहीं होता जब कोई घटना घटी थी, बल्कि वह होता है जिसे उपन्यास में घटाया जा रहा है, औपन्यासिक जरूरत के लिए जिसका सायास पुनःसृजन किया जा रहा है...अनुभव की भाषा में, अभी-अभी...तात्कालिक वर्तमान में उसके घटते होने की प्रतीति पैदा करके, सतत वर्तमान के आयाम में घटना को अवस्थित करके। क्योंकि वही कृति का अपना निजी काल है प्रामाणिक और विश्वसनीय होने के दावे से भरपूर।

कथा के लिए यह बहुत मायने नहीं रखती कि जो अनुभव चुना गया है वह प्रामाणिक है या नहीं। किन्तु जो रचा जा रहा है उसके प्रामाणिक और विश्वसनीय होने का पूरा दबाव रचना पर रहता है। क्योंकि समय वहाँ उन घटित घटनाओं और मंशाओं का सायास नियामक बना रहता है। जिसकी सिद्धि उपन्यास के दूसरे उपकरणों की तरह विशुद्ध रूप में अपने रचनात्मक जरूरतों के तहत होती है। उसकी स्थिति अनुभव-स्मृत काल में नहीं, वर्तमान काल में है। उस काल में है जिसमें घटना घट रही है और हम उसे सामने बैठे देख या भोग रहे हैं। जब कोई लिखता है तो वह रचनाकार का वर्तमान है। ठीक ऐसे ही जब कोई उस रचे हुए को पढ़ता है तो वह पाठक का वर्तमान है।

यानी कि रचना के भीतर का समय इस अर्थ में बाहर के समय से निरपेक्ष है...स्वतंत्र...अपने

में पूरा। तभी तो वह रचनाकार द्वारा सिरजे जाने का मोहताज बना रहता है। रचनाकार कर्ता है, स्रष्टा है इसलिए समय को नियंत्रित करके रखता है। अपने अनुभव का नियामक बनकर। क्या यही कारण नहीं है कि जो घटना जीवन या स्मृत अनुभव में पूरी नहीं होती वह रचना में पूरी हो जाती है। जो रास्ते जीवन में अब तक नहीं देखते थे, अब जाकर देखने लगते हैं। जो समस्याएँ नहीं सुलझीं थीं, सुलझ जाती हैं। जो कुछ नहीं हुआ था होने लगता है। नियंत्रित समय की इस प्रयोगशाला में संभावनाओं के दोहन की पूरी छूट रहती है और जीवन एक तार्किक सैंपल की तरह अपनी विविधता और विशिष्टता में एक साथ प्रोजेक्ट हो पाता है। स्मृतियाँ यहाँ आधार बनाती हैं, सूचनाएँ खाद और घटनाएँ सृजन-अनुभव की पीठिका। समय एक नये, संभावना-संपन्न, रीकंडीशंड या पुनर्नवा उपलब्धि की तरह हाथ में रहता है।

स्वतः अर्जित समय की यह स्वतंत्र सत्ता रचनाकार को किन समस्याओं में डाल सकती है, इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। यदि यह कहा जाय कि इस स्वतंत्रता या निरपेक्षता का असंतुलन ही उपन्यासों में सफलता या असफलता का मूल कारण बनता है तो कुछ गलत नहीं होगा। इस स्वायत्त/स्वतंत्र समय सत्ता का होना उपन्यासकार की गत्यात्मकता और सुविधा को जितनी दूरी तक बढ़ाता है। उसकी रचना-क्षमता पर उतना गहरा दबाव भी डालता है। देखने में लगता है कि घटना-चक्र और गति का किसी भी दिशा में मनमाना संयोजन किया जा सकता है पर यह प्रक्रिया कथा के उद्देश्य, उसकी रचनात्मक सिद्धि और कला-धर्म की अनेकानेक चुनौतियों के बीच क्या उतनी ही निरपेक्ष और गत्यात्मक रह सकती है...

रचना का यह स्वभाव होता है कि पहले वह स्वयं को समय-प्रवाह के अनुभव के चौखटे में काटकर व्यवस्थित करती है फिर अपने स्थानीय या भीतरी समय को चरितार्थ करने की प्रक्रिया में उसी वृहत समय-प्रवाह से जुड़ने को ललकती है। अपने आदर्श को चरितार्थ करने में वह अपने अभिप्रायों का उद्घाटन भी करना चाहती है और वृहत समय की आसंगता को भी मूल्यवान समझती है। यानी कि वह भीतरी और बाहरी, स्थानीय और वृहत समय में एकसाथ प्रासंगिक होना चाहती है। दोनों कालों की असल दूरी के बावजूद। यह एक संश्लिष्ट किन्तु निहायत नाजुक माँग है जिसका संतुलन कितने कलाधर्मी तत्त्वों, मानवीय व्यवहार की कितनी विविधताओं और रचना-क्षमता की कितनी गहरी गुणवत्ता के आधीन हैं। रचना में इन दो सुदूर छोरों से जूड़े रचना-रूप को अर्जित कर सकना एक बहुत बड़ी चुनौती है। इस गंभीर चुनौती का एहसास अक्सर इसलिए भी नहीं हो पाता कि घटनाओं-अनुभवों के अपने द्वारा चुने जाने का सायास बोध होता रहता है। समय और स्थान अपना अर्जित किया हुआ है, पात्र अपने सिरजे हुए हैं। फिर इच्छित रचना-रूप उपलब्ध क्यों नहीं होगा। इसी आत्मविश्वास में अपने समय, घटना के समय और वृहत समय के निस्सीम विस्तार की दृष्टि की चयनधर्मिता और संवेदना के संतुलन की जो अनिवार्यता है वह अनदेखी रह जाती है। यह देखना बहुत जरूरी है कि रचनाकार अपनी मंशा के प्रति पूरी तरह निष्ठावान हो, पर उसकी निष्ठा की पहुँच इतनी भर न हो कि तात्कालिक समस्याओं पर लिखे जाने वाले उपन्यासों की तरह अपनी मंशा के बिन्दुओं पर ही वह भड़भड़ा कर बिखर जाय और स्थानीय समय में वे बहुत समय में से वृहत् समय को अर्जित करने का कोई रचनात्मक दबाव महसूस ही न कर पाए।

यह एक विरोधाभासी स्थिति है कि जो रचना अपने भीतर के समय और सृष्टि से पूरी तरह आबद्ध नहीं होती वह बाहर की अर्थवत्ता से भी शून्य होती है। अपने केन्द्र से उखड़ी हुई रचना बाहर का अवलोकन नहीं कर पाती और अपने ही पात्रों की पूरी-अधूरी नियति में लिथड़ी हुई आत्मबोध की दरिद्रता का एहसास पैदा करती है। रचना के भीतरी और बाहरी

समय में जो अलंघ्य दूरी है वह रचनात्मक गहराई में पहुँचकर मिट जाती है। समयबद्ध नहीं रहती। वह एक कालातीत अंतर्दृष्टि की तरह होती है। पुनःसृजन के लिए तैयार...पर यह गहराई अपने अनुभव सत्य के समीप चलने से ही हाथ लगती है, परिधि पर ऊपर-ऊपर चलते रहने से नहीं।

इस समस्या को व्यावहारिक रूप से समझने के लिए गोविन्द मिश्र के उपन्यास 'तुम्हारी रोशनी में' को कुछ हद तक फोकस में रखा जा सकता है। गोविन्द मिश्र एक सफल उपन्यासकार हैं और इस उपन्यास से पहले 'हुजूर दरबार' और 'लाल पीली जमीन' जैसे उपन्यास लिख चुके हैं। फिर भी यह उपन्यास उस प्रकार के प्रभाववृत्त से छिटक गया है। यह उपन्यास आर्थिक रूप से स्वतंत्र, व्यक्तित्ववान, मुक्तमना और इमेंसिपेटेड कही जाने वाली स्त्री की जीवन-शैली की कहानी है। उसके जीवन को एक तरह से स्त्री-स्वातंत्र्य की उन उद्घोषित धारणाओं के व्यावहारिक अनुवाद के रूप में दिखाया गया है, जो आधुनिक मानसिकता में त्वरित, संक्रमणशील और अस्मिता की मनःव्यापी समस्याओं से नथ्थी हैं। फिर भी सुवर्णा इन धारणाओं का भार वहन नहीं कर सकी हैं तो आत्मप्रत्यय के रूप में और न पाठकीय स्वीकृति के स्तर पर। उसकी डगमगाहट नैतिक स्तर पर पाठक को भी दोलायमान रखती है, क्योंकि जो आत्मप्रत्यय उसके आचार-विचार की आधारशिला हैं उन्हीं में वह पूरी तरह स्थित नहीं है। अपने कविकर्शस से उसका अविच्छिन्न रिश्ता नहीं बन पाया है। यदि बनता तो उसका व्यक्तित्व एक दूरगामी प्रभाव छोड़ता। वह न केवल भीतरी सृष्टि को, बल्कि सामाजिक रूप के बाहरी दृष्टि को भी प्रभावित करती। इसके साथ ही समय की महत्त्वपूर्ण समस्या के उद्घाटन के दायित्व का वहन करती। इसकी तुलना में 'हुजूर दरबार' बेहतर है। इसमें समय के सोपानों को लेखक ने सुघड़ता से चित्रित किया है। यह रचना कुछ बड़े आधार पर खड़ी है। लेकिन केवल बड़े आधार के कारण ही तुलनात्मक रूप से बड़ी रचना नहीं है। इसलिए है कि उसके भीतर के पात्र जहाँ खड़े होते हैं, उनके पैरों के नीचे की जमीन दबी-दबी-सी दिखती है। पात्र अपनी धारणाओं में एक रस हैं...चरित्र और पात्रदोनों की नियति में एकरूप। मानवीय करुणा और नैतिक अर्थवत्ता के वाहक, उनका आत्मप्रत्यय पाठकों के मन में विश्वास और साझेदारी की भावना जगाता है। उपन्यास में घटना-चक्र, समय, प्रभाव, शिल्प और भाषा-संरचना के अतिरिक्त भी कई महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। पात्र-सृष्टि प्रभाव-रचना का एक सार्थक अंग है। एक सफल, विश्वसनीय और आत्मसजग पात्र युग-युगों तक पाठकीय स्मृति में एक मानस के रूप में टिका रह सकता है। यहाँ पात्र-सृष्टि ज्यादा मूर्त, ज्यादा सजीव, ज्यादा संवेदनशील और ज्यादा स्थिर है, क्योंकि समय के बदलाव के बावजूद भी अपने रचनात्मक अस्तित्व के कारण मन में जैसे का तैसा बना रहता है, बल्कि अलग-अलग काल में अलग-अलग तरह से रचना के अवचेतन का भाग बना रहता है। द्रोपदी का अस्तित्व ही नहीं, द्रोपदी की स्थिति और चरित्र भी बहुविवाह समस्या के संदर्भ का एक सनातन पात्र माना जाता रहेगा।

एक प्रश्न जरूर उठ सकता है कि यदि उपन्यासकार अपनी कृति के समय में ही इतना आबद्ध होता है तो वह रचनात्मक स्तर पर अपने समकाल या वृहत्काल के प्रति इतना सचेत कैसे रह सकता है! उपन्यास जैसी सुदीर्घ विधा में सतत संलग्नता और रचनात्मक तल्लीनता जैसी दो जरूरतों के रहते यह संतुलन कैसे सध सकता है!

उत्तर पाने के लिए हमें सृजन-वृत्ति और रचना-प्रतिभा के मूल आधारों की तलाश करनी पड़ेगी। रचना क्षमता जब गहराई में उतरती जाती है तो अपनी तल्लीनता में समय की दीवारों को ढहा देती है। वैसे भी समय का ऐसा विभाजन तो समस्याओं को समझने के लिए ही

होता है, अन्यथा रचना तो एक जटिल अन्विति है हीकितने कितने तत्त्वों और अनुभवों का संश्लिष्ट रूपांतरण। सही मायने में यह रूपांतरण गहरी सघन रचना-क्षमता के रहते ही संभव हो पाता है। उपन्यास की कथा-वस्तु या जीवन-अनुभव जहाँ सान्द्रता, उत्कटता और आबद्धता की माँग करता है। उसी गहराई में से यह रचनात्मक सिद्धि होती है एक कालातीत दृष्टि, जो अपने विस्तार में सार्वकालिक अर्थवत्ता को समेट सकती है।

वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखने पर पता चलेगा कि रचना के भीतर का समय कोई 'समय' नहीं है। वह भी रचनाकार की प्रतिभा की ही उपज है। स्मृत समय होने के कारण वह भी रचनाकार से उतना ही परे होता है जितना कि आगे का समय। दोनों काल (उसकी संगति और सोपान-क्रम) भी रचनाकार की चेतना में जन्म लेते हैं। गहरी रचनात्मक चेतना जब दृष्टिसंपन्न होती है तब वह समय-सचेत नहीं, शुद्ध निरावृत्त रचना-क्षमता रह जाती है जो अपनी जरूरतों के उपादान स्वयं गढ़ सकती है और उन्हें समय के प्रवाह में आलोक-दीपों की तरह बहता छोड़ सकती है। इसलिए उपन्यास का समय सदा अपनी अर्थवत्ता को अर्जित करने का समय बना रह सकता है।

रचना में सर्वोपरि प्रश्न तो फिर भी वही रहता है कि आखिर रचनाकार अपने कमाए समय और उससे जुड़े आत्मबोध का क्या करता है। किस गहराई तक जाकर वह अपनी संभावनाओं को अर्थों का वाहक बनाता है। जीवन-अनुभवों से हटकर कितनी गत्यात्मकता और उनके निकट रहकर कितनी तदरूपता पैदा कर सकता है। कथा-अनुभवों की संभावनाओं से पूरा काम न लिया जा सके तो जवाबदेही रचनाकार की है। यह उत्तर उसके स्वयं के लिए भी आसान नहीं है। रचनाकर्म सदा एक-से उद्देश्यों से चालित नहीं होता। रचनाकार अपनी ही रचना की प्रक्रिया में कभी अपने को खोजता है, कभी अपने समय को पकड़ने की चिंता करता है और कभी मौलिक मूल्यबोध के सृजन के उत्साह से भरा होता है। रचनासृष्टि अपने मूल में, अपनी मंशाओं में इतनी विविध, इतनी प्रयोगधर्मी, इतनी मौलिक-आग्रही होती है कि उसके बारे में कुछ मोटी मान्यताओं और सार्वजनीन वृत्तियों के अलावा कोई बारीक नियम नहीं बनाए जा सकते। यह कभी नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य के व्यवहार में जो कुछ अभी तक नहीं हुआ वह आगे भी नहीं होगा। यदि कुछ पूर्व-निश्चित है तो इतना ही कि रचना अनन्तकाल तक जीवन का पीछा करती रहेगी और उसे कभी समग्रता में पकड़ नहीं पायेगी। हालाँकि इस प्रक्रिया में वह जरूरी सवालों के बीचोंबीच अपने समय के रेशे-रेशे को उधेड़ती-बीनती रहेगी।

समय की 'सीमा' वस्तुतः समय की सीमा नहीं है। दिक्काल में आबद्ध हमारी दृष्टि की सीमा है। रचनात्मक क्षमता जब कभी एक गहरी मनोदशा में उसका अतिक्रमण कर पाती है तो कितना कुछ देख लेती है। इसलिए उपन्यास-रचना के संबंध में यह प्रश्न उठना अधिक सार्थक होगा कि वह असली, सार्थक और आन्तरिक देखना कैसा होगा, जिसके होने से सब कुछ एक साथ प्रकाशित हो सकता है। इसमें भी संदेह नहीं कि भीतर से देख सकने वाली आँखों का विजन ही सुदूर सरहदों तक जाता है, क्योंकि वे आँखें सदा बाहर की ओर ही देखती रहती हैं, परिधि की ओर...

(‘शिखर’ पत्रिका से)

## चेतना का पुनस्संगठन : भारतीय उपन्यास की भूमिका

रमेशचंद्र शाह

### एक

आप लोगों में से ज्यादातर इस तथ्य से अवश्य परिचित होंगे कि जैनेन्द्रजी की सर्वाधिक रीझबूझ जिस उपन्यासकार पर निछावर होती थी वह था दॉस्तॉएवस्की। मुझे पहले-पहल यह बात थोड़ा विस्मय में डालती थी कि गाँधी से प्रभावित होते हुए भी वे क्यों टॉल्स्टॉय पर दॉस्तॉएवस्की को इतनी तरजीह देते हैं। मेरा मानना था कि यद्यपि रूसी चेतना केरूस की सामूहिक अवचेतना के आमूलचूल आलोड़न-मंथन और पुनस्संगठन में भी दॉस्तॉएवस्की की भूमिका टॉल्स्टॉय से किसी कदर कमतर नहीं, तो भी, हम हिंदुस्तानियों को शायद टॉल्स्टॉय ज्यादा रास आते हैं। इसका कारण शायद यही हो कि वे हमारे जीवन की जो सामान्य लय है उसके नजदीक जान पड़ते हैं। जैनेन्द्रजी मगर बारम्बार एक ही बात पर बल देते थे और वह यह कि, कितनी विपुल सर्जना और सत्य की खोज की ऐसी जीवनव्यापी व्याकुलता के बावजूद टॉल्स्टॉय आखिर-आखिर तक भी नैतिक चेतना की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सके। जबकि दॉस्तॉएवस्की की सर्जनात्मक ऊर्जा आध्यात्मिक सृजन-ऊर्जा थी। वह नैतिकता के वृत्त का अतिक्रमण करके यानी, उसे 'ट्रांसेंड' करके ही चरितार्थ हुई है। और इसी कारण वह मनुष्य नाम के अंधे कुँए में सीधी छलौंग लगा पाती है, मानवीय दुर्बलताओं का ही नहीं, मानवीय संभावनाओं का भी कहीं अधिक बेधक और पारदर्शी साक्षात् करा पाती है। मुझे यह बात ठीक-ठाक लगते हुए भी कहीं उलझन में डाल देती थी खासकर इसलिए भी कि मुझे ऐसा लगता रहा कि जैनेन्द्रजी का यह मूल्यांकन टॉल्स्टॉय की अपेक्षा टॉल्स्टॉय के निजी जीवन की आलोचना से प्रभावित है। मुझे याद है अपनी रुग्णावस्था के ठीक पहले के दिनों में जब-जब भी जैनेन्द्रजी से मेरी भेंट हुआ करती थी, वे एक ही बात अक्सर दुहराया करते थे और वह यह कि आज के कथा-साहित्य से उनकी सबसे बड़ी शिकायत ही यह है कि वह जिन स्थितियों को चित्रित करते हैं उन्हीं में लिथड़ जाते

हैं, उनसे उबरने का उपक्रम नहीं करते। मनुष्य में जो अपने जीवनानुभव को अतिक्रान्त करके उसका पारदर्शन करने की क्षमता कहीं गहरे में अन्तर्निहित है, उस क्षमता और संभावना को ही नकारते जान पड़ते हैं।

जैनेन्द्रजी की यह बात कहीं मेरे भी सिर चढ़कर बोलती थी। किंतु कई पेंच में डालने वाले सवालियों को भी पैदा करती थी। आत्मातिक्रमण या 'ट्रांसेंड' करना जिसे वे कहते थे वह जिस तरह उच्चकोटि के काव्य का गुण माना जाता है, क्या उसी तरह वह कसौटी उपन्यास की विधा पर लागू की जा सकती है? डब्ल्यू. एच. ऑडेन की एक प्रसिद्ध कविता हैदि नॉवेलिस्ट, जिसमें वह उपन्यासकार के स्वधर्म को, कवि-स्वभाव और कवि कर्म को बलपूर्वक अलगाते हुए उसकी नितान्त अपनी कठिनाइयों और नितान्त अपनी अनिवार्य अर्हताओं को रंखांकित करता है और कहीं इस तथ्य को भी सहानुभूति पूर्वक दर्ज करता है कि कवि, कवि होने के नाते ही ऐसी छूटें दे सकता है जो उपन्यासकार नहीं ले सकता। उसकी अपनी पसंद-नापसंद और भावात्मक पूर्वग्रह उपन्यास में बिल्कुल नहीं चल सकते। उसमें पर्वतारोही का ऐडवेंचर हो या न हो, पठार का धीरज तो होना ही चाहिए। 'ट्रांसेंड' करने की जरूरत या प्रेरणा, हो सकता है उसे भी किसी कवि से कम न हो, किन्तु अभी हाल में मिलान कुन्देरा का एक उपन्यास मेरे पढ़ने में आयालाइफ इज ऐल्सव्हेर, जिसमें उसने कवि-स्वभाव और कविकर्म को ही अपने व्यंग-विद्रूप का निशाना बनाया है। उपन्यास का यह नायक एक युवा कवि ही है और कथानक इतना सुस्पष्ट और पारदर्शी है कि किसी को इस बारे में भ्रम में रहने की गुंजाइश नहीं, कि उपन्यासकार इसी शताब्दी के कुछ जाने-माने कवियों कोठेठ समसामायिक यथार्थ (और राजनीतिक यथार्थ) के बारे में उनकी अक्षम्य नादानी और अपरिणामदर्शी आचरण के लिए कठघरे में खड़ा कर रहा है। और, वास्तव में यह उपन्यास पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो कवियों को लेकर प्लेटो को जिन शंकाओं की हमने अपनी समझ से कभी झाड़ू फूँक कर डाली थी, वे फिर से उठ खड़ी हुई हैपहले से भी अधिक डरावना रूप धारण करके। और यह इकतरफा व्यंग-विद्रूप भी उस तरह नहीं लगता। हमारी अपनी सहज-बुद्धि और मात्रा-ज्ञान ही हमें जता देते हैं कि उसकी बात में दम है, और कवित्तजिसका एक लक्षण 'ट्रांसेंड' करना भी हैअपने आप में अचूक विवेक और लोकमंगलकारी क्षमता की गारंटी कतई नहीं हो सकता।

जैनेन्द्र कवि तो नहीं थे, किंतु चिंतक थे। वे जिस अतिक्रमणशीलता को इतना स्पृहणीय गुण मानते हैं, उसकी औपन्यासिक सिद्धि के लिए वे उपर्युक्त कवित्व का सहारा नहीं लेतेजैसे कि फणीश्वरनाथ रेणु भी नहीं लेते। जहाँ तक वे अपनी कथाकारसंवेदना पर, मनुष्य नाम के अंधे कुँए में सीधी छलाँग लगाकर उबर आने के ठेठ औपन्यासिक साहस और औपन्यासिक मात्रा-ज्ञान से प्रेरित रहे, हम उनकी 'ट्रांसेंड' करने की क्षमता के कायल होते हैं जैसे त्यागपत्र और कल्याणी जैसे उपन्यासों में। चाहे 'कल्याणी' हो, चाहे त्यागपत्र की 'मृणाल', चाहे उनकी कहानियों की 'पत्नी', हिन्दी के किस अन्य उपन्यासकार ने स्त्री के घट में पैठकर उसकी विडम्बना, त्रास और घुटन का ऐसा अहसास किया और कराया है और उसकी उद्धारक शक्ति का भी, मैं नहीं जानता। मुझे याद आता है, कंठपुरा और सर्वेण्ट एण्ड दि रोप के यशस्वी रचयिता राजाराव ने मेरे सामने ही त्यागपत्र की (उन्होंने अंग्रेजी अनुवाद में ही पढ़ा होगा) सराहना करते हुए जैनेन्द्र जी से कहा था'इट हैज डॉस्तॉएवस्किजन डैप्यूस'। यही प्रतीति दूसरों की भी होगी और यह बात तब और भी विस्मयकारी लगने लगती है जब हम उपन्यास की अविश्वसनीय संक्षिप्त और सघनता को ध्यान में लाते हैं। ऐसा लेखक जब यह शिकायत करता है कि उसे

आज लिखे जा रहे उपन्यास इसलिए आश्वस्त नहीं करते कि वे कहीं 'ट्रांसेड' नहीं करते, तो हमें ठहरकर सोचना चाहिए कि उसकी बात का मर्म क्या है! मगर, यहीं एक दूसरी बात भी सामने आती है। मुक्तिबोध ने मुझे एक बार कहा था कि वे सर्जक जैनेन्द्र को बहुत श्रेष्ठ ('वात्स्यायनजी से भी श्रेष्ठतर' उन्होंने कहा था) मानते हैं। किंतु चिंतक-विचारक के रूप में वे उन्हें नहीं सुहाते। यह दिक्कत, मुझे लगता है अकेले मुक्तिबोध की नहीं थी। हममें से कईयों को जैनेन्द्रजी के यहाँ कथा-सृष्टि और चिन्तनशीलता का सम्बन्ध एक सीमा के बाद विक्षेपकारी लगता रहा है। वात्स्यायनजी की राय मुक्तिबोध की राय से मेल खाती मैंने देखी है। तो क्या जिस तरह कवित्व से उपन्यास की औपन्यासिक 'विज्डम' को या मात्रा-ज्ञान को क्षति पहुँचाने का खतरा देखा गया है, उसी तरह दार्शनिकता अथवा चिन्तनशीलता से भी परहेज आवश्यक है? मगर यहाँ हम विचित्र विरोधाभास के सामने आ खड़े होते हैं। हमारे यहाँ अनेक कवियों ने गद्य लिखा है और कई बार उनका गद्य यानी, औपन्यासिक गद्य तो विशेष रूप से बड़ा ही दमदार पैनायथातथ्य अतियों से उबरा हुआ गद्य होता है। भाव-ऊर्जा की ऐसी मितव्ययी सघनता-एकाग्रता जो हमें त्यागपत्र की बेहद कसावट वाली संरचना में मिलती है, वह अज्ञेय के शेरखर: एक जीवनी में भी देखी जा सकती है। निराला के कुल्लीभाट में भी व्यंग्य की जो धार, जो प्रभविष्णुता संभव हुई है, वह तथाकथित व्यंग्यकारों के बूते के बाहर की चीज है। वह कवि की ही वाग्विभूति है जो गद्य को फली है। यह वह कविता या कविसुलभ अंतदृष्टि है, जिसकी चरितार्थता के लिए कथा का माध्यम अनिवार्य है; जीवन और चरित्र ही जिसे उकसा-जगा सकते हैं। यूँ भी, जिसे हम चेतना का पुनस्संगठन कह रहे हैं, उसमें हमारे यहाँ कवियों की भूमिकाइस समूची सदी के साहित्य को देखते हुए कथाकारों की भूमिका जितनी ही महत्त्वपूर्ण कही जायेगी और यह मात्र, कवि रूप में नहीं, उपन्यासकार के रूप में भी। आधुनिक संवेदना को स्वायत्त करते हुए पारंपरिक चेतना को पुनस्संगठित करके उसका बासीपन झाड़ने का काम हमारे यहाँ इस नवजात गद्य ने तो किया ही है, उसकी इस नई ऊर्जा को आत्मसात् करते हुए कवि ने अपना खुद का कायाकल्प किया है। इसलिए दोनों के बीच रचनात्मक सम्बन्ध की सम्भावनाएँ भी सम्भवतः यूरोप और अमेरिका से कहीं गहरे स्तर पर हारे साहित्य में विशेषकर औपन्यासिक साहित्य में निहित होनी चाहिए, ऐसा मुझे लगता है। चुनौती और जरूरत दरअसल अपने दार्शनिक स्वभाव या संस्कार को औपन्यासिक सर्जना की शर्तों के भीतर से चरितार्थ करने की है न कि, उपन्यास को दार्शनिकता या चिंतन के तकाजों के अनुरूप ढालने की। चूँकि हमारे अपने परंपरागत सामूहिक मानस में दर्शन और धर्म के बीच, सत्य-चेतना और सौन्दर्य चेतना के बीच स्वयं व्यक्ति और समाज के बीच भी उसी तरह के मूलगामी विग्रह और तनाव की गुंजाइश अपेक्षाकृत अल्प रही है, इसीलिए सदियों से प्रवंचित और विश्रुंखलित हमारी सामूहिक चेतना के सृजनात्मक पुनस्संगठन की चुनौती का स्वरूप भी हमारे लिए अपने पाश्चात्य समानधर्माओं की तुलना में काफी कुछ भिन्न प्रतीत होता है। यहाँ भी मेरे लिए इस लेख के कलेवर में संभव नहीं कि इस दृष्टि से अपनी औपन्यासिक उपलब्धियों और अपव्ययों का भी समुचित आकलन कर सकूँ। यहाँ पर भारतीय उपन्यास की समस्या और संभावना का यत्किंचित् निरूपण ही मुझे अभीष्ट है और इसी सिलसिले में मात्र कुछ संकेत-सूत्र उभारने की कोशिश भर करना चाहूँगा। शुरुआत में संस्मरणात्मक ढंग से करना चाहूँगा : इसलिए कि मुझे लगता है कि इस अटपटी और शायद अनिष्ट-सी लगने वाली आत्मचर्चा के बिना मेरे शीर्षक का औचित्य स्वयं मेरे लिए स्पष्ट नहीं हो पाएगा। स्वयं हमारी अपनी चेतना एक ओर जातीय और दूसरी ओर सार्वभौम मानवीय चेतना के साथ किस तरह संश्लिष्ट होती है, किस



तरह स्वयं को विकसित और संगठित करती है, इसका कुछ आभास इस संक्षिप्त और विषयान्तर-सी प्रतीत होन वाली टिप्पणी से मिल सकना चाहिए।

## दो

उपन्यास नामक पदार्थ, या हूँ उपन्यास नाम का 'रस' मेरी चेतना में कब और कैसे दाखिल हुआ, इस बारे में सोचने लगता हूँ तो सबसे पहले रामायण-महाभारत और हितोपदेशपंचतंत्र की शृंखलित कथा की छाप मन पर पड़ी दिखाई देती है। साक्षात् जिए जा रहे जीवन के आस्वाद में ही जगह-जगह घुलता-मिलता और फिर उससे अलग और ऊपर चमकता हुआ सा वह आस्वाद, मेरे लिए मेरा पहला औपन्यासिक अनुभव था। उसी से लगा-लिपटासंभवतः कालक्रम में भी उसके एकदम पास का अनुभव मुझे याद आता है, वह था, टॉल्स्टॉय का रेज़ेक्शन (यानी, 'पुनर्जन्म'अपने हिन्दी अवतार में) सर्वातीज का डॉन कुआते और (किंज्योति नाम से छपा संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर उसका) देशी और विदेशी के फर्क की स्पष्ट चेतना के उदय से बहुत पहले का वह अनुभव हैसार्वभौम, सार्वजनिक कथारस और सार्वभौम, सार्वजनिक मानुष सत्य या यों कहें, मानुष-लीला का अनुभव। एक दर्जा आठ या नौ में पढ़ने वाले लड़के के लिएसाहित्यिक संस्कारों से सर्वथा अछूते परिवेश में पले-पुसे लड़के के लिए वह अनुभव इस कदर तीखा और चिरस्थायी क्योंकर साबित हुआ होगा? ये कृतियाँ मुझे किसी साहित्यिक सुरुचिवाले रिश्तेदार या हितैषी ने सुलभ नहीं कराई थीये तो मुझे यों ही संयोगवश हमारी दूकान में बिकने आई रद्दी के ढेर में हाथ लग गई थीं। जैसा कि मैंने एकाधिक जगह कहा और लिखा भी है, महान साहित्य मुझ से पहले-पहल महान् साहित्य की तरह नहीं, रद्दी के भेष में ही मिला और मैं समझता हूँ, यह मेरे हक में अच्छा ही हुआ। क्योंकि महानतासाहित्यिक महानता की भी सुनी-सुनायी धारणाओं का दबाव या आतंक इस तरह मुझ पर बनने से पहले ही झड़ गया। उसके साथ एक बालसुलभ, घरेलू और निहायत ही आत्मीय रिश्ता कायम हो गया। बंकिम, रवीन्द्रनाथ और शरच्चंद्र के उपन्यासों का नम्बर इसके बाद ही लग पाया। एकमात्र हिन्दी उपन्यास जो उस दौरान पढ़ने में आयादूकान की उसी रद्दी की बदौलतवह था प्रेमचंद का रंगभूमि। इसकी भी एक कथा है। एक दोपहरशायद इतवार की छुट्टी का दिन था वहमैं अपनी कोठरी में बैठा स्कूल का 'होमवर्क' कर रहा था कि पिताजी सीढ़ियाँ चढ़कर हाँफते हुए मेरे सामने प्रगट हुए। मुँह से बोल नहीं फूट रहा थाहाथ में उनके एक किताब थी जिसे वे ख़त्म करते ही तुरंत ओर तत्काल मुझे सौंप देने को दूकान छोड़कर भागे चले आये थे। मैंने पूछा, 'क्या है?' पर वे तत्काल मुँह फेरकर किताब मुझे पकड़ाकर वापस चले गये। उनकी वह विह्वल भाव-दशा, डबडबाई आँखें, और रूँधा हुआ कंठ मेरे सामने उजागर जो हो गया थाउसके न चाहते हुए भी। वे मुश्किल से पाँचवीं पास रहे होंगे। प्रेमचंद की रंगभूमि ने उनकी यह हालत कर दी थी। साहित्यउसमें भी उपन्यास की शक्ति का वैसा प्रत्यक्ष वस्तु-पाठ मुझे दुनिया का कोई विश्वविद्यालय सुलभ नहीं करा सकता था। 'ट्रांसेड' करने का जो अर्थ होता हो, मैं उसे कम से कम उस घटना से जोड़कर देखने का आदी हो गया हूँ। कविता की 'ट्रांसेड' करने की बात अलग होती होगी। परंतु उपन्यास भी अपने ढंग से 'ट्रांसेड' करता हैवस्तुस्थितियों को, चरित्र की सीमाओं को। तभी न उसमें ऐसी सामर्थ्य मानव-हृदय को झंकृत कर देने की आती है और उपन्यास की यह द्रवणकारी शक्ति (जैनेन्द्रजी का प्रिय शब्द था यह'द्रवण') न तो उस तरह कवित्व यानी कवियों वाली वाग्मिता की मोहताज जान पड़ती है न दर्शन की। यह कुछ और ही है जो हमारी चेतना का संस्कार और पुनर्संगठन करती है।

मैंने सुदूर लड़कपन में पढ़ी दो औपन्यासिक कृतियों की बात की थी। पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य में ये 'क्लासिक्स' की तरह प्रतिष्ठित हैं। मिलान कुंदरा ने 'उपन्यास' पर लिखे गए अपने अद्भुत ग्रंथ *The art of the novel* में सर्वातीज को ही यूरोप की औपन्यासिक प्रज्ञा का असली स्रोत और निकष निरूपित किया है। मूल उपन्यास तो काफी बाद में पढ़ने में आया। किंतु लड़कपन में पढ़े गये उस संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर की छाप अभी तक मन पर अमिट बनी हुई है। अद्भुत व्यंग्य-विनोद, जो अन्त आते न आते हमें गहरे औदास्य में धकेल देता है। ऐसी कॉमेडी, जो ट्रेजेडी से भी ज्यादा ट्रेजेक लगती है। अजीब-सा है उपन्यास का यह उपसंहार, जहाँ नायक 'किंज्योति' यानी डॉन कुआते तो अपने रोमानी आदर्श की बुलन्दियों से लुढ़ककर टूटे और झुलसे हुए पंखों समेत यथार्थ के पथरीले पठार पर आ टिकता है; वाल्मीकि रामायण में सूरज को पकड़ने निकले संपाती की तरह। मगर इसके ठीक उलट उसका सहचर सनकू (सांकोपांजा) अपनी ठोस पार्थिव सहजबुद्धि खोजकर नायक किंज्योति की तरह पागल बन जाता है। दोनों ने जैसे चोला बदल लिया हो। या आपस में या एक का संक्रामक दूसरे के भीतर दाखिल हो गया हो।

### तीन

आदर्श और यथार्थ की बहस हिन्दी में भी एक जमाने में खूब चला करती थी। 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की भी खूब चर्चा हुई। आज वह चर्चा बासी और अप्रासंगिक हो गई जान पड़ती है। परंतु क्या सचमुच आदर्श और यथार्थ का द्वन्द्व मानवीय चेतना से कभी मिट सकता है? हो सकता है, उसने अब अपना भेष बदल लिया हो। या, कदाचित् वह हमारी हिंदुस्तानी चेतना में इतने गहरे बसा हुआ द्वन्द्व हो, कि हमें उसकी जरूरत ही न रह गई हो। आखिर क्या वजह है कि उन देशों में, जहाँ एक या एकाधिक महाकाव्य उसकी सभ्यता के उद्गम पर ही प्रकट हो गए थे, हमें मानवीय चेतना और जीवनानुभूति के ऐसे ध्रुवान्त और कहीं नहीं दिखाई देते? आदर्श और यथार्थ के परस्पर विरोधी ध्रुवान्तों पर शायद ही किसी और सभ्यता को जन्म देने वाली चेतना इस कदर मथी गई हो, जिस तरह रामायण और महाभारत में।

'इसकी भी क्या वजह हो सकती है कि महाभारत या रामायण को अपना उपजीव्य बनाकर लिखे गये ज्यादातर भारतीय लेखकों के उपन्यास उथले लगते हैं? यह बात मैं सिर्फ हिन्दी के सन्दर्भ में नहीं कह रहा हूँ। हिन्दी का सजग लेखक-पाठक निश्चित रूप से भाषाभाषी लेखकों-पाठकों की तुलना में कहीं अधिक अखिल भारतीय दृष्टि रखनेवाला होता है। कभी-कभी लगता है, क्या पौराणिक मिथकीय सृजन-परम्परा आधुनिक भारत में सृजन की पीड़ा और उल्लास से अछूते और कल्पना-ऊर्जाविहीन लोगों का ही कन्सर्न है? या कि सृजनात्मक कल्पना हमारे यहाँ अब एक ऐसे 'ह्यूमन कन्सर्न' से ही परिभाषित-परिचालित होते रहने को अभिशप्त है जो स्वयं अपनी चेतना के इतिहास से ही बेदखल कर दिया गया है? यह एक बड़ी विचित्र-सी विडम्बना है कि लोकजीवन के स्तर पर जो परंपरा जीवन्त और प्रवहमान हो, वही सृजनात्मक और बौद्धिक स्तर पर हमारी पहुँच से परे चली गई हो इससे तो वहाँ पश्चिम में लेखकों का अपनी परंपरा से सम्बन्ध ज्यादा सृजनात्मक और वह बौद्धिक स्तर पर भी ज्यादा जीवंत जान पड़ता है। जहाँ वह जीवन के स्तर पर अलभ्य और नष्ट हो चुकी है। जेम्स ज्वाइस का 'यूलिसीज' होमर के महाकाव्य की तर्ज पर स्वयं को ढालने के लिए क्यों अन्तर्विषय है? क्यों उसके नायक के चेतना-प्रवाह का एक दिन होमरी नायक के निर्वासन के बादह-चौदह बरसों को नाप लेता है? मध्यकालीन यूरोप की धर्मचेतना के शिखर पर महाकवि दान्ते जिस डिवाइन कॉमेडी का

साक्षात् करता है, उसका स्वलन-विपर्यय बाल्जाक के कॉमेडी ह्यूमेन में और अवसान मानो डॉस्तॉएवस्की के नोट्स फ़ॉर्म दि अंडरग्राउंड में होता है। किन्तु इस सृजन-यात्रा को स्वलन या अवसान भी कैसे कहें? यूरोपीय मनुष्य की ऐतिहासिक चेतना का ही नवोन्मेष अथवा पुनस्संगठन क्यों न कहे? हमारे यहाँ तो इस त्रिकालव्यापी सूझ-बूझ का तो कहना ही क्या, सामान्य आधुनिक (और, साहित्यिक) कालज्ञता के ही लाले पड़ जाते हैं जब हम देखते हैं कि एक नितान्त आधुनिक महाकाव्य कामायनी तक की सृजनात्मक पैरोडी के औपन्यासिक इस्तेमाल का प्रयोग तक न तो कथाकारों को कहीं से भी अपने काम का लगता है, न कथालोचकों को। मुख्यतः कवि, विपिन अग्रवाल का बीती आपबीती ऐसा ही औपन्यासिक प्रयोग था : उसकी नाटकीय उद्भावनाओं की तरह ही लीक से हटकर और 'दिक्-काल' की हमारी अभ्यासरूढ़ और यथार्थवादी समझ को सही दिशा में विचलित करने वाला।

### चार

रूसी उपन्यास का किस्सा यहाँ और भी अधिक गहरा अभिप्राय रचता प्रतीत होता है। रूसी चेतना के पुनस्संगठन में इसने कैसी क्या भूमिका निभाई है, देखने लायक है। अपने विश्व-इतिहास के एक खण्ड में ऑर्नोल्ड ट्वायनबी ने एक विचारोत्तेजक बात कही है जो इस प्रसंग में हमारे काम की जान पड़ती है। वह यह कि, उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में जब यूरोपीय संस्कृति का जबर्दस्त दबाव रूसी चेतना पर पड़ा तो उस 'क्लवरल शॉक' को पचाने और उससे उबरने के सिलसिले में ही रूसी चेतना ने वह नायाब रास्ता खोज निकाला जिसका नाम रूसी उपन्यास है और जो स्वयं इस विधा के आविष्कार की पहल करनेवाले देश इंग्लैंड को उपन्यासकारों को इतना नया और विस्फोटक लगा कि उन्हें विक्टोरियन उपन्यास की लीक को त्यागकर सर्वथा नए प्रयोग करने की प्रेरणा उससे मिली। ट्वायनबी का कहना है कि उपन्यास की लीक को त्यागकर सर्वथा नए प्रयोग करने की प्रेरणा उससे मिली। ट्वायनबी का कहना है कि उपन्यास-रूसी यह 'सेफ्टी वॉल्व' रूसी चेतना की प्रेरणा उससे मिली। ट्वायनबी का कहना है कि उपन्यास-रूपी यह 'सेफ्टी वॉल्व' रूसी चेतना के लिए उसकी आत्मरक्षा और आत्मविकास दोनों दृष्टियों से बड़ा उपकारक सिद्ध हुआ। तभी तो, फिर पलटकर रूसी चेतना की मौलिक प्रतिक्रियास्वरूप यह आविष्कार यूरोपीय उपन्यास को भी फला।

किन्तु, अगर ऐसी ही बात है तो जैसा स्वयं ट्वायनबी से लक्ष्य किया है, रूस की तुलना में कहीं अधिक गहरा आघात तो यूरोपीय सभ्यता के साथ टकराव के फलस्वरूप भारत को लगा था। तब फिर भारतीय चेतना ने भी उसे पचाने को कोई सृजनात्मक उपक्रम किया ही होगा। वह क्या था? ब्राह्मसमाज? सत्यार्थ प्रकाश? रामकृष्ण परमहंस? याकि नीरद चौधरी जिन्हें उन्नीसवीं सदी के भारत का सबसे मौलिक और विलक्षण 'इंटेलेक्चुअल' मानते हैं, उन बंकिम बाबू की 'पोलेमिक्स' तथा आनंदमठ उपन्यास? या, थोड़ा और आगे बढ़ते हुए गुजराती का सरस्वतीचंद्र, बाँगला का गोरा, हिन्दी की रंगभूमि? याकि, भारतेंदु का भारत-दुर्दशा, मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती, टैगोर की गीतांजलि? बंकिम का आनंदमठ तो सशस्त्र विद्रोह के रोमांचकारी उपक्रम को भरपूर भाव-ऊर्जा से चित्रित कर चुकने के उपरान्त अंततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अभी देश इसके लिए सचमुच तैयार नहीं है अभी प्रतीक्षा करनी होगी। सदियों से मूर्च्छित पड़े इस देश के बुद्धि-बल को जगाना होगा संक्षेप में, समूची जातीय चेतना का पुनस्संगठन किए बिना स्वतंत्रता का वह मूल्य उजागर नहीं होगा, जिसके लिए संघर्ष करना सार्थक और फलदायी हो। अपने एक आलोचनात्मक लेख के संदर्भ में जिस जगह स्वयं बंकिम यह कहते

हैं कि उन्हें अपने प्रदेश के लेखकों की अपेक्षा उत्तर भारत की बलिष्ठतर जातियों ('स्टर्डियर रेसेज ऑव दि नार्थ') द्वारा प्रसूत कृतियों से कहीं अधिक गहरे रचनात्मक उनमेष की आशा है। दिलचस्प होगा यह देखना कि भारतीय चेतना और भारतीय चेतना के लघुत्तम समापवर्त्य सरीखी हिन्दी साहित्य में प्रतिफलित चेतना ने इस 'कल्चरल शॉक' का कैसा सृजनात्मक प्रत्युत्तर गढ़ा। ट्वायनबी भी साफ कहता है कि भारतीय सभ्यता तो रूस की तुलना में यूरोपीय सभ्यता से और भी अधिक दूर की, और भी गहरे में बेमेल सभ्यता रही है, इसीलिए इस टकराहट से भारत को जो आघात लगा, वह तो सचमुच ही मर्माघात था : भारत की सांस्कृतिक पुनरुत्थान की समस्या तो रूस की तुलना में कई गुना विकट और दुस्साध्य थी; कि भारत के पास रूसी उपन्यास सरीखा अपने भाव-यंत्र की सेहत बनाए रखने वाला 'सेप्टी वॉल्व' सुलभ नहीं था। और न वह उस तरह के राहत-कार्य की सृजनात्मक विधि ही अपने लिए खोज पाया।

क्या यह सही है? आत्मज्ञानमूलक सांस्कृतिक परम्परा में क्या आत्मरक्षा की सबसे कारगर विधियाँ कलात्मक या सृजनात्मक नहीं होतीं? याकि उसकी सृजनात्मकता कुछ अलग ढंग से होती है जो गंध की अपेक्षा पौराणिक प्रतीकों से जुड़ी काव्यात्मक शब्द-सृष्टि को अधिक अपने अनुकूल पाती है? जैसाकि मध्ययुगीन पुनर्जागरण के दौरान भक्तिकाव्य के माध्यम से संभव हुआ। किंतु यह पौराणिक विधि या 'मिथिकल मैथड' तो आधुनिक भाव-बोध के साथ ही बखूबी जुड़ी हुई है और कविता में ही नहीं, गद्य में भी वह यत्र-तत्र सर्वत्र चरितार्थ हुई है। रेणु की परती परिकथा को ही लें तो उसमें लोक-कथा, का लोक-विश्वासों का कैसा अद्भुत संगुम्फन हुआ है जो एक समूचे मानव-समुदाय के जीवन-मरण की समस्या को लेकर रचे गये इस उपन्यास को अतिरिक्त दीप्ति और अर्थगौरव कर देता है उस सारी जीवनलीला को एक अलग ही आयाम में उनीत और उन्मुक्त करता हुआ। इस उपन्यास पर मैं अलग से विस्तार में लिख चुका हूँ, अतः इसे फिलहाल यहीं छोड़कर कुछ दूसरे उदाहरणों की ओर संकेत करूँगा। विदेशी वस्तुओं का व्यामोह और प्रदर्शन-प्रियता हमारे मध्यवर्गीय सामान्य जीवन की एक वास्तविकता है जो आज भी सर्वत्र उजागर है: अपने आप में यह जिस सांस्कृतिक हीन भाव और आंतरिक खोखलेपन का परिचायक है, उसके लक्षणों की एक मोटी-सी पहचान क्या हमें हिन्दी के पहले उपन्यास परीक्षा-गुरु में नहीं मिल जाती? जिस 'कल्चरल शॉक' की बात अभी हमने उठाई थी ट्वायनबी की उस टिप्पणी के संदर्भ में, उसने क्या यह एकदम शुरुआती और कच्चा-सा उपन्यास भी अपने ढंग से देखने और दिखाने की कोशिश नहीं करता? किंतु यदि इसे और बंकिमचंद्र के आनंदमठ को भी भारतीय औपन्यासिक प्रतिभा के एकदम आरम्भिक उपक्रम मानकर आगे बढ़ें तो गुजराती में लिखा गया गोवर्धनराम का 'एन्साइक्लोपीडिक' उपन्यास सरस्वतीचंद्र एक तरफ, रवीन्द्रनाथ का गोरा और घरे-बाहिरे दूसरी तरफ और प्रेमचंद का रंगभूमि और गोदान तीसरी तरफ, जिस सांस्कृतिक-ऐतिहासिक वात्स्यायक में भारतीय मन-मस्तिष्क उस वक्त उलझा हुआ था, उसका सृजनात्मक प्रत्युत्तर या कम से कम पर्याप्त निदर्शन नहीं कहे जा सकते?

## पाँच

हमारे अग्रणी कथाकार निर्मल वर्मा ने कभी भारतीय उपन्यास की अवधारणा या स्वरूप का प्रश्न उठाते हुए प्रेमचंद के उपन्यासों पर प्रश्नचिह्न लगाने की जरूरत महसूस की थी और कुछ इस तरह की बात की थी कि प्रेमचंद ने यूरोपीय उपन्यास के ढाँचे को यथावत् अपना लिया जबकि भारतीय अनुभव और सांस्कृतिक संकटबोध की भी प्रमाणिक अभिव्यक्ति का तकाजा

यह था कि उसके अनुरूप रूपाकार या 'फार्म' की भी गहरे जाकर खोज की जाए। कदाचित् उसी की प्रतिक्रिया में कुछ कथाकारों ने प्रेमचंद की विरासत का राग अलापना शुरू कर दिया। किंतु औपन्यासिक उपलब्धि के लिए ग्राम-कथा या प्रेमचंद की विरासत जैसे नारे फिजूल और बेमानी है। खुद प्रेमचंद से कोई पूछता कि आप अपना उत्तराधिकारी किसे मानते हैं, तो वे जैनेन्द्र का नाम लेते। जो उन्होंने लिया भी है। 'जैनेन्द्र कुमार इज द मोस्ट आउटस्टैंडिंग नॉवेलिस्ट ऑव द यंगर जेनेरेशन' यह प्रेमचंद की ही घोषणा और प्रकाशित घोषणा है। अब आप जहाँ उपन्यास पनपा, वहीं देख लीजिए। मिलान कुंदेरा ने उपन्यास-कला पर अपने उस विख्यात विनिबन्ध में सर्वान्तीज का यूरोपीय उपन्यास के आदि पुरुष की तरह, चिंतन, प्रेरणास्रोत की तरह आवाहन और स्तवन किया है मगर न तो स्पेन में, यूरोप के किसी भी देश में कभी कोई उस तरह सर्वान्तीज की विरासत का दावा करता नजर आएगा। अकेले उन्नीसवीं सदी के अंग्रेजी उपन्यास का वैविध्य ही देख लीजिये : कहाँ जेन ऑस्टिन, कहाँ डिकेन्स और कहाँ जॉर्ज एलियट! कहीं कोई मेल है आपस में उनका? किसकी विरासत ढो रहे हैं ये? इसी तरह एक और भ्रान्ति भी हमारे समकालीन लेखकीय परिवेश में जड़ पकड़े हुए है, और वह यह कि सार्थक उपन्यास लिखने के लिए अनिवार्य है कि आपने बहुत पापड़ बेले हों, दुनिया भर के तजुबे किये हों, जीवन और मानव-चरित्रों का बहुत बड़ा विस्तार और वैविध्य प्रत्यक्ष देखा-भोगा हो। मगर, जेन ऑस्टिन का ही उदाहरण इस भ्रान्ति को मिटाने के लिए काफी होगा। इस महान औपन्यासिक प्रतिभा ने कभी अपने कस्बे की चहारदीवारी तक नहीं लाँधी थी। आजन्म अविवाहित रही आई, सो अलग। तब फिर कहाँ से उसमें मानव स्वभाव की ऐसी पकड़, ऐसी सूक्ष्म नैतिक कल्पना-शक्ति, ऐसी निर्मम-निस्संग व्यंग्य विनोद-वृत्ति? गोर्की ने जिस तरह की जिन्दगी जी, उतने विराट् वैविध्य में परिस्थितियों को, मानव चरित्रों को देखा-परखा वैसा तो उसके समवर्ती या परवर्ती किसी भी लेखक को नसीब न हुआ होगा। फिर भी जीवनानुभवों की इस अतुलनीय समृद्धि ने उन्हें एक संस्मरणकार ही बनाया, महान् उपन्यासकार नहीं। स्पष्ट ही संवेदना की तीव्रता-गहराई और सृजनात्मक परकायाप्रवेश की प्रतिभा मात्र जीवन की घटना-बहुलता या मात्र संयोगाश्रित सुख-दुःख-प्रचुरता पर निर्भर नहीं हुआ करती। औपन्यासिक सृजन में भी व्यक्तिगत स्मृति की भूमिका बिलकुल अलग तरह की होती है : स्वचालित, सर्व-विज्ञापक और नियामक न होकर वह सिर्फ उत्प्रेरक का काम करती है माध्यम बन जाती है अपने से बड़ी स्मृति के उकसाने-जगाने का, जिसे हम महाभारतकार के मुहावरे में 'प्रतिस्मृति' कहें या आज की शब्दावली में जातीय स्मृति कहें, एक बात है। आखिर औपन्यासिक पुनरुत्संगठन का कार्य एक वैकल्पिक सभ्यता के बुरी तरह कुचले गये मगर अभी तक जीवित और जागृत स्वप्न के लिए भला और कैसे संभव होगा?

थोड़ा विषयांतर जैसा भले लगे, मैं यहाँ इस बात को भी बलपूर्वक रेखांकित करना चाहूँगा कि औपन्यासिक चरित्रों की अंतर्धात्रा और सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण-उद्घाटन एक दूसरे से असम्बद्ध और स्वायत्त ही हों, यह कदापि आवश्यक नहीं। खुद अपने रचनात्मक अनुभव का उल्लेख करना बेजा हरकत न लगे तो मुझे नहीं लगता मेरे प्रथम उपन्यास गोबरगणेश के चरित्रनायक (विनायक) की अंतर्धात्रा तत्कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों से गहरे जुड़ी हुई नहीं है। एक अतिसंवेदनशील बालक के मानसिक विकास को दर्ज करने के साथ, बल्कि उसी अंतर्धात्रा के माध्यम से वह उपन्यास न केवल कुमाऊँनी समाज के निमित्त से तत्कालीन भारत में लक्षित होने वाली प्रवृत्तियों, गतिविधियों और अंतर्द्वन्द्वों को भी अनायास और अनिवार्यतः झलकाता है। यह बात, मैं समझता हूँ, मेरे अगले उपन्यास किस्सा गुलाम के बारे में और

भी अधिक उत्कटता के साथ सच होनी चाहिए। इसीलिए भी, कि प्रथम औपन्यासिक अभिव्यक्ति के अनिवार्यतः अर्द्ध-आत्मकथात्मक उलझाव से उबरी हुईनितान्त स्वतंत्र और निर्व्यक्तिक धरातल पर निष्पन्न-कथाकृति है।

और, क्या केवल मानवीय समाज ही उपन्यासकार का परिवेश है? मानवेतर जगत यानी प्रकृति से भी उसका भाव-बोध और संवेदन अर्धचेतन स्तरोंलगाव और विलगाव दोनों ही अवस्थाओं में उतना ही प्रेरित और प्रभावित नहीं होता? बल्कि विलगाव की स्थिति में, आधुनिक जीवन की अधिकाधिक यांत्रिक ओर जनसंकुल परिस्थितियों में, मानव समुदायों के आस्तित्विक और सांस्कृतिक लयभंग के मानसोपचार की जरूरत के तकाजे से ही प्रकृति के साथ मानवीय चेतना के सम्बन्धों की खोज जीवन की औपन्यासिक पुनर्रचना में और भी गहरे, और सूक्ष्मतम धरातलों पर अनिवार्य हो उठती है। न केवल प्रकृतिबोध, बल्कि मानवीय नश्वरता का बोध भी एक अतिरिक्त तीक्ष्णता और तात्कालिकता के आयाम में विन्यस्त किए जाने की चुनौती उपन्यासकार के समक्ष आ खड़ी होती है। मैं समझता हूँ, भारतीय उपन्यास की भारतीयता के प्रश्न को और ट्वायनबी द्वारा उठाई गई बात को इस सन्दर्भ में रखकर देखना चाहिए। रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में प्रकृति की पृष्ठभूमि के रूप में जो भूमिका है, क्या वह विभूतिबाबू के आरणक तक आते-आते काफी-कुछ नहीं बदल जाती? और, फिर भी, दोनों में की क्या यह भूमिका, यह संवेदना अपने पश्चिमी समानधर्माओं से काफी कुछ अलग और विशिष्ट नहीं? हिन्दी उपन्यास की यात्रा पर भी इस सिलसिले में विचार करें, तो क्या दृश्य दिखता है? अज्ञेय के शंखर : एक जीवनी से पहले हिन्दी उपन्यास में 'प्रकृति' लगभग अनुपस्थित दीखती है और नश्वरता-बोध की उत्कटता भी। अज्ञेय में और परवर्ती उपन्यासकारों में, यथा निर्मल वर्मा आदि में दोनों तथ्यों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई भूमिका क्या जताती है? जिसे हम 'चेतना का औपन्यासिक पुनर्रसंगठन' कह रहे थे, उसका इससे क्या सम्बन्ध है? या यों पूछें, उसमें इस भूमिका की ही क्या भूमिका है? ताराशंकर बन्द्योपाध्याय का आरोग्य-निकेतन, अज्ञेय का अपने-अपने अजनबी, निर्मल वर्मा का अंतिम अरण्य, तीनों उपन्यासों में नश्वरता या मृत्यु-बोध केन्द्रीय कथा-वस्तु है और तीनों में प्रकृति की पृष्ठभूमि के रूप में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है, सो क्यों? निर्मल वर्मा के उपन्यास में तो प्रकृति मानों स्वयं नेपथ्य से बीच-बीच में अवतरित होकर अग्रभूमि में घटित हो रही मानवीय जीवन-लीला में शामिल हो जाती लगती है। जीवन में घुली मृत्यु और मृत्यु में ओझल होते जीवन की आहट सुनती अपने ढंग-से अकेली आकृतियों के उस झामे में साझा करती हुई सी। इस उपन्यास से गुजरते हुए मन में कहीं बरसों पूर्व पढ़े वर्जीनिया वुल्फ के दि लाइट हाउस की संरचना के आर-पार गुँजती, जीवित चरित्रों से कहीं अधिक सजीव ऋतुचक्र की नाटकीय पुनरावृत्ति मस्तिष्क पर मंडराती रही। द्वितीय महायुद्ध के दौरान लगभग नर्वस ब्रेकडाउन की कगार पर रची गई इस औपन्यासिक कृति में प्रकृति की जो भूमिका है, अंतिम अरण्य की प्रकृति उसका स्मरण जगाती हुई भी अपनी गुणवत्ता और अपनी कार्यविधि में उससे सर्वथा भिन्न जान पड़ती है और एक अलग ही छाप छोड़ती है जो भारतीय प्रकृति और भारतीय मृत्यु-बोध के अनुरूप है। स्वभावतः यहाँ वैसा असह्य स्नायविक संत्रास नहीं महसूस होता जैसा वहाँ दि लाइट हाउस के सूने उजड़ में आघोपानत अभिनीत हो रही ऋतुओं की आवाजाही और मनुष्य-निरपेक्ष पुनरावृत्ति में यहाँ प्रकृति मनुष्य की जीवन-लीला से वैसी नितान्त असम्पृक्त और रीती नहीं लगती। उल्टे, शायद यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि वह उसके मनुष्य-भाव की रक्षा करने में और अकेलापन के संत्रास से उसे उबारने में अर्थात् 'ट्रांसेड' करने में मदद ही करती है। दार्शनिक दृष्टि से भले इसमें अन्तर्विरोध नजर आए कि

प्रकृति में लय होने की या प्रकृति की लय से एकात्मकता की अनुभूति को 'ट्रांसिडेंस' कहा जाय। किन्तु हमारे सांस्कृतिक परिवेश और बहुदेववादी आध्यात्मिक संस्कृति को दृष्टि रखते हुए और पश्चिमी सभ्यता द्वारा उपजाए गए निद्वैवीकरण के मरुस्थल को देखते हुए यह चराचरवादी पावनतामूलक अनुभूति या कम से कम उसकी संकटापन्नता का अहसास असंदिग्ध ही ठहरेगा और औपन्यासिक सृजन की कल्पना-ऊर्जा से इस अहसास का जड़ता मानव-मात्र की आत्म रक्षा की बुनियादी प्रकृति के साथ सर्वथा संगत और सार्थक भी। अंततः साहित्य में आध्यात्मिक भावबोध या उसकी जरूरत का अहसास दर्शन को अनुभूति के भीतर चरितार्थ करके या दर्शन को अनुभूति में घुलाकर ही संभव और कृतकार्य हो सकता है।

कुछ लोगों ने प्रकृति ओर नश्वरता-बोध के मूल्य की उपर्युक्त बातें रोमानी-भाव-बोध से प्रेरित प्रतीत हो सकती है। अज्ञेय की कविता है एक बूंद सहसा उछलीजिसमें सूने विराट् के सम्मुख सागर के झाग से सहसा उछली और क्षण भर को ढलते सूरज की आग से रंगी बूंद कवि को जता जाती है कि हर आलोक छुआ अपनापन, नश्वरता के दाग से उन्मोचन है। यदि यह रोमानियत या अस्तित्ववाद है तो जिसे हम भारतीय जीवन-बोध या मृत्यु-बोध कहना चाहते हैं, उसमें भी रोमानियत या अस्तित्ववादी विमर्श को अन्तर्भुक्त मानकर चलना होगा। बेहतर यही होगा कि हम इस तरह की शब्दावली या कोटियों का सहारा लिए बगैर भारतीय साहित्य और भारतीय उपन्यास के किये-धरे को देखने का उपक्रम करें। तब हम देख सकेंगे कि अपने-अपने अजनबी भी उसी आलोक छुए अपनेपन की अभीप्सा को अभिव्यक्त करने वाली औपन्यासिक सृष्टि है, जिसकी विडम्बना और विपर्यय हमें कृष्णबलदेव वेद के यहाँ उसका बचपन में ही नहीं, उसके बयान, काला कोलाज, मायालोक आदि उत्तरकालीन उपन्यासों में भी मिलते हैं। जिनके बारे में यह कहा जा सकता है कि उनमें किसी भी किस्म की रोमानियत और हर किस्म की भारतीय भावुकता की जमकर झाड़-फूँक कर दी गई है। स्वयं जैनेन्द्रजी का त्यागपत्र और कल्याणी मानवी यंत्रणा के जिस नरक से परदा उठाते जान पड़ते हैं, वहाँ भी उद्धार की जो आशा या हताशा है, वह इसी अभीप्सा से जुड़ी हुई है। एक लम्बी कहानी जितना ही तो विस्तार होगा इन दोनों उपन्यासों का किन्तु पच्चीस बरस के अन्तराल के बाद भी पठनानुभव की याद करो तो लगता है जैसे जाने किन-किन तहखानों में कितनी लम्बी सजा काट के आए हों। वह कहानी का कथ्य और जीवन नहीं, औपन्यासिक कथ्य और औपन्यासिक जीवन है। इसी तरह यहाँ मुझे राजाराव का कंठपुरा बरबस याद आ रहा है। गाँधी नाम की ऐतिहासिक घटना या विभूति को लेकर बीसियों उपन्यास लिखे गए होंगे और कंठपुरा तो उस तरह गाँधीवादी निष्ठा के लिए लिखी गई चीज भी नहीं है। जिस तरह अंग्रेजी में लिखा गया है। तो भी इस देश के जनसाधारण के चित्त पर इस घटना की कैसी छाप पड़ी थी, देश के लोकमानस ने किस तरह उसे ग्रहण किया था इसकी यथातथ्य प्रामाणिक अनुभूति अगर आज अर्धशती बीत चुकने के बाद भी किसी को करनी होती किसी भी सोशल डॉक्यूमेंट, संस्मरण या जीवनी की तुलना में यह छोटा सा उपन्यास कंठपुरा वह काम करेगा। जीवन्त, आँख के सामने घटित होने वाले इतिहास को भी कैसे हमारे अपने लोग एक पुराण की रूपावली-शब्दावली में ही देखते-परखते महसूस करते रहे हैं यह तो शायद हम सभी जानते होंगे। किन्तु हमारे उस 'जानने को इतने तीव्र, सघन और संश्लिष्ट रूप में रचकर उसे हमारे अन्तः चक्षुओं के सामने प्रत्यक्ष करा देने की क्षमता उपन्यासकार में ही होती है। भारतीय उपन्यास की, हिन्दी उपन्यास की, उपलब्धियाँ बहुविध हैं और उन सबका उल्लेख इस लेख का न तो प्रयोजन है, न अभीष्ट। हम तो यहाँ केवल उस ठेठ औपन्यासिक प्रतिभा और कल्पनाशक्ति का ही यत्किंचित्

संकेत भर उभारना चाहते हैं। जिसे हम तादात्म्य की क्षमता या दूसरे के घट में पैठ सकने की क्षमता कह सकते हैं। किसी उपनिषद् में कभी पढ़ा था कि 'जो सब होकर सबको देख सकता है, वही सचमुच देखता है।' असंभव आदर्श कह लीजिये; किंतु उपन्यासकार का कर्म कुछ ऐसा ही है। मगर इसका मतलब तब फिर यह होता है कि उपन्यास से मिलने वाला 'ज्ञान' भी ऐसा ज्ञान ही है। जो हमें किसी अन्य स्रोत से नहीं मिल सकता। न तो नृतत्वशास्त्र, न मनोविज्ञान और न समाजशास्त्र की उसकी जगह ले सकता है। ऐसे ज्ञान को हमारी पहुँच में ला सकने के कारण ही उपन्यास, उपन्यास कहलाया होगा और साहित्य, साहित्य; जिसका शब्दार्थ ही 'सॉलिडेरिटी' है। जन के साथ भी इसी प्रकार की 'सॉलिडेरिटी' वास्तविक और प्रामाणिक हो सकती है। उसमें विचार या मतवादी पक्षग्रह की दूरी नहीं, सीधे तादात्म्य की निकटता होती है और आत्मज्ञान सरीखी तत्काल संवेद्यता भी।

### छह

उपन्यास यह काम कर सके इसके लिए एक सुदीर्घ विकास-क्रम की, अनवरत प्रयोगशीलता की भी जरूरत थी। हमने आदर्श और यथार्थ पर होने वाली बहसों के जिक्र से बात शुरू की थी। हिन्दी उपन्यास आज उस आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को बहुत पीछे छोड़ चुका है और उस संश्लिष्ट और विशिष्ट ज्ञान का उपकरण-संवाहक बनने की राह पर है। तो इसमें सभी तरह की प्रतिभाओं का योग है; उनका भी, जिन्हें हम अपने भावबोध में, संस्कारगत परिवेश में पूरी तरह स्थापित पाते हैं और उनका भी, जिन्हें हम 'आउटसाइडर' या विस्थापित संवेदना के कलाकार कहकर अपनी खीझ प्रकट करते रहे हैं। उन्होंने हिन्दी उपन्यास के साथ क्या किया है, इसका सही आकलन हम तभी कर सकेंगे जब हम पीछे मुड़कर अपनी ही मानसिकता में अपने भारतीय मानस में पड़ी उस दरार को और उसे पाटने की कठिनाईयों को भी, सहानुभूतिपूर्वक समझेंगे। निर्मल वर्मा द्वारा उठाये गये उपन्यास के भारतीय 'फार्म' के प्रश्न को और आर्नोल्ड ट्वायनबी की उस दो अनमेल संस्कृतियों की ना-बराबरी की टकराहट से उपजे मर्माघात और उस आघात को पचाने या विकास देने वाले औपन्यासिक 'सेप्टीवाँल्व' वाली बात को भी तब हम उचित परिप्रेक्ष्य में रखकर देख सकेंगे। यदि कोई पूछे कि क्या हम सचमुच किसी ऐसे भारतीय उपन्यास को रेखांकित कर सकते हैं जो दोनों का सटीक प्रत्युत्तर हो, तो उसका उत्तर यही हो सकता है कि प्रेमचंद के बाद निराला का कुल्लीभाट, जैनेन्द्र, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, फणीश्वरनाथ रेणु, निर्मल वर्मा, कृष्णबलदेव वैद, कृष्णा सोबती, श्रीलाल शुक्ल, नरेश मेहता, विनोदकुमार शुक्ल इत्यादि के उपन्यास स्वभावतया और अनिवार्य रूप से उसी सटीक प्रत्युत्तर की दिशा में हुए उपक्रम हैं।

सटीक प्रत्युत्तर और हो भी क्या सकता है? क्या हम आज भी यह दावा कर सकने की स्थिति में हैं कि हम आत्मविभाजन की त्रासदी से उबर चुके हैं या कि अपनी सभ्यता पर लगे मर्माघात को पचा चुके हैं? याकि जो कुछ भी हम रच रहे हैं, सांस्कृतिक आत्मविश्वास की भित्ति पर रच रहे हैं? वैसे यह सांस्कृतिक आत्मविश्वास भी दोहरी चीज है। वह आत्मभ्रामक भी हो सकती है। इस सदी के पूवार्द्ध के हमारे उपन्यासकार तो हमारी अपेक्षा कहीं अधिक अपने संस्कारगत अस्तित्व की जड़ों के प्रति आश्वस्त और कहीं अधिक सांस्कृतिक आत्मविश्वास से संपन्न दीखते हैं। तब फिर क्यों उनके यहाँ स्वयं उनके भावबोध में ही यथार्थ और आदर्श का एक तरह का विभाजन सा नजर आता है? जैसे मानकर चला जा रहा हो कि काव्य जो है, वह संस्कृति का मामला है और कहानी या उपन्यास सामाजिक यथार्थ का कंकाल में जयशंकर



प्रसाद की दृष्टि अपने निकट सामाजिक परिवेश के कदर्य और कुत्सित यथार्थ पर जमी हुई है; जबकि कामायनी में वही आँख एक ऐसे आदर्श और स्वप्न पर टिकी है जिसकी संरचना मुक्तिबोध को ही नहीं, विजयदेव नारायण साही को भी आश्वस्त नहीं करती। उधर गुजराती के गोवर्धनराम को देखिए, तो सरस्वतीचन्द्र सरीखे एन्साइक्लोपीडिक उपन्यास के रचयिता को अलग से एक डायरी रखनी पड़ती है अपने वैयक्तिक अन्तर्जीवन के यथार्थ को सामने लाने के लिए। कहेँ भावनात्मक राहत-कार्य के लिए। सुनते हैं उस डायरी में खासी उथल-पुथल है; वास्तविक जीवन की प्रतिक्रिया में उपजी वह 'इनर वायलेंस' है। जिसके लिए 'सरस्वतीचन्द्र' के महाकाव्यात्मक विस्तार में भी कोई गुंजाइश नहीं। ऐसा क्यों? उपन्यास की यह कैसी भारतीय (या महाभारतीय) संकल्पना है, जिसमें यथार्थ के समूचे आयाम कीव्यक्ति के अन्तर्जीवन की, अंतः संघर्ष की, व्यक्तित्व की खोज की जरूरत हैमानो झाड़-फूँक कर देनी पड़ती है। गोया, सरस्वतीचन्द्र उपन्यास तो आदर्शवाद को या कह लो आदर्शोन्मुख यथार्थ को समर्पित हो; उसके लेखक की अंतरंग डायरी निजी अन्तर्जीवन के यथार्थ की यानी संस्कारों के दबाव से अवरुद्ध संवेदना की आत्म-स्वीकृति को। आदर्श और यथार्थ के बीच यह कैसा कार्य-विभाजन है? सोशल सेल्फ और प्राइवेट सेल्फ के बीच, संस्कारगत अस्तित्व और संवेदनशील व्यक्तित्व के बीच यह कैसी फाँक है! किंतु सृजन की समस्या और सार्थकता तो इस तरह की विभक्त मानसिकता का स्रोत जहाँ एक ओर तो स्वयं संस्कृति का ही गतिरोध है जिसे आत्माभिव्यक्ति का आवेग ही तोड़ सकता है जैसे हम निराला के यहाँ पाते हैं ओर दूसरी ओर वह स्वयं एक नई और आध्यात्मिक विधा की उन्मोचनकारी संभावनाओं को पहचान और बरत पाने की तैयारी का अभाव है। अमरीकी कवि वालेस स्टीवेंस की एक बात मुझे इस संदर्भ में बड़े काम की लगती है। उनके कथानानुसार :

“मनुष्य स्वभाव में वृद्धि ने कुछ खास जोड़ा नहीं है। आखिर हमें बाहरी दुनिया के अनवरत आघातों से बचाता कौन है? खुद हमारे भीतर से प्रकट होने वाली उग्रता ही हमें बाहर की उग्रता से बचाती है। यह हमारी कल्पना-शक्ति है जो यथार्थ के दबाव का प्रतिकार करती हैउनके विरुद्ध उतना ही अपना दबाव उत्पन्न करके। सम्भवतः इसका सम्बन्ध अंततः आत्मरक्षा की हमारी बुनियादी प्रकृति से है, और निस्सन्देह यही कारण है कि कल्पना, ऊर्जा की अभिव्यक्ति...उसके शब्दों का नाद हमें अपना जीवन जीने में मदद करता है।”

(...दि माइण्ड हैज एडेड नथिंग टू ह्यूमन नेचर। आफ्टर ऑल व्हॉट इज दैट प्रोटैक्ट्स अस फ्रॉम दि इन्सेसेंस ऑनस्लॉट्स ऑव दि आउटसाइड वर्ल्ड? इट इज द इनर वायलेंस दैट एराइजेज फ्रॉम विदिन अवरसेल्स टु काउंटर दि वायलेंस फ्रॉम विदाउट। इट इज दि इमैजिनेशन प्रैसिंग बैक अगेन्स्ट दि प्रेशन ऑव रिएलिटी। इट सीम्ज, इन द लास्ट अनेलिसिस टु हैव समथिंग टु डू विद अवर इन्स्टिंक्ट ऑव सेल्फ-प्रिजर्वेशन एण्ड दैट नो डाउट इज व्हाई दि एक्सप्रेशन ऑव इट, दि साउंड ऑव इट्स वर्ड्स। हैल्प्स अस टु लिव अवर लाइव्ज...)

सृजन के पीछे कार्यरत नितांत जैविक प्रेरणाओं का इससे बेहतर और दो-टूक बखान क्या होगा जो उस तरह किसी भी तरह पारंपरिक या आधुनिक आस्था या विचारधारा का मोहताज नहीं; हमारा स्वयं का रोजमर्रा का अनुभव जिसकी सच्चाई की गवाही देता है। कवि-स्वभाव आदमी का अनुभव तो खासतौर पर इसलिए नहीं, कि उसकी विशेषज्ञता का दावा है; बल्कि इसलिए, कि वह अपने स्वभाव से ही मानवीय जरूरत और वृत्ति का सर्वाधिक प्रत्यक्ष भोक्ता और साक्षी होता है। इसलिए, कि वह मनुष्यमात्र के भीतर से प्रकट होने वाली, बाहर की दुनिया के आघातों का प्रतिकार करनेवाली भीतरी भाविक विस्फोटों की ऊर्जा की, अर्थात्,

आत्म-रक्षात्मक कल्पना-ऊर्जा की शाब्दिक अभिव्यक्ति को सर्वाधिक सीधे और प्रत्यक्ष ढंग से जानता और इस्तेमाल करता है। यही ऊर्जा उपन्यासकार को भी चाहिए। इसी की मदद से वह ऊर्जा को और भी बड़े फलक पर और भी वृहद् बाहरी संसार के सामाजिक-सांस्कृतिक आघातों से उबरने-उबारने का सृजनात्मक पुरुषार्थ निभा सकता है। कहना न होगा कि इस अर्थ में सच्चा उपन्यासकार और अपने समाज की सभ्यता के लिए उतना ही जरूरी है जितना किसी जमाने में महाकाव्यों के रचयिता हुआ करते थे। सृजन प्रक्रिया की कल्पना ऊर्जा का यह निहायत कॉमनसेंसिकल रहस्य कवित्व और उपन्यासकारत्व के बीच बहुत अनमेल-सामंजस्य की गुंजाइश नहीं रहने देता। मुझे लगता है कि प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास की गतिविधि इसी एकाग्र अभिव्यक्ति की दिशा में अग्रसर हुई और पुरानी पीढ़ी में वह जो यथार्थ और आदर्श के बीच के तनाव को आदर्शवादी समाधान में घुला देने की अनिवार्य-सी प्रवृत्ति थी उसके अटपटेपन से मुक्त होकर उपन्यास-कला की अपनी विशिष्ट पहचान कायम करने में उपन्यास के अपने सहज भारतीय स्वरूप को सचमुच अर्जित करने की दिशा में प्रवृत्त हो सकी। जाहिर है कि यह विकास उस बुनियाद पर ही संभव हुआ जो प्रेमचंद ने डाली थी। यह भी इस तरह सोचने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस विकास और स्वरूप साधना में सर्वप्रथम जैनेन्द्र कुमार और अज्ञेय की पीढ़ी ने, तत्पश्चात् निर्मल वर्मा और वैद की पीढ़ी ने महत्त्वपूर्ण पहल की। आत्मरक्षा की जिस बुनियादी प्रवृत्ति को शब्दों के जिस नाद के उपर्युक्त कथन में वॉलेस स्टीवेंस ने सृजन-कर्म की प्रेरणा और प्रक्रिया के रूप में रेखांकित किया है, उसे हम आदर्श के स्तर पर दाम्पत्य-प्रेम की फंतासी के रूप में विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास दीवार में एक खिड़की रहती है में जाँच परख सकते हैं और उसी इंस्टिक्ट, उसी नादानुसंधान को हम स्त्री पुरुष सम्बन्धों की काम ग्रन्थि-ग्रस्त व्यंग्य-विद्रुपावली के अडियल यथार्थ पर दृष्टि गड़ाए वैद के उपन्यासों में भी।

## सात

यहाँ मुझे अपने एक औपन्यासिक अनुभव का थोड़ा जिक्र करने की जरूरत महसूस हो रही है। इस उपन्यास का प्रमुख चरित्र विनायक अपने जिये हुए जीवन की पुनर्रचना करते हुए उसका अर्थ बूझना चाहता है और इस प्रक्रिया के दौरान ही वह अकस्मात् एक ऐसे अनुभव से घिर जाता है जो कलाकार का नहीं, योग-साधक का अनुभव है। ध्यानावस्था में उसे जो शक्ति अपने स्नायु-तंत्र से खेलती अनुभव होती है, उसे वह व्यंग्यपूर्वक अपनी वाग्देवी की तरह संबोधित कर रहा है। उपन्यास का आखिरी अध्याय उसी के साथ एक संवाद-सा है। जिसमें से एक छोटा-सा अंश यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ :

ऐसे में वह एक दिन मेरे पास आई और कहने लगी “शब्द मत चाहो, उनसे कुछ नहीं मिलेगा।”

उसने यह बात शब्दों में कही थी। एक अजीब सी भाषा में कही थी जिसका अक्षरशः अनुवाद मैंने किया है।

‘पर क्यों?’ मैंने कहा। ‘तुम क्यों आई? मैंने तो तुम्हें बुलाया नहीं’।

‘मेरा आना या न आना तुम्हारे बुलाने या न बुलाने पर निर्भर नहीं है। मैं तुम्हारी आत्मा हूँ। मुझी में तुम्हारे अस्तित्व की जड़ें हैं। जड़ें तो जन्म जन्मान्तरों में फैली हुई है।’

‘जन्मान्तर में मैं विश्वास नहीं करता।’

‘मुझमें तो करते हो?’

‘नहीं करता था। पर करना पड़ रहा है। क्या तुम मेरी इतनी भी मदद नहीं कर सकती?’

‘कैसी मदद?’

‘लिखने में। जब से तुम आई होशब्दों ने मेरे पास आना बन्द कर दिया है।’

‘मैं शब्दातीत हूँ। मैं वहाँ हूँ जहाँ वाणी चुक जाती है, मन की जड़ें खो जाती है। मैं तुम्हारी मदद कैसे करूँगी?’

‘कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम्हीं मेरी असली आत्मभिव्यक्ति होनिःशब्द?’

‘अब...यह तो तुम ही जानो।’

‘मैं खाक जानूँगा। तुम्हारा स्पर्श मिलते ही मेरे होंठ भिंच जाते हैं, कंठ अवरुद्ध हो जाता है, वाणी के सारे स्रोत सूख जाते हैं। मैं जैसे कुछ नहीं, यह संसार ही कुछ नहीं, कोई समस्या नहीं, संघर्ष नहीं। अर्थ खोजने की बेकली खुद निरर्थक हो जाती है। मैं जड़ हो जाता हूँ नितान्त। किन्तु यह जड़ता मुझे अनिर्वर्चनीय आनन्द से भर देती है। संसार से एकदम परे छिटक जाता हूँ मैं, अपनी पहचान खो देता हूँ। पर इस व्यक्तित्वहीनता में मुझे ऐसी अद्भुत, अभूतपूर्व शान्ति मिलती है कि अपनी जानी-पहचानी रोजमर्रा की दुनिया में वापस लौटने की इच्छा ही जैसे मर जाती है।’

‘तो फिर तुम और क्या चाहते हो? तुम्हीं ने तो मुझसे कहा था कि तुम्हें ऐसी अभिव्यक्ति चाहिए जो उस सारी संदिग्धता और ऊलजलूलियत से तुम्हें उबार ले जो तुम्हारा जीवन तुम्हें लगता रहा है।’

‘यह जीवन नहीं, मृत्यु भी नहीं, पता नहीं क्या है! मुझे जीवन चाहिए। असंदिग्ध जीवन। कोई असंदिग्ध उद्देश्य और अर्थहीन न्यायविहीन जीवन और संसार का, जिसके लिए जी सकूँ और रच सकूँ।’

‘अपने डॉस्तॉएवस्की से पूछो।’

‘मैं तुमसे पूछता हूँ। क्या मित्या के उस स्वप्न का, जो अभी कुछ ही देर पहले ब्रदर्ज करमाजोव पढ़ते हुए मेरी रीढ़ में बज रहा था, तुमसे कोई वास्ता नहीं?...’

यह संवाद इसी तरह चलता रहा है और फिर एकाएक टूट जाता है। चरितनायक विनायक के ही शब्दों में मैंने इस संवाद को आगे बढ़ाने की बहुतेरी कोशिश की। परंतु सब निष्फल। मुझे बार-बार पता चलता था एक रेखा है, जिसे लॉघे बिना उसके साथ सचमुच आगे की बात नहीं हो सकती। मगर उस देहरी के छूते ही मेरी हिम्मत जवाब दे जाती थी।

प्रश्न यहाँ भी मानवीय चेतना और उस पर पड़ने वाले यथार्थ के दबावों के बीच के इस उपजाऊ रिश्ते को, चेतना के स्वयं को सचमुच ‘ट्रांसेड’ करने की योगलभ्य सामर्थ्य ये जोड़कर देखने का है। एक आमूलचूल बदले हुए आधुनिक जीवन-संदर्भ में, जहाँ चेतना का वैसा ऐडवेंचन खुद ही एक सर्वव्यापी सन्देह की गिरफ्त में है। किंतु मानव-चेतना तो कमोबेश वही है जो पहले भी थी और यह भी इसी चेतना के इतिहास का तथ्य है कि योगसाधना के साथ या उसके बगैर भी इतना विपुल और वैविध्यपूर्ण वाङ्मय सिरजा जाता रहा। कल्पना करें थोड़ी देर के लिए, कि हमारे चारों वेद, महाकाव्य, पुराण आदि लिखे ही न गए होते तो हमारा सांस्कृतिक जीवन क्या होता? आखिर यह मुख्यतया वाक्-संस्कृति ही है। वाक् की महिमा का इतना महत्त्व, और दोहन तो शायद ही कहीं अन्यत्र हुआ होगा और उसके साथ-साथ शब्दातीत की ‘यतो वाचो निर्वर्तन्ते’ की योग साधना भी निर्बाध चलती ही रही। तब इसमें से यही निकलता है अनिवार्यतः कि सृजनात्मक वाक् ऊर्जा तथाकथित जीवन यथार्थ का अनुकरण भर नहीं है, बल्कि वह स्वयं उस यथार्थ को जन्म देती है, उसका रूपांतरण और उन्नयन करती है। यह भी इसी में से निकलता है कि यह चुनौती सदैव हर युग में बनी रहती है। जीवन

की पुनर्रचना की, चेतना के पुनर्रसंगठन की, नए-नए मिथक, प्रतीक और नए-नए रोल मॉडल्स गढ़ने की। और जो नए मिथक या रोल मॉडल्स चेतना की इस नव-नवोन्मेषशाली ऊर्जा में से नहीं निकल रहे, बल्कि बाहर से बलात्कार पूर्वक हमारी चेतना पर थोपे जा रहे हैं, उन्हें भी सार्थक प्रतिरोध देने की चुनौती। उपन्यास चूँकि जीवन की पुनर्रचना और रूपान्तरण-उन्नयन के लिए सबसे विस्तृत और गहरा अवकाश रचने वाली विधा है, और समष्टि के भीतर से समष्टि की शब्दावली और रूपावली में ही व्यक्तित्व की खोज और मुक्ति (यानी फुलफिलमेंट) ढूँढने पाने का माध्यम है, अतएव उक्त चुनौती को झेलते हुए उसका पर्याप्त प्रत्युत्तर गढ़ सकने की अदम्य ऊर्जा और प्रेरणा ही उपन्यास रचे जाने की सार्थकता है और इसी में उपन्यास के भारतीय स्वरूप की खोज और उपलब्धि की प्रक्रिया भी निहित है।

अन्त में एक और बात कह कर मैं अपनी बात समाप्त करूँगा। निराला ने कभी कहा था कि उपयुक्त समाज-संस्कार के अभाव में हिन्दी में अच्छे उपन्यास नहीं लिखे जा रहे। उनका आशय एक सुस्पष्ट प्रादेशिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से रहा होगा। जैसा कि बाँग्ला उपन्यासों में या अन्यत्र हमें मिलता है। कलकत्ता, मुंबई, पूना की तरह, हिन्दी साहित्यिक संस्कृति का एक स्थायी नागरिक 'न्यूक्लियस' भी उस तरह हमारे पास नहीं दिखता। सचमुच, इस मामले में हिन्दी उपन्यास शुरू से घाटे में रहा। मगर, यदि पिछले पचास वर्षों के इतिहास पर नजर गड़ाएँ, तो लगता है, उसके पास अपनी ज्यादा खुशकिस्मत बहानों की अपेक्षा कुछ ज्यादा ही माल-भत्ता इकट्ठा हो गया है। सचमुच, हिन्दी उपन्यास का यह खासा विशाल और वैविध्य भरा वर्णपट है। एक ओर बाणभट्ट की आत्मकथा है, तो दूसरी ओर शंखरः एक जीवनी है, तीसरी ओर कुल्लीभाट है तो चौथी ओर एक से एक बढ़कर ऐसे प्रयोग हैं : दर्द ला-दवा और बीती आपबीती सरीखेकि आधुनिक से आधुनिक, अवाँगार्द किस्म के मराठी या बाँग्ला लेखक भी पनाह माँगने लगे। बेशक हमारे पास हमारी समृद्ध प्रादेशिक भाषाओं जैसा एकरूप, (होमोजीनियस) सांस्कृतिक परिवेश (कल्चरल मिल्यू) न हो, परंतु हिन्दी का तो जन्म ही मानो इसीलिए हुआ था कि उसमें कोई सुपरिभाषित प्रादेशिक अस्मिता नहीं, बल्कि एक समग्र भारतीय अस्मिता बोले। अनेक समृद्ध बोलियाँ हैं और एक से एक आँचलिक उपन्यास भी हैं। मगर क्या फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों की देश-काल व्यापी टंकार को महज आँचलिक कहकर निपटारा जा सकता है? निश्चय ही नहीं। यूँ देखा जाय तो लगता है, जैसे 'रूटेड' नावेल बाँग्ला में लिखे रह गए हैं और वे दमदार भी है उन्हें कुमाऊँ, बुदुलखण्ड, मालवा आदि में अपनी जड़ें डालनी पड़ी हैं। मगर इसमें एक जोखिम भी है सचमुच आँचलिकता में ही 'रिड्यूस' हो कर रह जाने का। समग्र भारतीय अस्मिता की गूँज पैदा करने की जो हिन्दी की अपनी टेक, अपनी आन-बान है, उसकी सुध की बिसर जाने का; 'लोकल कलर' और 'फ्लेवर' पैदा करने में ही सारी औपन्यासिक ऊर्जा बिसरा देने का। देखा जाय तो दोनों ही छोरों पर जोखिम है। हिन्दी : में रूटेड नॉवेलिस्ट बनना है, तो आँचलिक में सिकुड़े रह जाने का; यदि विस्थापित संवेदना दुलवानी है उपन्यास से, तो कहीं प्रयोगवादी ही होकर न रह जाएँ, इसका खतरा। कहना न होगा कि इसीलिए जो उपलब्धियाँ हैं हिन्दी उपन्यास की, वे इन जोखिमों से निखरी हुई उपलब्धियाँ हैं और इस नाते स्पृहणीय भी।

(बहुवचन-7 से)

## उपन्यास-कला

---

नित्यानंद तिवारी

हिन्दी उपन्यासों की शिल्प-संरचना के इतिहास में सबसे पहले प्रेमचंद का नाम आता है, क्योंकि उनके उपन्यासों के पहले कथा-साहित्य का ढाँचा मध्ययुगीन साहित्य रूप “आख्यान” जैसा ही था। आख्यान को आधुनिक उपन्यास के अर्थ में प्रेमचंद ने ही विकसित किया। प्रेमचंद के उपन्यासों की दुनिया के पूर्ववर्ती कथा-परंपरा से इतनी अलग है कि वह उसका विकास नहीं लगती। वह एक विस्फोट जान पड़ती है जिसके तत्त्व अन्दर-अन्दर ऐतिहासिक परंपरा में संकलित और घनीभूत हो रहे थे। प्रेमचंद को जो कथा परंपरा मिली थी वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार थी “हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलिस्म बाँधा करते थे। कहीं फिसानये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चंद्रकांता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत प्रेम रस की तृप्ति; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है यह कल्पनातीत था।” (साहित्य का उद्देश्य)। लेकिन “चंद्रकान्ता और तिलिस्म होशरूबा को पढ़ने वाले लाखों थे। प्रेमचंद ने इन लाखों पाठकों को “सेवासदन” का पाठक बनाया, यह उनका युगांतरकारी काम था। ... प्रेमचंद ने चंद्रकांता के पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा, चंद्रकांता में अरुचि भी पैदा की, जनरुचि के लिए उन्होंने नए मानदण्ड कायम किए और साहित्य के नए पाठक और पाठिकाएँ भी पैदा किए। यह उनकी जबर्दस्त सफलता थी।” (डॉ. रामविलास शर्मा, ‘प्रेमचंद और उनका युग’)

किंतु यह सफलता प्रेमचंद को किस आधार पर मिली? क्या वह आधार घटनाओं को अतिनाटकीयता से अलग मानवीय जीवन और अनुभवों के पहलुओं के संघात के रूप में पहचान नहीं था? प्रेमचंद ने यह बताया कि घटनाएँ कथा में बहाना नहीं हैं जिनके माध्यम से मनोरंजन, उपदेश या दार्शनिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की जायें बल्कि वे जीवंत और संगठित रचनाएँ हैं जिनमें जीवन के कई और परस्पर विरोधी (भी) पहलू होते हैं। उन्हीं से हिन्दी पाठक को पता चला

कि पात्र या चरित्र मात्र अच्छे या बुरे होकर नैतिकता अनैतिकता के सिद्धांत नहीं होते वे परिस्थितियों के दबाव झेलते हुए आशा-निराशा, आकांक्षा-स्वप्न और भावों-विचारों के जटिल संस्थान हाते हैं। प्रेमचंद ने ही जोर देकर कहा था कि भाषा कुछ भी व्यक्त करने का माध्यम मात्र नहीं बल्कि जीवन की सच्चाईयों के निशान और अनुभव की तीव्रता और गति के प्रमाण देने में समर्थ ध्वनि संगठन है। ऐतिहासिक संदर्भ में घटना, चरित्र और भाषा की उनकी पहचान इतनी क्रांतिकारी है कि उनकी प्रतिभा एक रचनाकार की नहीं एक सक्रिय और रचनात्मक युग की सामूहिक प्रतिभा की गवाही देती है।

प्रेमचंद के उपन्यासों का विपुल परिमाण जिन कला-समस्याओं को प्रस्तावित करता है वे एक रचनाकार की विशिष्ट समस्या से अधिक एक ऐतिहासिक युग की प्रकृति को अधिक व्यक्त करती हैं। मसलन कथानक और चरित्र के स्वरूप की सामान्य समस्याएँ। कथानक घटनाओं की शृंखला है और घटनाओं में निहित पहलुओं का क्रम संगठन; चरित्र कार्यों के कर्ता मात्र हैं अथवा संस्कारों, प्रत्यक्ष परिस्थितियों के दबावों तथा मनोभावों के संघात? ये समस्याएँ 'सेवासदन' के प्रकाशन से पूर्व उठी ही नहीं हैं। यानी 'सेवासदन' हिंदी उपन्यास के विकास में महत्वपूर्ण ऐतिहासिक बिन्दु पर स्थित है। सबसे पहले 'सेवासदन' में ही उपन्यास के रूप और गठन सम्बन्धी समस्याओं का सामना करते हुए पाठक अपनी पाठ चेतना को जीवनानुभवों की टकराहट से प्रखर परिवर्तित और परिभाषित करने की आवश्यकता महसूस करता है। यही नहीं आज भी उपन्यास सम्बन्धी कला-समस्याओं का सामना करने के लिए प्रेमचन्द का साहित्य अधिक सार्थक बिन्दु की प्रस्तावना करता है। प्रेमचन्द ने उपन्यास के रूप-गठन संबंधी समस्याओं को हल किया था और शिल्प, तकनीक, सूक्ष्म चित्रण आदि को उसी के मातहत अतिरिक्त कला समृद्धि के रूप में स्वीकार किया। रूप और गठन ऐतिहासिक वास्तविकता की अनिवार्य उपज होते हैं जबकि डिजाइन और तकनीक वैयक्तिक भूमिका में होकर रूप और गठन के ऐतिहासिक ढाँचे को विविधता और समृद्धि प्रदान करते हैं। रूप और वस्तु अनिवार्यतः द्वन्द्वात्मक रिश्ते में होने के कारण एक दूसरे से स्वतंत्र नहीं हो सकते किंतु तकनीकी कौशल यदि कड़ाई से इस द्वन्द्वात्मक रिश्ते के मातहत नियोजित नहीं किए जाते तो बहुत कुछ स्वतंत्र हैसियत अख्तियार कर लते हैं और रूप तथा वस्तु के ऐतिहासिक स्वरूप का अनैतिहासिकरण करते हुए उनकी समस्याओं को निरर्थक कर देते हैं। यहाँ एक क्षण के लिए 'सेवासदन' के सामने 'त्यागपत्र' को रखकर हम रूप और गठन की ऐतिहासिक समस्या और डिजाइन तथा तकनीक की अपेक्षाकृत विशिष्ट समस्या का अंतर समझ सकते हैं। प्रेमचंद ने जीवन की स्थितियों और अनुभवों के ठोस रूप पर अपना बलाघात बहुत अधिक दिया है यहाँ तक कि वह उनके दृष्टिकोण निर्धारण का जैसे केंद्रीय तत्त्व जान पड़ता है। ठोस वास्तविकता ऐतिहासिक सारवस्तु के बिना संभव नहीं है किन्तु वह अपनी ऐतिहासिक सारवस्तु के साथ जीवन की सूक्ष्म समस्याओं के पहलुओं को भी समाहित करती रह सकती है। जैनेन्द्र का बलाघात जीवन की सूक्ष्म समस्याओं पर है जो नितान्त अनिवार्य होने पर ही ठोस स्थितियों का सहारा लेते हैं। यानी उनके लिए ठोस स्थितियाँ मात्र प्रस्थान बिंदु हो सकती हैं जबकि प्रेमचंद के लिए ठोस स्थितियाँ इसलिए ही ठोस हैं कि वे अनेक निर्धारकों और पहलुओं के संघात हैं। किन्तु प्रेमचंद के लिए भी ठोस स्थितियाँ प्रस्थान बिंदु हैं तभी तो वे जीवन के अंत में इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'अब आदर्श से काम न चलेगा।' यानी प्रत्यक्षानुभूति और धारणा के स्पष्टतर विकास के संदर्भ में ठोस स्थितियाँ प्रस्थान बिंदु हैं किन्तु वे स्वयं अपने में भी लक्ष्य को पाने का साधन मात्र नहीं हैं वरन् वास्तविकता का विधान हैं। जबकि 'सूक्ष्म' (जो मनुष्य की आत्मवादी धारणा को व्यक्त

करता है) पर बलाघात ठोस स्थितियों को लीला का विधान बना देता है। इसलिए घटनाओं और चरित्रों को वस्तुगत वास्तविकता के संगठनात्मक अवयवों की अपेक्षा अपने दृष्टिकोण के अनुसार डिजाइन और तकनीकी कुशलता के रूप में इस्तेमाल करने की संभावना बढ़ जाती है। तब उपन्यासकार को एक ऐसी स्वतंत्रता मिल जाती है कि वह अपने विचारों के अनुसार वस्तुगत और वास्तविक दुनिया के समानांतर एक ऐसी मनोरम सूक्ष्म और गंभीर दुनिया खड़ी कर लेता है जिसे समझना अक्सर कठिन हो जाता है। प्रेमचंद को यह स्वतंत्रता हासिल नहीं है।

घटनाओं और चरित्रों के ठोस स्वरूप पर बलाघात प्रेमचंद के उपन्यासों में संगठनात्मक आशय को चरितार्थ करता है। वे घटना, चरित्र, कार्य अथवा सत्य को अनेक और परस्पर विरुद्ध (भी) पहलुओं के संगठनात्मक रूप के कारण ठोस मानते हैं। इन सबमें परस्पर अंतर्विरोधी पहलुओं की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया उन्हें ठोस बनाती है। अर्थात् विषय सामग्री के भीतर रूप (Form) और प्रक्रिया के वस्तुगत और गतिशील नियम निहित होते हैं। इन नियमों का संगठनात्मक उपयोग वास्तविकता का कलात्मक प्रस्तुतीकरण है।

‘सेवासदन’ के प्रकाशन से पहले घटना को ‘ठोस’ रूप में पहचाना ही नहीं गया था। उदाहरण के लिए ‘परीक्षागुरु’ (जो पूर्व प्रेमचंद उपन्यासों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है) में लाला मदनमोहन के जीवन में घटने वाली घटनाएँ इसलिए ठोस नहीं हैं क्योंकि लेखक उनके माध्यम से तत्कालीन समाज में जीने वाले लोगों को कुछ नसीहतें देना चाहता है और इसी कारण बीच-बीच में और कभी बिल्कुल अलग परिच्छेदों में नसीहतों के व्याख्यान भरे पड़े हैं। वे घटनाओं के अनिवार्य सन्दर्भ में नहीं हैं बल्कि उनके लिए घटनाओं को गढ़ लिया गया है। इसी कारण घटनाएँ सचमुच नाटकीय विधान में न होकर नाटकीय अन्दाज में हैं। ऐसा नहीं लगता कि परीक्षागुरु में घटनाओं के भीतर लेखक की कोई सहभागितापरक भूमिका भी है, वह निरीक्षक और निर्देशक जैसा कुछ व्यवहार करता है। लेखक की अपनी बात महत्त्वपूर्ण है, स्वयं घटनाओं का कोई महत्त्व नहीं है। (यानी वे कई पहलुओं के संघात न होकर पहलूहीन तथ्य हों जिनका इस्तेमाल किसी भी उद्देश्य और लक्ष्य के लिए किया जा सकता है)। घटनाओं का अपना आंतरिक विधान जीवंत होता है और अपने उपयोग किए जाने की निर्देशक संभावनाओं को वह स्वयं में धारण करता है; उसकी प्रकृति को पहचानने वाला कथाकार इन संभावनाओं की उपेक्षा करके अपने दृष्टिकोण और विचारधारा के अनुसार घटनाओं का उपयोग नहीं कर सकता।

घटना में निहित इन्हीं निर्देशक संभावनाओं को पहचानने के कारण उपन्यास, साहित्य और जीवन के पारस्परिक संबंधों के बारे में बहुत बल देकर बहुत तरह से प्रेमचंद को लिखना पड़ा है। वे कला और साहित्यिक नियमों को बड़ी कड़ाई से जीवन प्रसंगों से सम्बद्ध करते हैं। यानी किसी रचना के रूप में बंधात्मक नियम सिर्फ जीवन की वास्तविक सामग्री से पैदा होते हैं। घटना, कार्य और चरित्र की आयोजना, अभिव्यक्ति के कलात्मक कौशल, जीवन में निहित गति-व्यवस्था के ही प्रतिरूप होते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि जीवन और दुनिया लोगों, चीजों, घटनाओं की गड्ढमड्ढ सत्ता मात्र नहीं है, बल्कि सौंदर्यात्मक प्रश्नों और विधानों का एकमात्र स्रोत है। प्रेमचंद का समस्त साहित्य इस बात की गवाही देता है कि विचार और भाव उन परिस्थितियों के भीतर से पैदा होते हैं जिनके बीच जीवन जिया जाता है। इस प्रकार विचारों और भावों की ठोस, देशकालबद्ध और तात्कालिक सत्ता होती है। उन्होंने साहित्य को जीवन की सच्चाईयों का दर्पण कहा है। लेखक की सृष्टि में प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर सर्वाधिक बल दिया है। उन्होंने लिखा है “साहित्य केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु

नहीं। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा...जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।” साहित्य के खरेपन की जो कसौटी प्रेमचंद ने बताई है वही उनके उपन्यासों की संरचना का मुख्य आधार है। घटना को उसके पहलुओं के विधान में पहचान लेना उसे कलानियमों के अनुशासन में धारण करना है। उदाहरण के लिए सेवासदन में कृष्णचन्द्र के घूस लेने की घटना का एक छोटा विश्लेषण उपयोगी होगा

“पश्चाताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं, दारोगा कृष्णचंद्र अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे। उन्हें थानेदारी करते हुए पच्चीस वर्ष हो गए, लेकिन उन्होंने अपनी नियत को कभी बिगड़ने न दिया था। यौवन काल में भी जब चित्त भोग विलास के लिए व्याकुल रहता है उन्होंने निस्पृह भाव से अपना कर्तव्य पालन किया था। लेकिन इतने दिनों के बाद आज वह अपनी सरलता और विवेक पर हाथ मल रहे थे। उनकी पत्नी गंगाजली सती-साध्वी स्त्री थी। उसने सदैव अपने पति को कुमार्ग से बचाया था। पर इस समय वह चिंता में डूबी हुई थी। उसे स्वयं संदेह हो रहा था कि वह जीवन-भर की सच्चरित्रता बिल्कुल व्यर्थ तो नहीं हो गयी?”

थोड़ा ही आगे चल कर कृष्णचंद्र के मन में यह बात बैठने लगती है कि “धर्म का मजा चख लिया, सुनीति का हाल भी देख चुका। अब लोगों को खूब दबाऊंगा, खूब रिश्वतें लूंगा, यही अन्तिम उपाय है। संसार यही चाहता है और कदाचित् ईश्वर भी यही चाहता है। यही सही। आज मैं भी वही करूंगा जो सब लोग करते हैं।”

कृष्णचंद्र ईमानदार सच्चरित्र पात्र है। वह आदर्शवादी है, लेकिन आदर्शवादी, ईमानदार और सच्चरित्र होते हुए भी वह प्रामाणिक व्यक्ति नहीं है क्योंकि उसे आमदनी और खर्च का सही अनुपात नहीं मालूम है। लाला श्रीनिवासदास ने ‘परीक्षा-गुरु’ में प्रामाणिकता पर एक पूरा परिच्छेद ही लिखा है। जिसमें आमदनी और खर्च के उचित अनुपात को जानने और उसे बरतने वाले व्यक्ति को प्रामाणिक माना गया है। ईमानदार और निर्लोभ होकर भी कृष्णचंद्र फिजूल-खर्च है। यही फिजूलखर्ची उसे कमजोर बनाती है उसकी ईमानदारी को खोखला करती है। पचीस वर्ष तक लगातार ईमानदारी बरतने पर भी उसकी ईमानदारी ठोस मानवीय आचरण नहीं है, वह प्रत्ययवादी है क्योंकि बेटी के विवाह में दहेज की समस्या का सामना करते ही उसकी ईमानदारी भहरा कर गिर जाती है। यानी वह कोई आदर्श या भाव जिसका कोई ठोस परिस्थितिगत आधार नहीं है विकृत होने के लिए अभिशप्त है। इसके अलावा एक दूसरा स्तर यह है कि प्रशासन और सामाजिक परंपराएँ किसी भी व्यक्ति को आदर्शवादी और ईमानदार नहीं बना देने रह सकतीं। कृष्णचंद्र व्यक्तिगत स्तर पर कुसंस्कार, सामाजिक स्तर पर कुप्रथा और प्रशासनिक स्तर पर भ्रष्टाचार का शिकार है। और सारी कहानी का स्रोत वही है। कृष्णचंद्र के 25 वर्षों के ईमानदार जीवन में कहीं कहानी नहीं है, कहानी तब शुरू होती है जब उसकी ईमानदारी को परिस्थितियाँ खा जाती हैं। जब कृष्णचंद्र की आदर्शवादी और भाववादी पहचान खत्म हो जाती है तब उसकी कहानी यानी प्रेमचंद की रचना आरंभ होती है। इसका अर्थ यह है कि प्रेमचंद भाव और आदर्श के बीच नहीं परिस्थितियों के बीच अपनी कहानी अथवा कथा विन्यासों को धारण करते हैं। कृष्णचंद्र की लाचारी, बेईमानी और सजा और इसके बाद फिर घटनाओं का सिलसिला निकलता ही चला जाता है। ये सारी घटनाएँ सामाजिक जीवन के उन पहलुओं को उघाड़ती चलती हैं जिनके लिए बेचैन होने की जरूरत है। प्रेमचंद के उपन्यासों को घटना प्रधान कहा जाता है और कुछ इस लहजे में कहा जाता है मानो यही वह कारण हो जिससे



जीवन की सूक्ष्मता और गहराई उनके उपन्यासों में नहीं है। देवकीनंदन खत्री के उपन्यास भी तो घटनाप्रधान हैं, क्या उसी तरह की घटनाएँ प्रेमचंद के उपन्यासों में भी हैं? प्रेमचंद जिन और जिस तरह की घटनाओं की सृष्टि करते हैं वे आधुनिक भारतीय जीवन में यथार्थ के विशिष्ट प्रसंग हैं। 'सेवासदन' की मुख्य समस्या पर विचार करते हुए डॉ. राम विलास शर्मा ने लिखा है, "हमारे साहित्य में कितने नाटक, कितने उपन्यास नारी के आत्म-बलिदान, उसके पति-सेवा पर नहीं लिखे गए? लेकिन कितने लेखकों ने उसकी निस्सहायता, पराधीनता, उसके साथ पशुओं और दासों जैसे व्यवहार पर नजर डाली थी।" यानी इस तरह से घटनाओं के पहलुओं को पहचानना, विचार और भाव और अनुभव के रूपों में घटने वाले उत्पात को लक्षित करना था। प्रेमचंद के उपन्यासों की घटनाएँ जड़ सांस्कृतिक सामाजिक परम्पराओं और भ्रष्ट प्रशासनिक ढाँचे को तानने और खोलने वाले प्रसंग हैं। प्रेमचंद ने आधुनिक अर्थ में घटनाओं की पहचान जितने तीखे सिलसिलेवार और गहराई से कराई है उतनी उसके बाद के 'बहुत गहरी अनुभूतियों वाले कथाकारों' से संभव न हो सका।

घटनाओं को इसी ठोस रूप में ग्रहण करने के कारण लगता है कि प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में महान युगांतरकारी योगदान किया है। 'सेवासदन' से लेकर 'गोदान' तक भारतीय समाज और व्यक्ति के जीवन में घटनाओं के सच्चे और विविध रूप में मिलते हैं। उनके उपन्यासों में घटनाएँ जहाँ अंतर्विरोधी प्रसंगों का विधान निर्मित करती हैं वहीं विविधता को मात्र बदलाव नहीं बल्कि एक रचनात्मक आशय प्रदान करती है। जीवन और परिस्थितियों के कोई निश्चित पैटर्न नहीं होते। उसके व्यापार और गति में अंतहीन विविधता होती है। इसलिए जब किसी रचना या रचनाकार में विविधता मिलती है तो वह जीवन व्यवस्था और अंततः विश्व व्यवस्था को प्रतिबिंबित करती है। विविधता अलगाव नहीं है, परिस्थितियों और कार्यों और चरित्रों की गड़ड़-मड़ड़ दुनिया नहीं है, वह संबंध धारणा है। वह अनेकता के बीच पारस्परिकता है। जमींदार-किसान, साहूकार-मालिक-मजदूर, अफसर-मातहत, ब्राह्मण-चमार, धर्म-पाखंड यानी जीवन और समाज में फैले हुए बहुत से रूपों को प्रेमचंद अपने उपन्यासों का विषय बनाते हैं और वे सभी घटनाओं के रूप में आते हैं। घटनाएँ विभिन्न सामाजिक संबंधों को व्यक्त करती हैं। प्रेमचंद घटनाओं को कलात्मक सामग्री के रूप में इस्तेमाल करते हैं क्योंकि घटनापरक कथा विकास तथा उनके उपन्यासों में प्रतिफलित है। असल में प्रेमचंद जिस जमाने में लिख रहे थे उस जमाने में घटनाओं को उनके यथार्थप्रसंगों में और समाज के विविध सम्बन्धों में पहचान लेना बहुत बड़ी क्रांतिकारी घटना थी। उनमें विकासमान रचनात्मक विन्यास और आशय निहित थे।

प्रेमचंद के उपन्यासों में घटनाएँ महाजनी समाज के मूलभूत अंतर्विरोधों के पहलुओं को खोलती हैं। प्रेमचंद किसी भी चीज को पहलू विहिन नहीं मानते ("ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनंद नहीं, जो अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो। आनंद स्वतः एक उपयोगिता युक्त वस्तु है और उपयोगिता की दृष्टि से एक ही वस्तु से हमें सुख भी होता है और दुःख भी ....सौंदर्य भी और पदार्थों की तरह स्वरूपस्थ और निरपेक्ष नहीं, उसकी स्थिति भी सापेक्ष है। एक रईस के लिए जो वस्तु सुख का साधन है, वही दूसरे के लिए दुख का कारण हो सकती है।"साहित्य का उद्देश्य) इसीलिए घटनाएँ मात्र विषय नहीं, कला-विषय हैं। किन्तु प्रेमचंद की कला घटनाओं को उनके पहलुओं में धारण करने मात्र से नहीं हैं, वे घटनाओं को कथानक (संगठन सिद्धांत) में विकसित करते हैं। उनकी समस्या घटनाओं को सिर्फ कला सामग्री के रूप में पहचानना और उपयोग करना ही नहीं बल्कि उन्हें संगठित कर

कथानक या रूपबंध में विकसित करना भी है। किन्तु उनके उपन्यासों के रूपबंध के संगठनात्मक नियम भी घटनाओं में ही निहित हैं। उन्होंने घटनाओं को तथ्य के रूप में नहीं सामाजिक समस्याओं के रूप में धारण किया है। तथ्य के प्रति जिस प्रकार का रवैया अख्तियार किया जाता है। उससे ही तथ्य समस्या, सूचना अथवा किसी भाव विचार का बहाना बनता है। ऐसा लगता है प्रेमचंद अपनी औपन्यासिक घटनाओं में स्वयं सहभागी हैं। वे तटस्थ निरीक्षक वाले लेखकीय अंदाज में नहीं हैं। संभवतः इस कारण घटनाएँ मात्र घटनापरक तथ्य न होकर समस्या बन जाती हैं। फिर उस समस्या से उलझने के लिए पूरे परिवेश में उसकी स्थिति अन्य स्थितियों के साथ उसके अंतस्संबन्ध, उनकी परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया, उसमें उलझे या उसके विरोध में खड़े लोगों के संघर्ष-समझौते, चालें यानी गति की एक पूरी आवयविक जटिल दुनिया उभरने लगती है। यही तो विषय वस्तु भी है जिसमें निहित गति और प्रक्रिया को प्रेमचंद धारण कर लेते हैं और क्या वही कथानक नहीं है? एक तरह से कथानक तो प्रेमचंद पूर्व के उपन्यासों में भी है क्योंकि घटनाओं, पात्रों, परिस्थितियों और व्यापारों का एक सिलसिला तो उनमें भी मिलता है किन्तु गतिशील कथानक, जिसका जीवंत विकास होता है, उसकी उद्भावना प्रेमचंद ने ही की। चरित्रों, स्थितियों और व्यापारों का सिलसिला मात्र उनके उपन्यासों के कथानक को मूर्त नहीं करता। चरित्र, सामाजिक इतिहास और परंपरा से कुछ जीवन-नियमों और मूल्यों को ग्रहण करते हैं और प्रत्यक्ष जीवन संग्राम में उनमें से कुछ को ताजे ढंग से अनुभव करते हैं, कुछ को तोड़ते हैं या उनके टूटने अथवा न टूटने की पीड़ा झेलते हैं। यानी चरित्र अनुभव और क्रिया की एक गति व्यवस्था में होते हैं। स्थितियों के भीतर की संभावना के बीज होने के कारण वे ऐतिहासिक गति के संघटक होती हैं और कार्य व्यक्तिगत तथा जातीय व्यवहार पद्धति की अभिव्यक्ति होते हैं। इस प्रकार चरित्र, स्थिति और कार्य ये स्वयं में तो विविध पहलुओं के संघात होते ही हैं किन्तु ये परस्पर एक दूसरे की सापेक्षता में ही हो सकते हैं और एक दूसरे के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए विकसित होते हैं और एक दूसरे को विकसित होने का अवसर देते हैं। चरित्र की स्थिति और कार्य संबंध यह कल्पना ही कथानक है जिसका अहसास 'सेवासदन' से ही होता है। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से प्रेमचंद ने ही हिन्दी उपन्यास को कथानक दिया।

कथानक मात्र शिल्पगत और तकनीकी मामला नहीं है जिसे कौशल और कारीगरी से निर्मित किया जाता हो। वह वस्तुगत सामाजिक वास्तविकता के अंतर्विरोधों का द्वन्द्वात्मक विधान, प्रतिबिम्बित करता है। इसलिए कथानक उपन्यासकारों की निर्मिति नहीं बल्कि जीवन और समाज में विद्यमान आधारभूत द्वन्द्वात्मक व्यवहार से अर्जित किया जाता है। उसकी सत्ता रचनाकारों की मर्जी पर नहीं बल्कि वस्तुगत होती है। मनुष्य के कार्य, व्यवहार और समस्याएँ उन सभी संस्थाओं (पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, प्रशासनिक, आर्थिक और विचारात्मक आदि) के संदर्भ और संबंध में होती है जिनके बीच वह जीता है। व्यक्ति इन संस्थाओं से स्वतन्त्र होकर मन मुताबिक जीने और संस्थाओं से संबंध रखने में सिर्फ व्यक्तिगत पसंद और निर्णय का सहारा नहीं ले सकता। व्यक्ति की संस्थाओं के साथ संबंध और व्यवहार ऐतिहासिक प्रक्रिया में बहुत कुछ वस्तुगत होता है। कथानक व्यवहार की इस वस्तुगत ऐतिहासिक प्रक्रिया को मूर्त करने वाला कला माध्यम है जिसे प्रेमचंद ने सबसे पहले अपने उपन्यासों में व्यक्त किया। प्रेमचंद के औपन्यासिक कथानक पर सपाट, अखबारी और गहरी तथा सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों की जटिलता को वहन करने में अक्षम का आरोप लगाया गया है। मैं इसका उत्तर नहीं देना चाहता। किन्तु यह जरूर कहना चाहूँगा कि इन आक्षेपों को उभारने लगाने वाली

मानसिकता, कथानक या रूपबन्ध की वास्तविकता और शक्ति से अपरिचित है। कथानक, अनुभवों, विचारों और व्यवहारों को कड़ाई से ऐतिहासिक निरंतरता में विकसित प्रतिफलित होने के लिए बाध्य करता है और जो लेखक ऐतिहासिक विकास गति से अलग मानव नियति, भाग्य और सार्थकता को पारिभाषित करना चाहता है उसे कथानक का कला-माध्यम परतंत्र बनाता है; वह उससे स्वतंत्र होना चाहता है और स्वतंत्रता को मूल्य रूप में घोषित करता है। वह लेखक तकनीक और कौशल को प्राथमिक महत्त्व देकर जीवन की तत्त्व दार्शनिक समस्याओं को निरूपित करता है। उसके लिए तात्कालिक और तत्त्वदार्शनिक का महत्त्व होता है और तात्कालिक में निहित विकासमान द्वन्द्वात्मक संबंध और नियम जो संवेदनाओं से भिन्न और गहरे होते हैं झंझट या जंजाल लगते हैं। प्रेमचंद का कथानक इस तथाकथित 'झंझट और जंजाल' को बहुत अधिक आत्मसात करता है; इतना अधिक कि उनके उपन्यासों में जीवन और कला में भेद करना कठिन है। विशालता और विविधता सिर्फ परिमाण बोधक ही नहीं, वे सौंदर्यात्मक अवधारणाएँ भी हैं जिन्हें प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों के कथानक में मूर्त किया है। विविध स्थितियों, चरित्रों, घटनाओं, कार्यों की योजना में से विशालता रूप ग्रहण करती है।

प्रेमचंद की कथानक-संरचना की सबसे बड़ी विशेषता अनुपात-संगठन की है। उनके कथानक व्यक्ति के अनुभव की पर्त दर पर्त के चित्रण से नहीं बनते। विविध स्वभावी व्यक्तियों, विविध प्रभावी घटनाओं, और कार्यों और समाज में विविध प्रकार की भूमिका निभाने वाली संस्थाओं के उन बिंदुओं की पहचान से उनका कथानक उभरता है जहाँ ये सभी एक दूसरे के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। प्रेमचंद उनके पारस्परिक संबंधों को अनुपात में संगठित कर लेते हैं। जीवन में परिस्थितियाँ गड़ड़-मड़ड़, सामान्य तथा संवेदन-तीव्र होती हैं। कला में परिस्थितियाँ अनुपात में संगठित होती हैं और वह अनुपात तात्कालिक संवेदन की तीव्रता को द्वन्द्व में नियोजित कर देता है जिससे ऐतिहासिक सामान्यीकरण और व्यक्तिगत संवेदना की तीव्रता अपने अंतर्विरोधों में खुलती-टकराती हुई अनुभव की एक ऐसी आंतरिक संरचना को उभारती है जो परिणाम में नहीं संभावना में और तीव्र में नहीं गंभीर में प्रतिफलित होती है। दृश्य, घटनाएँ और परिस्थितियाँ प्रकृति और समाज में फैली होती हैं और आमतौर पर लोग उनसे परिचित होते हैं। किन्तु उन्हें एक खास अनुपात में रखना और किन्हीं खास बिंदुओं पर बलाघात देना लेखक की अपनी वस्तु होती है और आम लोग उनसे परिचित नहीं होते। इसी बिंदु पर लेखक वास्तविकता के विषय में हमारे बोध को समृद्ध और चेतना को उत्तेजित करता है। अनुपात और बलाघात के द्वारा ही औपन्यासिक कथानक और वस्तु का निर्माण होता है, मात्र घटनाओं और स्थितियों और दृश्यों के द्वारा नहीं। घटनाओं, कार्यों, स्थितियों और चरित्रों को बलाघात और अनुपात में संगठित करने का अहसास प्रेमचंद ने ही कराया। उनके पहले 'कहते जाने' की पद्धति और 'सनसनी' अथवा शिक्षा के उद्देश्य के अतिरिक्त कथानक के रूप में एक आवयविक संगठन का सौंदर्यात्मक संतोष और तृप्ति अनुपस्थित थी।

अनुपात और बलाघात सर्जनात्मक प्रक्रिया के रूप में तभी चरितार्थ हो सकते हैं जब किसी घटना, स्थिति, कार्य और चरित्र को विशिष्ट और व्यक्तिगत तथ्य और समस्या के रूप में अलग कर लिया जाय। सुमन, सोफिया, सूरदास और होरी जिन घटनाओं और दुष्टचक्र में फँसे हुए कार्य करते हैं उनसे वे क्या अलग-थलग और बहुत अकेले होते नहीं चले जाते? क्या प्रेमचंद उनसे संबंधित, उनके आस-पास फैली और उनके समानांतर चलने-होने वाली घटनाओं, स्थितियों और व्यक्तियों को उस अनुपात और बलाघात के साथ प्रस्तावित नहीं करते जिससे मानवीय नैतिक और संभावना गर्भ सार्थक संघर्ष तथा अनुभव महाजनी, साम्राज्यवादी

व्यवस्था में अकेले शोषित और असहाय होते चले जाते हैं? यानी प्रेमचंद ने घटनाओं, स्थितियों और चरित्रों का जंगल नहीं खड़ा किया है बल्कि उन्हें उस अनुपात और बलाघात में संगठित किया है जिससे तत्कालीन और आधुनिक भारतीय समाज की मानवीय नियति, संघर्ष की दिशा और सार्थकता की संभावना प्रस्तावित-परिभाषित होती है। इसी बिंदु पर पता चलता है कि नाटकनुमा घटनाओं का नाटकनुमा संयोजन और घटनाओं में निहित आंतरिक नाटकीय पहलुओं का वास्तविक नाटकीय संगठन और विधान गुणात्मक स्तर पर कितना भिन्न होता है। प्रेमचंद में सिर्फ किस्सागोई देखने वाली दृष्टि उनके उपन्यासों की नाटकीय संरचना को संभवतः पहचान नहीं पाती; शायद उनकी रुचि किसी परिस्थिति या चरित्र के बारीक चित्रण और मुद्राओं के अधिक से अधिक विवरण में अधिक होती है जो परिस्थिति और चरित्र की पतों को खोलता है उनमें निहित नाटक को कम। लेकिन पतों को खोलने वाले चित्रण में एक खतरा यह हो सकता है कि परिस्थिति और चरित्र के भीतर निहित नाटक जो जीवन और समाज में निहित शक्तियों को द्वन्द्वात्मक विधान में धारण करने के कारण रूपबंधात्मक होता है धीरे-धीरे गलने लगे और कला रूप की अपेक्षा कला कौशल फलने-फूलने लगे। ऐसी ही स्थिति में उपन्यास में स्वायत्त, रहस्यवादी भाव-विचार प्रवेश करते हैं और ऐतिहासिक प्रक्रिया में उभरे 'कला-रूप' पर आक्रमण करते हैं। वे कला और जीवन के विषय में अपने तर्कों की दुनिया खड़ी कर लेते हैं और जीवन की परिस्थितियों में निहित नाटक, दार्शनिक आदर्शवाद पर चिंतन करने का बहाना बन जाता है, अथवा क्षण की सघनता में सारे जीवनार्थ को समेट लेने का बिंदु बन जाता है। ऐसे ही अवसर पर स्थान और काल की भौगोलिक, ऐतिहासिक भूमिकाएँ अमूर्त धारणाएँ बन जाती हैं। प्रेमचंद का औपन्यासिक रूपबंध स्थान और काल को भौगोलिक, ऐतिहासिक भूमिकाओं में, ठोस स्तर पर धारण करता है, अमूर्त प्रत्ययों में नहीं। इसी कारण विचारों, भावावेगों और व्यवहारों के संगठन में एक तात्कालिक ऐतिहासिक लक्ष्य होता है जो उसे वैधता प्रदान करता है। प्रेमचंद की रूपबंधात्मक प्रतिबद्धता वस्तुतः भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थान-काल में समस्याओं से घिरे-छिपे आदमी की पक्षधरता है। इस संदर्भ में 'रंगभूमि' से एक लंबा उद्धरण देना बहुत प्रासंगिक है। प्रभु सेवक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कवि चिंतक है। वह कुछ दिनों तक सेवा दल का नेतृत्व भी कर चुका है किंतु उसकी प्रतिभा की वास्तविक कद्र इंग्लैंड ने की। वह भारत के अपने साथियों को पत्र लिखता है

प्रिय बंधुवर, मैं नहीं जानता कि मैं यह पत्र किसे लिख रहा हूँ। कुछ खबर नहीं कि आजकल व्यवस्थापक कौन है। मगर सेवक-दल से मुझे अब भी वही प्रेम है, जो पहले था। उसकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। आप मेरा कुशल-समाचार जानने के लिए उत्सुक होंगे। मैं पूना ही में था कि वहाँ के गवर्नर ने मुझे मुलाकात करने को बुलाया। उनसे देर तक साहित्य चर्चा होती रही। एक ही मर्मज्ञ हैं। हमारे देश में ऐसे रसिक कम मिलेंगे। विनय (उसका कुछ हाल नहीं मालूम हुआ) के सिवा मैंने किसी को इतना काव्य-रस-चतुर नहीं पाया। कितनी सजीव सहृदयता थी। गवर्नर महोदय की प्रेरणा से मैं यहाँ आया और जबसे आया हूँ, आतिथ्य का अविरल प्रवाह हो रहा है। वास्तव में जीवित राष्ट्र ही गुणियों का आदर करना जानते हैं। बड़े ही सहृदय, उदार, स्नेहशील प्राणी हैं। मुझे इस जाति से अब श्रद्धा हो गई है, और मुझे विश्वास हो गया है कि इस जाति के हाथों हमारा अहित कभी नहीं हो सकता। कल यूनिवर्सिटी की ओर से मुझे एक अभिनंदन पत्र दिया गया। साहित्य सेवियों का ऐसा समारोह मैंने काहे को कभी देखा था। महिलाओं का स्नेह और सत्कार देखकर मैं मुग्ध हो गया। दो दिन पहले इंडिया हाउस में भोज था। आज साहित्य-परिषद ने निमंत्रित किया है।

कल लिबरल एसोसिएशन दावत देगा। परसों पारसी समाज का नम्बर है। उसी दिन यूनियन क्लब की ओर से पार्टी दी जाएगी। मुझे स्वप्न में भी आशा न थी कि मैं इतना जल्द बड़ा आदमी हो जाऊँगा। मैं ख्याति और सम्मान के निंदकों में नहीं हूँ। इसके सिवा गुणियों को और क्या पुरस्कार मिल सकता है? मुझे अब मालूम हुआ कि मैं क्या करने के लिए संसार में आया हूँ। मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है? अब तक भ्रम में पड़ा हुआ था। अब से मेरे जीवन का मिशन होगा प्राच्य और पाश्चात्य को प्रेम सूत्र में बाँधना, पारस्परिक द्वन्द्व को मिटाना और दोनों में समान भावों को जागृत करना। मैं यही व्रत धारण करूँगा। पूर्व ने किसी जमाने में पश्चिम को धर्म का मार्ग दिखाया था; अब वह उसे प्रेम का शब्द सुनाएगा, प्रेम का पथ दिखाएगा। मेरी कविताओं का पहला संग्रह मैकमिलन कम्पनी द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होगा। गवर्नर महोदय मेरी उन कविताओं की भूमिका लिखेंगे। इस संग्रह के लिए प्रकाशकों ने मुझे चालीस हजार रुपए दिए हैं। इच्छा तो यही थी कि ये सब रुपए अपनी प्यारी संस्था को भेंट करता; पर विचार हो रहा है कि अमेरिका की सैर भी करूँ। इसलिए इस समय जो कुछ भेजता हूँ उसे स्वीकार कीजिए। मैंने अपने कर्तव्य का पालन किया है। इसलिए धन्यवाद की आशा नहीं रखता। हाँ, इतना निवेदन आवश्यक समझता हूँ कि आपको सेवा के उच्चादर्शों का पालन करना चाहिए और राजनीतिक परिस्थितियों से विरक्त होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के प्रचार को अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। मेरे व्याख्यानों की रिपोर्ट आपको यहाँ के समाचार-पत्रों में मिलेगी। आप देखेंगे कि मेरे राजनीतिक विचारों में कितना अंतर हो गया है। मैं अब स्वदेशी नहीं, सर्वदेशीय हूँ, अखिल संसार मेरा स्वदेश है। प्राणिमात्र से मेरा बंधुत्व है और भौगोलिक तथा जातीय सीमाओं का मिटाना मेरे जीवन का उद्देश्य है। ईश्वर से प्रार्थना कीजिए कि अमेरिका से सकुशल लौट आऊँ।

आपका सच्चा बंधु  
प्रभुसेवक

सोफिया ने पत्र मेज पर रख दिया और गंभीर भाव से बोलीइसके दोनों ही अर्थ हो सकते हैं, आत्मिक उत्थान या पतन। मैं तो पतन ही समझती हूँ।

विनयक्यों? उत्थान क्यों नहीं?

सोफियाइसलिए कि प्रभुसेवक की आत्मा शृंगार प्रिय है। वह कभी स्थिर चित्त नहीं रहे। जो प्राणी सम्मान से इतना फूल उठता है, वह उपेक्षा से इतना ही हताश भी हो जायेगा।

विनययह कोई बात नहीं। कदाचित् मैं भी इसी प्रकार फूल उठता, यह तो बिल्कुल स्वाभाविक है। यहाँ उनकी क्या कद्र हुई। मरते दम तक गुमनाम पड़े रहते।

इंद्रदत्तजब हमारे काम के नहीं रहे, तो प्रसिद्ध हुआ करें ऐसे विश्व प्रेमियों से कभी किसी का उपकार न हुआ है, न होगा। जिसमें अपना नहीं उसमें पराया क्या होगा?

सोफियासर्वदेशिकता हमारे कई कवियों को ले डूबी, इन्हें भी ले डूबेगी, इनका होना, न होना हमारे लिए दोनों बराबर हैं, बल्कि मुझे तो अब इनसे हानि पहुँचने की शंका है। मैं जाकर अभी इस पत्र का जवाब लिखती हूँ।

यह कहते हुए सोफिया वह पत्र हाथ में लिए हुए कमरे में चली गई। विनय ने कहाक्या करूँ, रुपये वापस कर दूँ?

इंद्रदत्तरुपये क्यों वापस करोगे? उन्होंने कोई शर्त तो की नहीं हैं। मित्रोचित सलाह दी है और बहुत अच्छी सलाह दी है। हमारा भी तो यही उद्देश्य है अंतर केवल इतना है कि वह समता के बिना ही बंधुत्व का प्रचार करना चाहते हैं, हम बंधुत्व के लिए समता को आवश्यक समझते हैं।

विनययों क्यों नहीं कहते कि बंधुत्व समता पर ही स्थित है।”

हिन्दुस्तान के लोगों के जीवन में जो ऐतिहासिक स्तर पर वास्तविक नाटक, संकट पैदा कर रहा है क्या उसकी उपेक्षा करके सार्वभौम मानवीय अनुभूति की धारणा को आत्मसात किया जा सकता है? सोफिया विश्वबंधुत्व के विरोध में नहीं है किन्तु वह उसे प्रसंग के साथ धारण करना चाहती है। प्रसंग के साथ धारण करने में ही तो सारी समस्याएँ हैं। तभी एक दूसरे के अंतर्विरोध, तात्कालिक अनिवार्यता और दूरवर्ती सार्थकता, साम्राज्यवादी छल के रूप में सार्वभौम का इस्तेमाल और देशीय तथा सामयिक संघर्ष की प्रामाणिकता का प्रसंग उभरता है। कैसे प्रसंगहीन ‘विश्वबंधुत्व’ संकीर्ण निहितार्थ में और तथाकथित संकीर्ण हित मानवीय हित की संभावनाओं और पहलुओं में विकसित होता है, हम जान पाते हैं। यह प्रसंगता ही अनुपात तय करती है और सहयोग या संघर्ष में आचरण को संगठित करती है। प्रेमचंद जीवन को घेरने वाली सभी तरह की परिस्थितियों में सहयोग या संघर्ष की भूमिका प्रसंग से तय करते हैं और उनका आनुपातिक उपयोग अपनी उपन्यास-कला में करते हैं। बड़ी महान देशकालातीत मानवीय धारणा प्रसंगहीन सहयोग से आततायी, क्रूर और पाखंडी हो सकती है तथा देशकाल बद्ध समस्या प्रसंग और अनुपात के कारण देशकालातीत को भी प्रासंगिक, ठोस और मानवीय बनाती रह सकती है। प्रसंग, धारणा को ठोस प्रक्रिया में गतिशील कर देता है। प्रेमचंद प्रसंगों को जिस अनुपात और अनिवार्यता में धारण करते हैं उससे संघर्ष कथा के संगठनात्मक आशय को चरितार्थ करता है। उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट झलकता है कि प्रसंगत आनुपातिक संघर्ष की प्रक्रिया ही कथानक को और मानवीय वस्तु को धारण कर सकती है। इसी कारण ‘सेवासदन’ से ‘गोदान’ तक निरंतर ‘संघर्ष’ संरचनात्मक आशय के साथ औपन्यासिक विधान को मूर्त करता है। इसी कारण प्रेमचंद के उपन्यासों में “संघर्ष रोष का लक्षण” (अज्ञेय) मात्र नहीं, विवेक का भी बल्कि उसका ही लक्षण अधिक है। उनकी औपन्यासिक बनावट में इस विवेक के द्वारा ही आदर्शवादी विचारों और ढाँचों की भूमिका भी निर्धारित होती है। उसकी संघर्षात्मक पद्धति में आदर्शवाद की भूमिका हस्तक्षेप और घुसपैठ जैसी अधिक लगती है। क्योंकि धीरे-धीरे उसकी ताकत आदर्शवादी ढाँचे को तोड़ डालती है। उसे आदर्श और यथार्थ का समन्वय नहीं मानना चाहिए उनके कथा साहित्य को, आदर्शवादी और यथार्थवादी शक्तियों का तनाव या अन्तर्विरोध मानना चाहिए। यद्यपि प्रेमचंद ने इन दोनों के समन्वय की बात की है लेकिन उनकी रचना का प्रभाव समन्वय में से नहीं, तनाव और विरोध में से उभरता है। इस प्रकार उनके रचनात्मक विन्यास का स्वरूप विद्रोही अधिक है। समन्वयवादी अपनी शक्ति का इस्तेमाल विरुद्धों को एक सौम्य बिंदु पर संगठित करके करता है और विद्रोही किसी संगठन के जीवन विरोधी किंतु शक्तिशाली संस्थानों पर निरंतर प्रहार करके अपनी शक्ति की सार्थकता सिद्ध करता है। क्या प्रेमचंद के उपन्यासों में घटनाओं की आयोजना या विन्यास सामाजिक, प्रशासनिक और आर्थिक संगठनों के जीवन विरोधी किंतु शक्तिशाली संस्थानों पर आघात करते हुए नहीं निर्मित हुआ है।

इस प्रकार प्रेमचंद के कथा-साहित्य में प्रसंग और अनुपात उस विवेक को उभारते हैं जो सामयिक और सार्वकालिक, भौमिक और सार्वभौमिक को सम्भालने की सबसे बड़ी मानवीय योग्यता है। इसी बिन्दु में प्रेमचंद के प्रासंगिक होते रहने का रहस्य निहित है। मार्क्स का कथन है कि “ग्रीक कला और महाकाव्य किन्हीं सामाजिक विकास के रूपों से सम्बद्ध हैं, यह समझने में कठिनाई नहीं है। कठिनाई इस बात में है कि उनमें अभी भी सौंदर्यात्मक आनन्द मिलता है और कुछ दूर तक सिद्धांतों और अप्राप्य प्रतिरूपों के लिए वे उपयोगी बने हुए हैं।” मार्क्स

देशकाल बद्ध के भीतर उसी संभावना और विवेक को समझने और आत्मसात करने की कठिनाई की ओर संकेत करते हैं जो आज प्रेमचंद के साहित्य के साथ उपस्थित हो चुकी है। शायद प्रेमचंद के जमाने में भी थी। उन्हें अपने समय के साहित्यिकतावादियों के तमाम आक्षेप कि उनके उपन्यासों में सूक्ष्मता, गहराई और गम्भीर कला-विवेक नहीं है, झेलने पड़े थे और वर्तमान युग के भी ऐसे रचनाकार हैं जो प्रेमचन्द को 'स्टोर रूम' में रखने की सलाह दे चुके हैं या यह कि अब प्रेमचंद को पढ़ना संभव नहीं रह गया है। लेकिन दूसरी ओर ऐसे लोग भी हैं जैसे रामचन्द्र शुक्ल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा जो प्रेमचन्द के कला-विवेक के प्रति आश्वस्त हैं। द्विवेदीजी तो यहाँ तक कहते हैं कि रचनाकार के रूप में वे आधुनिक युग में सिर्फ प्रेमचंद से प्रभावित हैं। और इधर वर्तमान कथाकारों में ऐसे बहुत हैं जो प्रेमचंद से जुड़ना चाहते हैं।

इन परस्पर विरोधी बातों का क्या प्रसंग है? क्या इन्हें व्यक्तिगत रुझान कहकर टाला जा सकता है? ये बातें जीवन और कला के विषय में और उनके पारस्परिक संबंधों के बारे में गंभीर निर्णय हैं। तो क्या प्रेमचंद एक ऐसे अनिवार्य और विवादास्पद बिन्दु पर खड़े हैं जिनके पक्ष या विपक्ष में हुए बिना आज का कथाकार भी अपनी रचनात्मक भूमिका तय नहीं कर सकता? आज इस प्रश्न से उलझना दुर्निवार हो गया है कि प्रसंग, अनुपात और विवेक कला-संगठन और संरचना के मौलिक तत्त्व हैं अथवा भाषा की चित्रण शैली की तमाम सूक्ष्म और व्यंजक भंगिमाएँ तथा कौशल? और इस प्रश्न के पक्ष या विपक्ष में होकर टकराने से प्रेमचंद से अधिक सन्दर्भवान, आधुनिक युग का और कौन दूसरा रचनाकार है?

प्रेमचंद का स्पष्ट मत है कि भाषा का इस्तेमाल रचना शैली को सजीव और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए होता है, "उपन्यास की रचना-शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिए, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शब्दों का गोरखधन्धा रचकर पाठकों को भ्रम में डाल दें, कि इसमें जरूर कोई-न-कोई गूढ़ आशय है...जनता उन्हीं उपन्यासों को आदर का स्थान देती है जिनकी विशेषता उनकी गूढ़ता नहीं उनकी सरलता होती है।" निश्चय ही यहाँ प्रेमचंद की गूढ़ता का आशय छद्म गम्भीरता और सरलता का तात्पर्य वास्तविकता है।

भाषा एक ऐसी वस्तु है जिसका वास्तविक और गैर-वास्तविक इस्तेमाल होता रहा है। कभी-कभी गैर-वास्तविक सन्दर्भों में भाषा का बड़ा प्रभावकारी इस्तेमाल होता है। और जो लोग साहित्यिक संरचना को स्वायत्त भाषिक विधान मानते हैं वे लोग प्रसंगहीन सौंदर्यविधान की हिमायत करते हैं। यह सौन्दर्यवाद है जो "संसार को निहारता है परन्तु उससे निर्विकार रहता है।" ...वह कभी यह नहीं कहता "मेरा सर्वस्व इस संसार में है", मैं ही यह संसार हूँ।" (अलेक्सेई तोलॉस्तोय, कला और रचना कौशल, पृ. 208) भाषा को आद्यवस्तु के रूप में इस्तेमाल करने वाला सौन्दर्यवादी साहित्य मात्र आस्वाद की वस्तु होता है। क्या प्रेमचंद की घटना, चरित्र और कार्य की आयोजना (यह संगठन ही तो संरचना है) आस्वादन की अपेक्षा गति, संघर्ष और बेचैनी नहीं पैदा करती? और जो इस बेचैन बनाने वाले साहित्यिक संगठन में रुचि नहीं ले सकता वह जीवन की गतिव्यवस्था के सन्दर्भ में अपनी रुचि की परिभाषा और उसका निर्माण कैसे कर सकता है? प्रेमचन्द का औपन्यासिक विधान और भाषा साहित्यिक आस्वादन की क्रान्तिकारी परिभाषा करते हैं। वह (आस्वाद) जीवन की परिस्थितियों में अन्तर्विरोधी टकराव और उसके फलस्वरूप जीवन की गतिव्यवस्था की ओर रुचि की अभिमुखता है यानी प्रेमचंद की भाषा घटना में निहित प्रसंग और अनुपात की गतिशील प्रक्रिया से अर्थ पाती है इसलिए उनकी भाषा स्वायत्त नहीं है।

प्रसाद और निराला छायावादी कवि होते हुए भी उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद वृत्त में उनके सहयोगी के रूप में उभरते हैं। घटना में निहित वस्तुगत द्वन्द्वात्मक वास्तविकता की भूमिका प्रसंग और अनुपात के संगठन से उभरने वाला कला विवेक इन दोनों रचनाकारों में भी मिलता है। संघर्ष रचनात्मक संघटकों में केन्द्रवर्ती स्थिति में इन दोनों रचनाकारों के उपन्यासों में भी विद्यमान है। यथार्थ को 'लघुता के प्रति साहित्यिक दृष्टिपात, मानते हुए और उसका विरोध करते हुए भी प्रसाद जी अपने उपन्यासों में लघुता के प्रति दृष्टिपात ही नहीं करते उसकी शक्ति और सम्भावनाओं का रचनात्मक उपयोग भी करते हैं।

यहाँ हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण समस्या झलकने लगती है। प्रसाद यथार्थवाद के विरोधी हैं और प्रेमचंद छायावादी कविता की कल्पना और देश-कालातीत सारवस्तु के। लेकिन प्रसाद यथार्थवाद के संघटक तत्त्वों का इस्तेमाल ही अपनी औपन्यासिक रचनाओं में करते हैं। क्या यह उपन्यास के विधिगत अनुशासन का दबाव है? अगर ऐसा है तो प्रेमचन्द ने जो औपन्यासिक रूपबंध की जीवन की वास्तविकता के भीतर से अर्जित किया था उसकी वस्तुगत सत्ता सिद्ध होती है।

यदि छायावादी कविता में से देश कालातीत दार्शनिक रुझान को थोड़ा परे ढकेल कर उस पर विचार करें तो क्या 'कल्पना' वही भूमिका निभाती हुई लगती है जो प्रेमचन्द के उपन्यासों की घटनाओं में निहित आन्तरिक "ड्रामाई तत्त्व"? (प्रेमचन्द का कहना है कि जब तक वे किसी घटना के भीतर ड्रामाई पहलुओं को पहचान नहीं लेते तब तक वे कहानी नहीं लिखतेकलम का मजदूर : प्रेमचन्दमदन गोपाल पृ. 266-268 में लाहौर के मासिक पत्र 'नैरंगे ख्याल' के संपादक के पूछने पर प्रेमचंद का उत्तर) क्या प्रेमचंद-पूर्व के उपन्यासों में घटनाएँ परंपरागत नैतिक अभिप्रायों अथवा तत्कालिक उद्देश्यों की शिक्षा देने का बहाना नहीं हैं? क्या प्रेमचंद घटना के भीतर के ड्रामाई पहलुओं को पहचान कर और संगठित कर 'घटना' को परंपरागत नैतिक उपदेशों की परतंत्रता से मुक्त नहीं करते;? और उसे कलात्मक योग्यता नहीं प्रदान करते? क्या छायावादी कविता में 'कल्पना' भी कुछ ऐसी ही भूमिका निभाती है? क्या कविता में भी परंपरागत नैतिक अभिप्राय, भाव को जीवन के प्राकृत प्रसंगों के विस्तार और गहराइयों में भटकने और व्याप्त होने के पहले ही उन्हें निश्चयात्मक और असमय प्रौढ़ नहीं बना रहे थे? कल्पना क्या भावों के भीतर निहित संभावनाओं का खोल या मुक्त नहीं कर रही थी? तो क्या 'ड्रामाई तत्त्व' और 'कल्पना' दोनों ही परंपरागत नैतिक अभिप्रायों के विरोध में एकजुट होकर अलग-अलग तरह से घटनाओं और भावों को कलानुशासन में विकसित कर रहे थे? क्या इसीलिए प्रसाद और निराला को प्रेमचंद की ही तरह उपन्यास लिखने में कोई आपत्ति, अरुचि या झिझक नहीं हुई?

प्रसाद और निराला दोनों के उपन्यासों में प्रेमचंद के औपन्यासिक कलानियमों से मूलभूत अन्तर नहीं है। अन्तर इन रचनाकारों के मिजाज का है। प्रसाद में सब कुछ के बावजूद एक आभिजात्य गरिमा, और गीतात्मक तरलता की जलवायु उनके उपन्यासों के प्रभाव को नम बनाती है। कहीं उठकर शान्त होती हुई या छूट जाती हुई लय का अवसाद उनके उपन्यासों के मिजाज में व्याप्त है। निराला में घटनाएँ कुछ उदण्ड आकस्मिकता की तरह प्रभाव डालती हैं। यानी वर्णन के ढब में स्वभावगत अन्तर के अतिरिक्त प्रेमचंद से कोई बहुत अन्तर नहीं है।

इनके अतिरिक्त विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, चतुरसेन शास्त्री, राजा राधिका-रमण प्रसाद सिंह, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, प्रतापनारायण श्रीवास्तव आदि सामान्य



कोटि के उपन्यासकार हैं। कभी-कभी चतुरसेन शास्त्री और उग्र ध्यान जरूर आकर्षित करते हैं किन्तु शिल्प संरचना की किसी उपलब्धि के रूप में इनका असर हिन्दी उपन्यास के इतिहास पर नहीं है। प्रकृतवाद के सिलसिले में उग्र जरूरी उल्लेखनीय हैं। किन्तु वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में अवश्य प्रभावशाली रचनाकार हैं। उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास को एक विशिष्ट धारा के रूप में प्रस्तावित स्थापित किया। तथ्य को ऐतिहासिक अनुशासन और कलानुशासन के द्वन्द्व में नियोजित कर उन्होंने ही हिन्दी उपन्यास में ऐतिहासिक घटनाओं को औपन्यासिक कथानक में विकसित किया।

ऐतिहासिक सन्दर्भ में वस्तु के साथ-साथ शिल्प और संरचना के स्तर पर 1929 में प्रकाशित 'परख' के प्रकाशन से पर्याप्त अन्तर आता है। दृष्टिकोण और शिल्प संरचना के इस अन्तर का प्रतिनिधित्व सबसे अधिक जैनेन्द्र के उपन्यास करते हैं जिसका चरम रूप 1937 में प्रकाशित 'त्याग-पत्र' में उभरता है। जैनेन्द्र के उपन्यासों के अतिरिक्त दूसरा उपन्यास 'चित्रलेखा' (भगवतीचरण वर्मा) भी इस अन्तर को सघन करता है। 1929 में ही प्रकाशित इलाचन्द्र जोशी का 'घृणामयी' मनोवैज्ञानिक पद्धति में उपन्यास लिखे जाने की शुरुआत अवश्य है किन्तु उस पद्धति का संघात हिन्दी-उपन्यास पर सन् 1940 में प्रकाशित 'संन्यासी' से ही उभरता है।

इन उपन्यासों की दुनिया प्रेमचंद से बहुत अलग है। प्रेमचंद की औपन्यासिक दुनिया कई तरह के लोगों, चीजों, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों संस्कारों और घटनाओं से भी हुई दुनिया है। उसमें कार्य-व्यापार और भाव-व्यापार इन सभी प्रसंगों के जाल और दबाव में होते और विकसित होते हैं। लेकिन उनके बाद के इन महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों की औपन्यासिक दुनिया में प्रसंगों का प्रत्यक्ष दबाव कम हो जाता है। सम्भवतः इन प्रसंगों का दबाव उनकी सर्जनात्मक धारणा की चरितार्थता में बाधा डालता है। क्या इसीलिए जैनेन्द्र अपने पहले उपन्यास 'परख' की भूमिका में 'स्वतन्त्रता एक कीमती चीज है' की घोषणा करते हैं? जैनेन्द्रजी की इस स्वतंत्रता के और भी पहलू हैं लेकिन निश्चय ही वे प्रेमचंद की अनेक प्रसंगों में कसी औपन्यासिक दुनिया से स्वतंत्र होना चाहते हैं वे मानते हैं "उपन्यास में जैसी दुनिया है, वैसी ही चित्रित नहीं होती। दुनिया का कुछ उठा हुआ उन्नत कल्पित रूप चित्रित किया जाता है। वह उपन्यास किसी काम का नहीं जो इतिहास की तरह घटाओं का बखान कर जाता है।" तो क्या जैनेन्द्र दुनिया के कुछ उठे हुए, उन्नत और कल्पित रूप को चित्रित करने में ही 'स्वतंत्रता' की भूमिका को नहीं रेखांकित करते? उनकी स्वतंत्रता किसी शिकंजे को स्वीकार नहीं करती। "न भाषा का शिकंजा है न भाव का। ... शिकंजे में कस दो तो वह नहीं बढ़ेगी, लुंज रह जायेगीहम उसी को सुन्दरता मानने लग जायँ तो बात दूसरी, पर दुनिया की स्पर्धा और दौड़ में वह कहीं की नहीं रह सकती।" दुनिया जैसी है उसमें जीने वाले व्यक्तियों पर परिस्थितियों, संस्कारों और प्रभावों के अनेक शिकंजे होते हैं। प्रेमचंद इस शिकंजे में जकड़े आदमी की ही कहानी लिखते हैं भले ही अनेक बार उनके आदर्शवादी संस्कार हस्तक्षेप करें वे इस शिकंजे में बँधे आदमी को छोड़कर दुनिया का उन्नत कल्पित रूप चित्रित करना नहीं चाहते। उनके भीतर का लेखक भी इन शिकंजों से मुक्त नहीं है।

जैनेन्द्र जी ने इस बात की शिकायत अनेक बाद की है कि "प्रेमचंद के उपन्यासों में देश बहुत बिखरा हुआ है और इसी कारण वे विश्व के श्रेष्ठ उपन्यासकारों में नहीं गिने जा

1. 'परख' की भूमिका, पृ. 3

2. वही, पृ. 3

सकते।”<sup>1</sup> इस ‘देश’ का तात्पर्य जीवन की वे तथाकथित स्थूल ‘घटनाएँ’ हैं जो राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक और धार्मिक पराधीनता से पैदा होती हैं और जो तत्कालीन भारतीय व्यक्ति के विशिष्ट प्रसंगों के शिकंजे हैं। क्या ये प्रसंग लेखकीय ‘स्वतंत्रता’ में बाधा डालते हैं? क्या घटनाएँ बंजर होती हैं? क्या मानवीय स्तर पर उनमें अनुभूतिक अर्थ-छवियाँ नहीं होती हैं? क्या भावों के ही प्रसंग होते हैं, घटनाओं के नहीं? यदि घटनाओं के भी मार्मिक प्रसंग होते हैं तो उनमें भावात्मक पहलू क्यों नहीं हो सकते? और वह उपन्यास जो ‘इतिहास की तरह घटनाओं का बखान करता है’ क्यों ‘किसी काम का नहीं हो सकता’? क्या इतिहास सिर्फ घटनाओं का बखान करता है? ऐतिहासिक घटनाओं के तमाम मानवीय पहलुओं और प्रसंगों को समझे और उनके पारस्परिक संबंधों की व्याख्या किए बिना कोई इतिहास हो सकता है? क्या इतिहास और उपन्यास (साहित्य भी) का मौलिक उद्देश्य जीवन और मनुष्य को स्पष्ट नहीं है? फिर क्या इतिहास और उपन्यास का अन्तर उनके संगठनात्मक पहलुओं में नहीं है? जो प्रभाव स्तर पर उनके उद्देश्यों में भी अन्तर पैदा करता है, बुनियादी स्तर पर नहीं।

क्या यह कहा जा सकता है कि देश, घटना और इतिहास के शिकंजे से जैनेन्द्रजी अपने उपन्यासों के पात्रों को स्वतंत्र करना चाहते हैं? सम्भवतः उनकी ‘स्वतंत्रता’ का विशिष्ट और प्रत्यक्ष प्रसंग और अर्थ यही है। अन्यथा वह ऐसी अवधारणा है जो मानवीय परिस्थितियों के प्रसंगों से अलग अपने आप में मूल्यवान है और ठोस प्रसंग का स्पर्श पाते ही वह मानवीय और अमानवीय कुछ भी हो सकती है। इस प्रकार जैनेन्द्र जी की स्वतंत्रता का अर्थ है उपन्यास को ‘देश’ (Place) ‘घटना’ और ‘इतिहास’ के शिकंजे से मुक्त रखना। इससे मुक्त होते ही ‘संघर्ष और द्वन्द्व’ मानवीय स्तर पर अपना अर्थ खोने लगते हैं और उन्हें जंजाल या बवाल से अधिक महत्व नहीं मिल सकता। द्वन्द्व और संघर्ष दोनों बहुत सीमित रचनात्मक आशय के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं, वरना वास्तविक रचनात्मकता तो आत्मिक स्तर पर उनके निरसन के उपाय खोजने पाने में है।

यानि प्रेमचंदोत्तर के उपन्यास का अन्तर कथा के वर्णन विवरण और संगठन मात्र में ही नहीं बल्कि दृष्टि में भी (या अधिक ही) है जिसकी संक्षिप्त चर्चा उपयोगी होगी। उपन्यास की भूमिका मात्र ही नहीं जैनेन्द्र का पर्याप्त चिन्तनात्मक साहित्य भी है जिसमें उनके चिन्तक और रचनाकार का दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है। उनके चिन्तन और विचार की प्रकृति भाववादी देशकालातीतवादी है।

वे भागवत शक्ति<sup>2</sup> को संसार का कारण मानते हैं उनके अनुसार प्रेम<sup>3</sup> जीवन के केन्द्र

1. दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रेमचंद शताब्दी समारोह में अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण; फरवरी 3, 1980।
2. “मेरी प्रतीति है कि जो भागवत शक्ति संसार को धारण कर रही है इस धारणा में जो निरन्तर उत्कर्ष और विकास की ओर बढ़ाती जा रही है वह यही परम्पराकर्षण और परस्पर आलंबन की शक्ति ही है, उसी को प्रेम कहते हैं, काम उसमें है। अन्तर्भूत इस भागवत शक्ति के प्रतिवर्जन इत्यादि का संबंध अहंकृत ही हो सकता है। और बूँद सागर को इन्कार करने लग जाय तो जो फल होगा वही फल उस अहंकारजन्य वर्जनशीलता का होता है।”परिप्रेक्ष्य-जैनेन्द्र; अपनी कैफियत नामक निबन्ध (ड)।
3. “प्रेम दायित्व नहीं है किन्तु वही है जो एक को अनेक से जोड़ता है। संबंध सब वहीं से उगते हैं उस प्रेम की अनिवार्यता को लेकर जीवन सृष्ट होता है। कह सकते हैं कि जीव का जीवन प्रेम है। इस तरह सामाजिकता व्यक्ति पर आच्छादन नहीं है उसका सहज विकास और प्रकाश है” वही, पृ. 71.

में है और दायित्व! उस रसवान प्रेमपूर्ण जीवन में कुंठा और विषमता पैदा कर सकता है। उनके चिन्तन ही नहीं उपन्यासों में भी ऐसे चिन्तनात्मक प्रसंग पर्याप्त हैं। प्रेमचंद के सन्दर्भ में विचार करने पर लगता है कि प्रेमचंद जीवन में दायित्व को मूल्यवान मानकर सर्जनात्मक प्रेरणा प्राप्त करते हैं और उनके समानान्तर जैनेन्द्र दायित्व के स्थान पर जीवन में सहज को मूल्यवान मानकर रचनात्मक प्रेरणा पाते हैं।<sup>1</sup> जैनेन्द्र जीवन के भीतर 'स्वाभाविक' और सम्भवनीय को चित्रित करना चाहते हैं जिसका संबंध सामान्यतया उपयोगिता से नहीं है। उपयोगिता वाले प्रसंग व्यापक चेतना को सीमित करते हैं और देशकाल बद्ध होने से उनमें सत्यांश होता है और वे पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। जैनेन्द्र के लिए 'समग्र सत्य' एक 'चैतन्य जगत' है और काम की स्वीकृति से हम उस 'चैतन्य जगत' की 'रोकथाम' करने लगते हैं। "हमारे धार्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि प्रयत्न इस तरह अनिवार्य और अमोघ के टक्कर में आ जाते हैं और जीवन की क्षति और क्षय का कारण बनते हैं।" (परिप्रेक्ष्य : जैनेन्द्र, पृ. ७) अर्थात् अनिवार्य और अमोघ 'चैतन्य जगत' है और समस्त धार्मिक नैतिक सामाजिक प्रयत्न उससे टकराते हैं। यह टक्कर जीवन में मूल्य और शक्ति का स्रोत नहीं है बल्कि उस टक्कर और संघर्ष की ऋण भूमिका है।

जीवन में 'चाह' (भौतिक आकांक्षाएँ) की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। 'निरोध' जीवन के विस्तार और विकास की प्रक्रिया को कुंठित करता है। इसलिए 'चाह' और 'निरोध' का परस्पर 'सहयोग' होना चाहिए (परिप्रेक्ष्य : जैनेन्द्र, पृ. ७)। इस प्रकार जैनेन्द्र जी 'अनिवार्य अमोघ' (जिसे परम चैतन्य कहा जा सकता है) के साथ संघर्ष तो स्वीकार करते हैं किन्तु वह संघर्ष शक्ति का स्रोत न होकर क्षय का कारण है। चाह और निरोध के बीच द्वन्द्व और तनाव भी वे स्वीकार करते हैं किन्तु वह द्वन्द्व और तनाव विषमता और कुण्ठा पैदा करता है इसलिए वह भी शक्ति का स्रोत नहीं है। वे सहयोग और समन्वय को जीवन में सारवान मानते हैं। सहयोग और समन्वय की दृष्टि जीवन और सिद्धान्तों में व्याप्त अन्तर्विरोध को उग्र नहीं होने देती और इसी कारण संघर्ष की प्रक्रिया जैनेन्द्र की विचारधारा में अर्थवान नहीं है। जीवन और समाज में व्याप्त अन्तर्विरोध को महत्त्व देकर और परस्पर उनके संघर्ष से निष्पन्न अर्थ छवियों का चित्रण करना एक बात है और अन्तर्विरोधों की टकराहट को क्षयिष्णु मानकर उनमें परस्पर सहयोग और समन्वय करना दूसरी बात। अन्तर्विरोधों की स्वीकृति दोनों में है लेकिन एक में उसका पारस्परिक संघर्ष अनिवार्य और सारवान है, दूसरी में उनका सहयोग सारवान है। जैनेन्द्र के लिए सार की सत्ता सहयोग में है संघर्ष में नहीं। इसी कारण उनके उपन्यासों में जहाँ संघर्ष की पर्याप्त गुंजाइश है वहाँ भी एक तनाव और द्वंद्व के बाद सहयोग स्थापित हो जाता है। यानी जैनेन्द्र की औपन्यासिक संरचना प्रेमचंद के मुकाबले सहयोगी और समन्वयवादी

1. "दायित्व कुछ ओढ़ी-सी चीज है, वह, वह कर्तव्य है जिसमें रस नहीं भी है। ऐसा दायित्व भीतर कुछ दमित भी छोड़ जा सकता है उससे व्यक्तित्व विभक्त बनता है। द्वन्द्व उससे निबटता तो नहीं, उल्टे कुंठा बनकर गहरे जाता है। स्पष्ट ही इससे समाज में विषमता उपजती है जो समाज के स्वास्थ्य को पनपने नहीं देती" वही पृ. 76-78।
2. "जो तीर की तरह अन्तः तक जा लगे, बुद्धि के पटल और जाल को भेदकर मर्म में घुस जाय और हलचल उपस्थित कर दे वहविद्वान चाहे कितना ही उसे पहेली कहें, विद्वता उसका मतलब (What is means) समझने में कितनी ही अकृत-कार्य रहे और वहाँ उद्देश्य का कितना ही अभाव दिखेवह सच्ची चीज है, उपादेय है, और वह जीने और जिलाने के लिए आई है, वह कला है। अर्थ-अर्थी जगत अपनी उद्देश्यपूर्णता की परिभाषा के घेरे में उसकी उपयोगिता को न बाँध पाए, इसमें अचरज नहीं। प्रत्युत यह तो बिल्कुल स्वाभाविक और सम्भवनीय है।" परख की भूमिका, पृ. 4-5.

(?) पहचान लिए हुए है। वे जीवन की संघर्षप्रधान मार्मिक परिस्थितियों में कला तत्त्व नहीं पाते। डॉ. देवराज ने लिखा है “जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण जैनेन्द्र की कला का सबल पक्ष नहीं है, वह लेखक का लक्ष्य भी नहीं है। उनकी कला का लक्ष्य है, जीवन की झलक मात्र दिखाते हुए पाठक को गहरे आत्मचिन्तन में लीन करना।” (डॉ. देवराज, प्रतिक्रियाएँ, पृ. 110) “जीवन की झलक मात्र दिखाते हुए” अर्थात् जीवन को पृष्ठभूमि, अवसर या बहाना बनाकर जैनेन्द्र आत्मचिन्तन की समस्याओं में अपनी कलावस्तु की वास्तविक सामग्री पाते हैं। यानी प्रेमचंद ने जो जीवन की घटनाओं में पहलू प्रसंग और अनुपात खोजकर उन्हें ठोस कला सामग्री के रूप में उपयोग किया था जैनेन्द्र में वह झलक मारती हुई, अवसर या बहाना बन जाती हैं। इसीलिए घटनाएँ प्रसंग और अनुपात में न होकर झलक और सूचना के रूप में आती हैं। उदाहरण के लिए ‘त्यागपत्र’ में मृणाल के अनमेल विवाह की घटना एक सामाजिक समस्या की झलक तो देती है किन्तु क्या उस घटना का प्रसंग ‘सुमन’ (सेवासदन) के अनमेल विवाह की घटना के प्रसंग की तरह स्पष्ट है? और क्या सुमन के जीवन में उसके बाद जितनी घटनाएँ घटती हैं वे उसके अनिवार्य परिणाम के कारण आवयविक और आनुपातिक नहीं हैं? किन्तु क्या मृणाल के जीवन में घटने वाली घटनाएँ शृंखला के अलावा अनुपात में हैं? मृणाल का जीवन बहुत घटना-बहुल है लेकिन घटनाएँ प्रभावहीन हैं क्योंकि मृणाल परिस्थितियों और घटनाओं की निर्मिति नहीं, विचार और चिन्तन की निर्मिति है। यानी घटनाएँ जैनेन्द्र के उपन्यासों में सामाजिक तथ्य से अधिक सामाजिक समस्या का रूप नहीं पाती। समस्या में प्रक्रिया निहित होती है जिससे रूपबंध निर्मित होता है।

जैनेन्द्र में समस्या भंगिमाओं द्वारा प्रस्तावित होती है और उन समस्याओं के वस्तुगत स्वरूप में जितने पहलू होते हैं उनके पारस्परिक अंतस्संबंधों के रचाव में जैनेन्द्र की कला का सर्वोत्कृष्ट रूप प्रतिफलित होता है। यहाँ कुछ उद्धरण प्रस्तुत करना आवश्यक होगा

1. “ऐसी कोई तुम्हारी जबर्दस्ती है?” (सत्यधन)

“जबर्दस्ती नहीं तो यों ही!” (कट्टो)

कह तो गई, पर ऐसी बड़ी बात कहकर ख्याल उसे जरूर हुआ। भला पूछो, इसकी जबर्दस्ती कैसी? उसने सोचा-भला सो मेरी जबर्दस्ती कैसी!

“उसने अपनी भेदीली आँखों से ऊपर देखा। उन आँखों में कातर भाव से लिखा था: मानों तब तक ही जबर्दस्ती है, नहीं तो मैं कौन हूँ?”

× × × × ×

...बड़े कड़वेपन के साथ बोली

“ओह मैं क्या कह गई! मैं कौन हूँ जो मेरी जबर्दस्ती हो!”

परख; पृ. 23-24

2. “...हरी बाबू सत्या को नहीं पढ़ा सकेंगे।” (श्रीकांत)

“क्या!” सुनीति ने हरी की ओर बिना देखे पूछा

“इन्हीं से पूछो” सुनीति ने उस ओर देखा

हरि जाने क्या होने लगा। सुनीता के अधिकार भाव में जैसे ऐसी निश्शंकता है कि उसमें आपत्ति उठाने की जगह हरि के लिए भी नहीं है। मैं चाहती हूँ तब भी यह न होगा? क्यों जी, अब भी तुम कह सकते हो, ‘न होगा? अब जरा कहिए तो कि ‘न होगा!’ यह कहती हुई उन आँखों की ओर देखकर हरि जाने क्या होता गया। उसने कहा “‘भाभी’ मैंने इनकार तो नहीं किया।”

सुनीता, पृ. 74

इन दोनों उद्धरणों में भंगिमा उभरी हुई है और समस्या को प्रस्तावित करती है। कट्टो विधवा है और प्रेम (?) करती है; सुनीता विवाहित है लेकिन कहीं-न-कहीं हरि के प्रति उसमें अभिमुखता है।

कट्टो का प्रेम और सुनीता की अभिमुखता दोनों के वास्तविक वस्तुगत कारण हैं किन्तु सामाजिक नैतिक परंपरा की दृष्टि से दोनों में औचित्य है। दोनों प्रसंग प्रबल हैं। भंगिमा (चाहे आँखों की हो या स्वर की) इन दोनों प्रसंगों को तान देती है। वस्तुगत कारणों से उचित परंपरागत कारणों से अनुचित के तनाव का एक मनोविज्ञान उभर आता है। यह एक ठोस परिस्थिति है, जिसमें परंपरागत और नवीन, सामाजिक और व्यक्तिगत, वस्तुगत और आत्मगत, कई पहलू हैं। यह जटिलता जितनी आन्तरिक कारणों से है उतनी ही बाह्य कारणों से। यह जटिलता सामाजिक विकास में निहित विविध शक्तियों के संघात से एक ऐसा मनोविज्ञान पैदा करती है जो ऐतिहासिक सारवस्तु को धारण करती है और संभावनागर्भ होती है। उसमें से कितने जटिल जाले निकल सकते हैं कहा नहीं जा सकता। मकड़ी के जाले झाड़ती हुई सुनीता सोचती है “ये मकड़ियाँ इतनी जानें कहाँ से पैदा होकर आ जाती हैं?...और जरा-सी तो होती हैं, जाने इतना सारा जाला अपने पेट से कहाँ से निकाल लाती हैं। मारना उसे असह्य था, पर जैसे वह मकड़ी अपनी धिनौनी टाँगों से उसके कलेजे पर से भागी जा रही हो, इस भाँति न मारा असह्य था।” (सुनीता पृ. 27)। ऐसे मानसिक जाले ही जैनेन्द्र की शक्ति हैं जो प्रेमचंद में नहीं मिलते। जहाँ तक इन जालों का वस्तुगत आधार है वहाँ तक जैनेन्द्र के उपन्यासों में ‘कथानक’ बनता है। (कथानक के लिए घटना आवश्यक नहीं, वस्तुगत ठोस प्रसंग आवश्यक हैं वे चाहे घटना से, भंगिमा से या भाषिक व्यंजना से, किसी से भी पैदा हों)। प्रेमचंद से आगे जैनेन्द्र की यह बहुत बड़ी देन है कि वे भंगिमा और भाषिक व्यंजना से कथानक के उभरने का अहसास कराते हैं। इस प्रकार भंगिमा और भाषा जिसका आधार मनोवैज्ञानिक है सबसे अधिक संगठनात्मक और संरचनात्मक आशय को जैनेन्द्र के उपन्यासों में चरितार्थ करने वाले उपकरण हैं।

चाहे कोई मनोवैज्ञानिक घाव हो या दार्शनिक प्रश्न, जैनेन्द्र ने विशिष्ट भंगिमा में ही उसे चित्रित किया है। उनके उपन्यासों में कम-से-कम एक पात्र अवश्य दार्शनिक होता है, अथवा कई में थोड़ा-थोड़ा दार्शनिकता का अंश मिला रहता है। उस अंश में वे पात्र अपने स्रष्टा के जिज्ञासु अथवा पृच्छाशील मस्तिष्क को पाए रहते हैं। प्रमोद कहता है ‘घटनाएँ होती हैं, होकर चली जाती हैं हम जीते हैं और जीते-जीते एक रोज मर जाते हैं। जीना किस हौंस से आरम्भ करते हैं। पर उस जीवन के इस किनारे आते-आते कैसी ऊब, कैसी उकताहट जी में भर जाती है।’ कितने सीधे पर मार्मिक उद्गार हैं। कहीं-कहीं जैनेन्द्र के वाक्य पेशेवर फिलासफरों को भी लजा दे सकते हैं ‘सत्य अहं रूपी नहीं है और जानना सब अहं रूप है। इससे सत्य जाना नहीं जाता’; और हमारी धारणाएँ हमारी कुठारियाँ हैं। उनमें हमारा ठिकाना है। वे हमें गर्म रखती हैं और अँधेरे में रखती हैं।...हमारे सारे सगुण विशेषण मानो चौखटे हैं, जिनमें हम अपने को और औरों को गढ़कर देखने के आदी हैं।’ अपनी सरल व्यंजना से पाठक को धोखा देने वाले ऐसे उद्गार जैनेन्द्र में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं और पद-पद पर पाठक आश्चर्य करता है कि इतनी सीधी भाषा में ऐसी कठिन बातें कैसे कहीं जा सकती हैं। (डॉ. देवराज : प्रतिक्रियाएँ, पृ. 104)

किन्तु भंगिमा मनोवैज्ञानिक हो या दार्शनिक जैनेन्द्र, उन्हें ‘प्रसंग’ के साथ बहुत कम चित्रित कर पाते हैं। अक्सर तो उनका इस्तेमाल हाथ लगे “अवसर” की भाँति करते हैं। इसीलिए

उनके उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक अंश स्वेच्छाचारी होने लगते हैं और पूरे उपन्यास में (यानी कथानक में) अनुपात खो देते हैं। प्रसंग और अनुपात खो देने के बाद कथानक कैसे बन सकता है! उनके उपन्यासों में घटनाएँ यदि अस्पष्ट और दिशाहीन हैं तो पात्र भी क्रियाहीन और संकल्पहीन हैं। “जैनेन्द्र अपने पात्रों को सुस्पष्ट व्यक्तित्व नहीं देते, न उनके सुख-दुख को सुलझे हुए रूप में हमारे सामने रखते हैं। ... सच पूछिए तो उनके पात्रों का व्यक्तित्व और उनकी समस्या ही ठीक तरह से समझ में नहीं आती।” (नन्ददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्य: बीसवीं शताब्दी)। इसका कारण उनका दृष्टिकोण है। उनकी रुचि तात्कालिक और सार्वकालिक जीवन प्रसंगों और अर्थों में है। किन्तु इन दोनों के बीच क्रियाशील व्यावहारिक जीवन ऐतिहासिक समय की अनिवार्यता और विधान में होता है। वह संस्थाबद्ध हुए बिना हो ही नहीं सकता। व्यक्ति और सामाजिक संस्थाओं के संबंध (वे चाहे सहयोगी या विरोधी हों) के बिना क्रियाशील और संकल्पबद्ध जीवन नहीं हो सकता। सभी संस्थाएँ तभी तो सामाजिक विकास की नई अन्तर्वस्तु को धारण करने वाला व्यक्ति, चौखटों से टकराता है और उन्हें लचीला बनाता या तोड़कर नए चौखटे बनाता है। जैनेन्द्र को इन सगुण चौखटों से घबराहट होती है। किन्तु मनोवैज्ञानिक तथ्यों (जिनमें बड़ी तीखी सघन तात्कालिकता होती है) और दार्शनिक विचारों को वे ही प्रसंग और अनुपात देते हैं। प्रसंग और अनुपात के बिना मनोवैज्ञानिक तथ्य और दार्शनिक विचार अपने आप में प्रभावशाली, सुन्दर किन्तु आधारहीन होते हैं। तभी शुद्ध सौंदर्यात्मक प्रश्न पैदा होता है। कला, व्यंजना और चित्रण की बारीकी लिए हुए कथानक से स्वतन्त्र होने लगती है, और शिल्प तथा तकनीक कथानक के मातहत होकर नहीं उससे स्वतन्त्र होकर अपने करतब दिखाने लगती है। जैनेन्द्र ने ‘परख’ की भूमिका में ही इस स्वतन्त्रता (स्वतन्त्रता की चर्चा पहले की जा चुकी है) और तकनीकी कौशल का बयान किया है

“मैंने जगह-जगह कहानी के तार की कड़ियाँ तोड़ दी हैं। वहाँ पाठकों को थोड़ा कूदना पड़ता है। और मैं समझता हूँ, पाठक के लिए यह थोड़ा आयास वांछनीय होता है अच्छा ही लगता है।

“कहीं एक साधारण भाव को वर्णन से फुला दिया है, कहीं लम्बा-सा रिक्त (Gap) छोड़ दिया है, कहीं बारीकी से काम लिया है, कहीं लापरवाही से; कहीं हल्की धीमी कलम से काम लिया है, कहीं तीक्ष्ण और भागती से। मैं समझता हूँ, यह सब-कुछ चित्र में खूबी और असलियत लाने के लिए जरूरी हो पड़ता है। यह कम ज्यादा रंग की शोभा, रंग-बिरंगेपन में अधिक स्वाद देती है।”

जैनेन्द्र ने अपने शिल्प और तकनीक के विषय में जो लिखा है उसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। किन्तु उनका उपयोग कथानक की सापेक्षता में होना चाहिए या निरपेक्षता में? ‘कथानक’ उपन्यास की ‘संस्था’ है; उसकी वस्तुगत सत्ता होती है जो सामाजिक विकास और बदलाव के साथ-साथ विकसित होता या बदल जाता है। वह मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक ही नहीं सभी तरह की समस्याओं को समाहित कर सकता है किन्तु वह किसी भी तरह की समस्या का अवसरवादी इस्तेमाल नहीं पचा सकता। कथानक को प्रायः घटना-शृंखला मान लिया जाता है। लेकिन कथानक कभी घटनाओं में नहीं होता; प्रेमचन्द में नहीं है, वह जीवन की समस्याओं के विविध सहयोगी-विरोधी प्रसंगों के आनुपातिक संगठन में होता है। प्रसंग और अनुपात ऐतिहासिक समय में घिरी और पैदा हुई जीवन की समस्याओं में निहित होते हैं। जो मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक प्रश्नों को भी प्रासंगिकता और औचित्य देते हैं। हर युग की विशिष्ट समस्याओं के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक पहलू होते हैं किन्तु सार्वकालिक मनोविज्ञान और दर्शन नहीं

होता। इन पहलुओं के विधान में ही कथानक मूर्त होता है, इसलिए कोई सार्वकालिक कथानक भी नहीं होता; वह वस्तुगत के साथ-साथ गत्यात्मक कलारूप होता है। जो वस्तुगत और द्वन्द्वात्मक सामाजिक वास्तविकता का प्रतिबिम्ब होता है। यहाँ जैनेन्द्र से प्रेमचन्द के उपन्यासों की तरह के कथानक की माँग नहीं की जा रही है; माँग की जा रही है उस तरह के कथानक की जो जैनेन्द्र के उपन्यासों में निहित मनोवैज्ञानिक (खासकर) और दार्शनिक समस्याओं से उभर सकता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब रचनाकार अपने युग की मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक समस्याओं से रचनात्मक और क्रियाशील स्तर पर उलझते हुए पूर्णतः सम्पृक्त लोगों पर भरोसा करें। उन्हें मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक तथ्य न माने बल्कि उनमें मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक समस्याओं से टकराने वाली प्रक्रिया को अभिव्यक्त होता हुआ पाए। इस प्रक्रिया के बीच और सापेक्षता में बौद्धिक और दार्शनिक चिन्तन भी अक्सर ही 'कथानक' को गहरे और सूक्ष्म मानवीय स्पन्दनों, गतियों तथा अर्थ-छवियों से समृद्ध करता है। यह सापेक्षता ही जैनेन्द्र के उपन्यासों में अनुपस्थित है। "असली जीवन में चिन्तन काफी हद तक Rationaligation (वासनामूलक पक्षपातों को मौलिक सिद्ध करने) का रूप होता है। किन्तु जैनेन्द्र के पात्र अक्सर असली दार्शनिकों की भाँति निरपेक्ष (Impersonal) ढंग से सोचते हैं।" (डॉ. देवराज, प्रतिक्रियाएँ, पृ. 107)। इसी कारण वे जीवन के प्रति एक निष्क्रिय, विरागी और निस्सहाय दृष्टिकोण प्रस्तावित करते हैं। जो तत्ववादी आत्म-साक्षात्कार के द्वारा संघर्ष के निरसन में अर्थवान होता है। यानी संघर्ष अनिवार्य किन्तु बाँझ क्रिया है जिसके निरसन में ही सम्भावना हो सकती है। संघर्ष, रचनात्मक संगठन का सजीव और सक्रिय आधार न होकर आशयों को तोड़ने वाली क्रिया है। इसलिए भरसक संघर्ष के अवसरों को बचाकर समाज जैसा है। (मानवीय या अमानवीय) उनकी मंगलाकांक्षा की जाए। प्रमोद, मृणाल को अपने विवाह में बुलाना चाहता है लेकिन मृणाल नहीं आती

“बुआ, सच, तुम ब्याह में भी न आओगी?”

“कैसे आऊँगी?”

“कैसे क्या होता है! आने की तरह आओगी। मैं समाज की बिल्कुल परवाह नहीं करता।”

“तुम परवाह नहीं करो भाई, तो चल सकता है। लेकिन मैं तो ऐसा नहीं कर सकती कि परवाह करूँ। मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि हम किसके भीतर बनेंगे? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे? इसलिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।” (त्यागपत्र, पृ. 71-72)।

मृणाल के आने से समाज के परंपरागत नैतिक ढाँचे से संघर्ष अनिवार्य हो जाता और निश्चय ही उस सामाजिक ढाँचे के टूटने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती। लेकिन उस तोड़ने वाली संघर्षात्मक क्रिया में जैनेन्द्र किसी संभावनात्मक नैतिक अर्थ की प्रतीति नहीं पाते। इसलिए संघर्ष किसी सर्जनात्मक संगठनात्मक आशय को प्रतिफलित नहीं कर सकता। जैनेन्द्र कब किसी पात्र, घटना या स्थिति का कैसा इस्तेमाल कर लेंगे उसकी दिशा और प्रक्रिया स्पष्ट नहीं होती; वे भाषा का खेलवाड़ी उपयोग करते हुए उसकी वस्तुगत शक्ति को खा जाते हैं और उसमें निहित वास्तविकता की जगह करामाती भाषाई जादू भर देते हैं उनकी कथा तकनीकी कौशल और चतुराई से खुलती-बढ़ती है और जीवन की सच्चाइयों के निशान और घाव वहन करने वाली भाषा की अपेक्षा चमत्कारिक व्यंजक संकेतों वाली भाषा से लदी है।

जैनेन्द्र की कला उपन्यास के रूपबंध को तोड़ती नहीं, उससे अलग होकर कला की वास्तविक समस्या को करतब में बदल देती है; जैसे मृणाल समाज को तोड़ना नहीं चाहती, उससे अलग होकर खुद टूटती हुई मंगलकामना करती है। उनकी कला और भाषा का और

उनके विचारों और भंगिमाओं का स्वतंत्र वैभव है। यह ऐसी स्वतंत्रता है जिसकी कोई कीमत उन्होंने अदा नहीं की है। जब तक 'युग-विशेष की समस्याओं' की परतन्त्रता और आघात से जकड़न और घाव नहीं धारण किया जाता तब तक किसी भी तरह स्वतंत्रता का क्या मूल्य है?

हिन्दी-उपन्यास में छायावाद की हासोन्मुख प्रवृत्तियों-शक्तियों का प्रतिनिधित्व जैनेन्द्र (और कविता में महादेवी) ही करते हैं।

जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों के साथ ही सन् 1934 में प्रकाशित श्री भगवती चरण वर्मा के उपन्यास "चित्रलेखा" को भी प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों की विशिष्टता प्रस्तावित करने का एक निर्णायक तथ्य के रूप में स्वीकार किया जाता है। पाप-पुण्य नैतिक-अनैतिक जैसी संकल्पना को विषय बनाकर यह उपन्यास लिखा गया है। इस संकल्पनाओं को गंभीर और सूक्ष्म मानकर संभवतः उपन्यास को प्रेमचन्द के उपन्यासों के मुकाबले अधिक 'गंभीर, गहरा सूक्ष्म और मार्मिक अनुभूतियों' से समृद्ध बनाने की आकांक्षा रही है। जीवन के अर्थ में परिस्थितियों की अपेक्षा संकल्पनाओं (concepts) की भूमिका अधिक मानी गई; इस बिन्दु पर जैनेन्द्र और 'भगवतीचरण वर्मा (चित्रलेखा) एक है। उनमें अंतर है तो संकल्पनाओं के उपयोग में। जहाँ जैनेन्द्र में आत्म विद्यावाद है (solipsism) वहाँ भगवतीचरण वर्मा में भावुकता (Emotionalism)। दोनों ही रोमानी रचनाकार की श्रेणी में आते हैं। जैनेन्द्र यदि आत्मिक स्रोतों की खोज में परिस्थिति में निहित अंतर्विरोध और द्वन्द्व तथा संघर्ष के सामाजिक मनोवैज्ञानिक पहलुओं को स्थगित और बेमानी-सा बना देते हैं तो भगवतीचरण वर्मा जीवन के भाव-भंगिमा के कारण परिस्थितियों में विद्यमान तीव्र संघर्षात्मक बिन्दुओं को धुँधला करते हैं। यद्यपि 'चित्रलेखा' में परिस्थितियों के भीतर ही जीवन व्यवहारों और जीवनार्थों को चरितार्थ करने का उपक्रम किया गया है। उसकी उपक्रमणिका में ही इसकी घोषणा नहीं की गई है बल्कि समूचे उपन्यास में परिस्थितियों के भीतर गिरते उठते पात्रों की कथा कही भी गई है। लेकिन परिस्थितियों और यथार्थ घटनाओं को भावुकतावादी दृष्टिकोण से चित्रित किया गया है।

'चित्रलेखा' में मार्मिकता के नाम पर भावुक त्याग और गंभीरता के नाम पर बौद्धिक विचार विमर्श है। गंभीरता और मार्मिकता तब पैदा होती है जब भाव परिस्थितियों के अनिवार्य आघात में विषम और विडंबनापूर्ण हो जाते हैं। तभी बौद्धिक विचार विमर्श के भीतर भी वास्तविकता का ताप पैदा होता है। जैनेन्द्र और चित्रलेखाकार दोनों के रचनात्मक लेखन में जो बौद्धिक विचार विमर्श की अपेक्षाकृत अधिक प्रवृत्ति मिलती है उससे लगता है कि वे अपने समय की बहुत सूक्ष्म और गहरी समस्याओं से जूझ रहे हैं। लेकिन ये सूक्ष्म समस्याएँ जब तक जीवन को घेरने वाले तमाम संदर्भों के पारस्परिक अन्तस्सम्बन्धों (यानी संगठित कथानक में) न व्यक्त हों तब वे रचनात्मक शक्ति की उष्णता नहीं पा सकतीं। 'चित्रलेखा' बौद्धिक विचार विमर्श में परिस्थितियों की वकालत करते हुए भी परिस्थिति पर भाव की विजय का व्याख्यान है, परिस्थितियों से निर्मित भाव की जटिलता का नहीं। चित्रलेखा और बीजगुप्त का त्याग करके उनके व्यक्तित्व को समृद्ध नहीं करता क्योंकि वह किसी के साथ संघर्ष में नियोजित नहीं है। उसमें आत्म दया और प्रदर्शनपरकता है। एक भावुक परिस्थिति में उदारता और त्याग की अपेक्षा वास्तविक स्थितियों में क्रूरता और कामुकता भी अधिक संभावनागर्भ और सर्जनात्मक होती है। क्या भोगी बीजगुप्त के उदार विराग के मुकाबले (चित्रलेखा में ही) कुमारगिरि की क्रूर कामुकता अधिक अर्थ समृद्ध नहीं है? लेकिन उस प्रसंग पर पहुँचते ही लेखक कथा में उसका अन्त कर देता है क्योंकि कुमारगिरि के कामावेग में निहित अन्तस्संबंधों की जटिल



व्यवस्था के साथ लेखक कहानी कहना ही नहीं चाहता; वह तो जैनेन्द्रिय स्वतंत्रता में भाव की कहानी कहना चाहता है जिसका उर्वर क्षेत्र बीजगुप्त में है। कुमारगिरि जैविक परिस्थितियों की गिरफ्त में है और जब ये परिस्थितियाँ उस पर सर्वाधिक घातक प्रहार करती हैं तभी उसकी कथा खत्म हो जाती है उसकी आध्यात्मिक और जैविक शक्तियों के संघर्ष की कथा तो इसके बाद आरंभ होती है और तभी सनसनी से अधिक घटना मात्र से अधिक वह जीवन की मार्मिक परिस्थिति को व्यक्त कर पाती। क्या ऐसा नहीं लगता कि चित्रलेखाकार गंभीरता और मार्मिकता के वास्तविक स्रोतों को नहीं पहचानता? क्या वह भावों विचारों और परिस्थितियों और घटनाओं में निहित अन्तर्विरोधी और नाटकीय पहलुओं को संगठित करने की अपेक्षा नाटकीय अंदाज या नाटकनुमा बना कर नहीं चित्रित करता? क्या यह परिप्रेक्ष्य की अस्पष्टता और उलझाव के कारण नहीं है? यानी 'व्यक्ति' होने से पहले ही 'मनुष्य' जटिल परिस्थितियों से जूझे बिना 'मार्मिकता' की धारणाएँ लेखक के पास हैं जिन्हें वह चरितार्थ करना चाहता है; परिस्थितियाँ तो बहाना भर हैं।

जहाँ जैनेन्द्र आत्मसाक्षात्कार से परिस्थितियों में निहित अर्थ को स्थगित कर देते हैं। वहाँ चित्रलेखाकार भाव साक्षात्कार से। दोनों ही मनुष्य की तात्त्विक सत्ता (आत्म अथवा भाव) में विश्वास करने लगते हैं और उसी के सहारे जीवन की सार्थकता का उद्घाटन करते हैं। 'आत्मरूप' या 'भावरूप' मनुष्य आधुनिक चिंतन का मुख्य बिंदु नहीं है। ऐतिहासिक क्रम में विकसित सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक (भी) परिस्थितियों में अपनी भूमिका तय करने वाला मनुष्य, जो अनेक जटिल सम्बन्धों का संघात है आधुनिक चिंतन का केंद्रीय विषय है। इसमें परिस्थितियों के भीतर से मानवीय सार की उद्भावना होती चलती है और उस सार के सम्बन्ध में मानसिकता और भाव प्रवृत्तियाँ विकसित और अर्थवान होती चलती हैं। इस प्रकार 'मनुष्य' तात्त्विक सत्ता से अधिक एक 'गत्यात्मक' सत्ता हो जाता है। जिसकी सार्थकता परिवर्तनों में बने रहने से नहीं, परिवर्तनों से बनते रहने और परिवर्तन के लिए परिस्थितियों से टकराते रहने में है। यानी मानव चेतना के तात्त्विक (essential) स्वरूप की अपेक्षा चेतना के तात्कालिक तथ्य जीवन की समझ और व्याख्या के नए परिप्रेक्ष्य प्रस्तावित करते हैं। उन्हीं के कथानक से संगठन और संरचना के उपादान उभरते हैं; जो त्यागपत्र की तरह चित्रलेखा में भी अनुपस्थित है।

इस पूरे ऐतिहासिक दौर में प्रेमचंद ने ही सिर्फ उपन्यास के रूपबन्ध सम्बन्धी समस्याओं का सामना करने का प्रमाण दिया है; शेष सभी उपन्यासकार या तो उनके रूपगत ढाँचे का अनुमान करते हैं अथवा शिल्प और तकनीक की समस्याओं को अहमियत देकर, कला के विषय में स्वतंत्र दृष्टिकोण प्रस्तावित करते हैं। इस स्वतंत्र दृष्टिकोण में कला और जीवन का फासला बढ़ता है। कला की सौंदर्यात्मक समस्याओं का सामना जीवन-समस्याओं के प्रसंग में न करके कला के स्वायत्त नियमों के प्रसंग में किया जाने लगता है और जीवन कला के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेक एक दुष्ट तर्क-जाल में फँस जाता है। आज भी इस समस्या को ठीक-ठीक पहचानने का वास्तविक परिप्रेक्ष्य प्रेमचंद के उपन्यास ही प्रस्तावित करते हैं।

(‘आधुनिक साहित्य और इतिहासबोध’ नामक पुस्तक से)

## उपन्यास और लोकतंत्र

---

मैनेजर पाण्डेय

साहित्य के रूपों का विकास समाज के विकास से जुड़ा हुआ होता है, इसलिए साहित्य रूपों की संरचना का उस सामाजिक संरचना से गहरा संबंध होता है, जिसमें साहित्य के रूप पैदा होते हैं। प्रत्येक साहित्य-रूप का एक विचारधारात्मक आधार भी होता है जो सामाजिक विकास की विशेष अवस्था में व्याप्त विचारधारा से प्रेरित और प्रभावित होता है। महाकाव्य का जन्म सामंती दौर से पहले के जनपदीय समाजों में हुआ था और उसका विकास सामंती समाजों में होता रहा। ऐसे सामाजिक आधार के कारण ही महाकाव्यों की संरचना में एक ओर जनपदीय समाजों का खुलापन मिलता है तो दूसरी ओर सामंती समाजों की सांस्कृतिक और विचारधारात्मक परिणतियों की अभिव्यक्ति भी। विकासशील महाकाव्यों से कलात्मक महाकाव्यों की संरचना भिन्न प्रकार की होती है, लेकिन दोनों में नायक और अन्य मुख्य पात्र अभिजात वर्ग के होते हैं। यही नहीं कथा की संरचना में निर्णायक भूमिका पारलौकिक तत्वों, शक्तियों और प्रवृत्तियों की होती है। महाकाव्यों का आधार वह मिथकमाला होती है जो आदिम समाजों से लेकर सामंती समाज-व्यवस्था तक निर्मित और विकसित होती रहती है। सामंती समाज-व्यवस्था के अंत के साथ दुनिया भर में महाकाव्यों का युग समाप्त होता दिखाई देता है। बाद के समय के महाकाव्य केवल पुराने महाकाव्यों की स्मृतियों की अभिव्यक्ति ही है। यही कारण है कि आधुनिक काल में महाकाव्यों की रचना संभव नहीं रही। महाकाव्य एक स्तर पर अपने समय और समाज के मनुष्य की स्थिति और नियति की पहचान और अभिव्यक्ति के प्रयत्न करते थे। आधुनिक काल में यह काम उपन्यास के माध्यम से होने लगा, इसलिए उपन्यास को आधुनिक युग का महाकाव्य भी कहा जाता है।

उपन्यास और लोकतंत्र के संबंध पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना जरूरी है कि आधुनिक काल में दोनों का जन्म लगभग एक साथ हुआ है। महाकाव्यों में व्यक्ति कुछ प्रवृत्तियों के प्रतीक हुआ करते थे, जबकि उपन्यास में व्यक्ति अपनी स्वतंत्र सत्ता के साथ

उपस्थित होता है। उपन्यास में व्यक्ति की वैयक्तिकता जिन सामाजिक संदर्भों से बनती है, उनसे व्यक्ति के संबंधों की जटिलता का बोध उपन्यास में व्यक्त होता है। उपन्यास में उपस्थित व्यक्ति ऐतिहासिक व्यक्ति होता है। वह इतिहास से बनता है और इतिहास को बनाता भी है। उपन्यास के आख्यान में कथा के पुराने रूपों की स्मृतियाँ होती हैं और उनका उपयोग भी होती है। कुछ उपन्यासों में लोककथा की पद्धति मिलती है तो कुछ में नीति-कथाओं की। उपन्यास ने फैंटेसी से लेकर मिथकों तक का प्रयोग अपनी संरचना के भीतर किया है, लेकिन उपन्यास हर स्थिति में ऐतिहासिक यथार्थ से जुड़ा हुआ होता है। उसमें सामाजिक यथार्थ की जटिल समग्रता का चित्रण ही नहीं, विश्लेषण भी होता है। मिशेल जेराफा ने इतिहास से उपन्यास के संबंध का विवेचन करते हुए ठीक ही लिखा है कि “उपन्यास के पाठ में यह बात निहित होती है कि मनुष्य अकेला नहीं जीता है, उसका एक अतीत, एक वर्तमान और एक भविष्य होता है। उपन्यास यह भी सिद्ध करता है कि इतिहास के बिना कोई समाज नहीं होता और समाज के बिना इतिहास भी नहीं होता है। उपन्यास वह कला-रूप है जो ऐतिहासिक और सामाजिक रूप से परिभाषित मनुष्य की पुनःप्रस्तुति करता है।”

इतिहास से कविता का संबंध वैसा नहीं होता जैसा उपन्यास का होता है। यद्यपि महाकाव्यों में इतिहास उपस्थित रहता था, लेकिन वह भी सार-तत्त्व के रूप में, न कि अपनी समग्रता में। प्रगीत तो इतिहास से मुक्ति में ही अपनी सार्थकता मानता है। कविता में कवि का स्वर प्रमुख और निर्णायक होता है, जबकि उपन्यास में समाज के इतिहास का स्वर अनेक रूपों में व्यक्त होता है। कविता में अनेकार्थता मूल्यवान मानी जाती है जबकि उपन्यास में सुनिश्चित अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति महत्त्वपूर्ण होती है। कविता की संरचना की समाज की संरचना से तुलना करने पर कविता के स्वभाव का एक और पक्ष सामने आता है। कॉलरिज ने कहा था कि कविता सर्वोत्तम शब्दों की सर्वोत्तम व्यवस्था है। कविता की इस संरचना को समाज से जोड़कर देखिए तो एक अभिजनवादी समाज-व्यवस्था सामने आती है, जिसमें विभिन्न प्रकार के मनुष्यों के, समावेश के बदले अपवर्जन की प्रवृत्ति प्रधान होगी, जो कमजोरों, दलितों, भदों और बेजुबानों के बहिष्कार को प्रमुखता देगी। संभवतः इसी बात को ध्यान में रखकर डब्ल्यू. एच. ऑडेन ने कहा था कि “अगर कोई समाज उस अच्छी कविता की तरह हो, जिसमें सुंदरता, सुव्यवस्था, संक्षिप्तता और समग्रता के अंतर्गत व्यौरों की पराधीनता को ही महत्त्व दिया जाता है तो वह भयावह दुःस्वप्न की तरह होगा। अगर हम वास्तविक मनुष्यों की ऐतिहासिक स्थिति पर ध्यान दें तो यह मानना होगा कि वैसा समाज तभी बन सकता है जब उच्च कोटि के मनुष्य चुन-चुनकर पैदा किए जाएं, शारीरिक और मानसिक रूप से अयोग्य लोगों को मार दिया जाए, सर्वोच्च सत्ता के परम आज्ञापालकों को बढ़ावा दिया जाए और गुलामों के समूह को समाज की नजरों से दूर तहखानों में बंद कर दिया जाए।” इसलिए ऑडेन ने यह भी कहा था कि एक कवि उदार लोकतांत्रिक समाज का जिम्मेदार आलोचक नहीं हो सकता। कविता और गद्य के मूलभूत अंतर को समझते हुए ही निराला ने कहा था कि “कविता की भाषा से मनोरंजन होता है परंतु वह जीवन संग्राम के काम की नहीं होती।” निराला ने यह भी कहा था कि “गद्य जीवन-संग्राम की भाषा है।”

जनजीवन के इतिहास से मुठभेड़ के प्रसंग में कविता से उपन्यास का अंतर स्पष्ट दिखाई देता है। सन् 1947 में भारत का विभाजन हुआ और सांप्रदायिक उन्माद के कारण अभूतपूर्ण दंगे हुए। बड़े पैमाने पर जनता अपनी जमीन से उजड़कर दूसरी जगह जाने और बसने के लिए मजबूर हुई। यह भारतीय समाज के इतिहास की अपूर्व त्रासदी थी। उस समय छायावाद

के तीन महत्त्वपूर्ण कवि जीवित थेनिराला, पंत और महादेवी वर्मा। उसी समय अन्य कवियों के साथ-साथ प्रगतिशील आंदोलन के पाँच कवि कविताएँ लिख रहे थेनागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह और त्रिलोचन। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि देश के विभाजन और उससे जुड़ी हुई संपूर्ण त्रासदी पर निराला, पंत, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, मुक्तिबोध, शमशेर बहादुर सिंह और त्रिलोचन में से किसी ने कोई महत्त्वपूर्ण कविता नहीं लिखी है। उस समय ही नहीं, बाद में भी नहीं। उस समय के कवियों में केवल अज्ञेय ने 12 अक्टूबर 1947 से 12 नवंबर 1947 के बीच 'शरणार्थी' शीर्षक से 11 कविताएँ लिखी थीं और साथ ही अनेक कहानियाँ भी, जो सन् 1948 में 'शरणार्थी' नाम से प्रकाशित पुस्तक में मौजूद हैं। विभाजन की त्रासदी की जटिल समग्रता की अभिव्यक्ति उपन्यासों और कहानियों में ही हुई है; क्योंकि कथा-साहित्य ही अपने समय के इतिहास से सार्थक मुठभेड़ में सक्षम रहा है और मनुष्य विरोधी प्रवृत्तियों की निर्मम आलोचना के लिए तत्पर भी। आज भी जिसे विभाजन की त्रासदी की भयावहता को समझना होगा वह यशपाल के 'झूठा-सच', राही मासूम रजा के 'आधा गाँव' और भीष्म साहनी के 'तमस' को पढ़ेगा और साथ ही अज्ञेय, मोहन राकेश, भीष्म साहनी तथा कृष्णा सोबती की कहानियों को भी।

इतिहास से मुक्ति की चिंता कविता को मिथक के करीब ले जाती है या मिथक बनाने की कोशिश करती है और मिथक प्रायः इतिहास के बंधनों से मुक्त कल्पना की उपज होता है। रोला बार्थ ने लिखा है कि "मिथक वस्तुओं के ऐतिहासिक गुणों को खोकर निर्मित होता है, उसमें वस्तुएँ यह भूल जाती हैं कि वे इतिहास में बनी हैं। मिथक में वास्तविकता उलट-पुलट जाती है वह इतिहास को खोकर प्राकृतिक बनता है।" इसके ठीक विपरीत उपन्यास स्थितियों और वास्तविकताओं को पुनः ऐतिहासिक संदर्भ और अर्थ देता है, इसलिए प्रत्येक उपन्यास मूल रूप से ऐतिहासिक ही होता है, चाहे उसे प्रचलित अर्थ में ऐतिहासिक कहा जाए या न कहा जाए। उपन्यास के आख्यान में मानव जीवन समाज की गतिशील प्रक्रिया के हिस्से के रूप में चित्रित होता है, इसलिए वह ऐतिहासिक होता है। यह कहा जा सकता है कि जब अपने समय और समाज को जानने की रचनाकार की आकांक्षा इतिहास में प्रवेश करती है जब उपन्यास का जन्म होता है। उपन्यास के आख्यान की गति हमेशा वर्तमान से भविष्य की ओर होती है, इसलिए जो लोग उपन्यास में अतीत का आख्यान रचते हैं वे पुराण रचते हैं, उपन्यास नहीं।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में साहित्यिक विधाओं की शुद्धता का आग्रह कम हुआ है और उनकी प्रकृति में अनेक प्रकार के परिवर्तन भी हुए हैं। जब कविता साहित्य की केंद्रीय विधा मानी जाती थी तब उपन्यासों और कहानियों में भी कविता या काव्यत्व या कवि दृष्टि की खोज की जाती थी, लेकिन अब स्वयं महत्त्वपूर्ण कवि कविता में उपन्यास की संवेदना का सर्जनात्मक उपयोग कर रहे हैं। जिन कवियों ने जनजीवन के इतिहास की जटिल प्रक्रिया और गति को कविता में व्यक्त करने की कोशिश की है, उन्होंने अपनी कविता की सरंचना को उपन्यास से जोड़ा है। मानव-समाज और मानव-मन की घाटियों तथा शिखरों की कठिन काव्य-यात्रा करने वाले मुक्तिबोध को 'अंधेरे में' कविता में अचानक तॉल्स्तॉय' याद आते हैं

हाय! हाय! तॉल्स्तॉय  
कैसे मुझे दिख गए  
सितारों के बीच-बीच  
घूमते व रुकते

पृथ्वी को देखते ।  
 शायद तॉलस्तॉलय-नुमा  
 कोई वह आदमी  
 और है,  
 मेरे किसी भीतरी धागे का आखिरी छोर वह,  
 अनलिखे मेरे उपन्यास का  
 केंद्रीय संवेदन  
 दबी हाय-हाय-नुमा ।  
 शायद तॉलस्तॉय-नुमा ।

मुक्तिबोध मानते थे कि कविता 'जन-चरित्र' होती है। जन-जीवन में कविता की कम और उपन्यास कहानियों की संभावनाएँ अधिक होती हैं, इसलिए मुक्तिबोध को जनजीवन से जुड़ने की प्रक्रिया में कहानियाँ मिलती हैं और उपन्यास भी :

कहानियाँ लेकर और  
 मुझको कुछ देकर ये चौराहे फैलते  
 जहाँ जरा खड़े होकर  
 बातें कुछ करता हूँ...  
 ...उपन्यास मिल जाते ।

जैसे-जैसे भारतीय समाज में जन-जीवन जटिल से जटिलतर और कठिन से कठिनतर हुआ है वैसे-वैसे जन-जीवन की चिंता करने वाली कविता की संस्कृति में परिवर्तन आया है और वह इतिहास से मुठभेड़ की क्षमता अर्जित करने का प्रयत्न करती दिखाई देती है। इसके संकेत नागार्जुन, मुक्तिबोध और धूमिल की कविता में मिलते रहे हैं, लेकिन पिछले दो दशकों से हिन्दी कविता जन-जीवन के इतिहास की त्रासदियों को पहचानने और व्यक्त करने में पहले से अधिक सक्रिय और समर्थ हुई है। इसके प्रमाण अयोध्या की दुर्घटना और गुजरात के जनसंहार पर लिखी कविताओं में मिलते हैं। जाहिर है ऐसी कविता में केवल 'सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम क्रम-विधान' ही नहीं चल सकता, उसमें भेदस, देशज और तिरस्कृत शब्दों के विस्फोटक अर्थों का प्रयोग जरूरी होता है।

उपन्यास केवल एक साहित्यिक रूप नहीं है, वह जीवन-जगत को देखने की एक विशेष दृष्टि है और मानव-जीवन तथा समाज का एक विशिष्ट बोध भी। उपन्यास का इतिहास इस दृष्टि और बोध के परिवर्तन का इतिहास भी है, वह केवल उपन्यास के बदलते रूपों का इतिहास नहीं है। प्रसिद्ध रूसी आलोचक मिखाईल बाख्तिन ने उपन्यास के स्वभाव की व्याख्या करते हुए लिखा है कि उसमें दृष्टियों और स्वरों की अनेकता होती है। दृष्टियों और स्वरों की अनेकता से उपन्यास की संरचना में लोकतंत्र आता है। उपन्यास में केवल रचनाकार की दृष्टि और स्वर की निर्णायक भूमिका नहीं होती। अच्छे उपन्यास में प्रत्येक पात्र की दृष्टि और स्वर की स्वतंत्र सत्ता होती है जिससे उसकी मानवीय गरिमा और अर्थवत्ता का निर्माण भी होता है। बाख्तिन ने यह भी लिखा है कि उपन्यास की औपन्यासिकता उसकी संवादधर्मिता में निहित होती है। यही संवादधर्मिता उपन्यास से पाठक के विशेष प्रकार के संबंध का निर्माण करती है और भाषा को उसकी संपूर्ण अर्थवत्ता में सामने लाती है। हेगेल और जार्ज लुकाच ने उपन्यास में विशिष्टता और एकता को महत्त्व दिया था, लेकिन बाख्तिन अनेकता और विविधता को उपन्यास की संरचना की बुनियादी विशेषता मानते हैं। हेगेल और लुकाच की तरह बाख्तिन

उपन्यास में चेतना की ऊर्ध्वगामी प्रगति को महत्त्व नहीं देते, बल्कि वे एकालाप और संवाद के बीच निरंतर द्वंद को आवश्यक मानते हैं। बाख्लिन के अनुसार उपन्यास आधुनिक युग की रचना इसलिए नहीं है कि उसमें आत्म के अन्वेषण की प्रवृत्ति मिलती है, बल्कि उसमें स्व द्वारा पर की निरंतर खोज और पहचान होती है। उपन्यास में एक संरचना के भीतर अनेक प्रकार के संबंधों की क्रियाशीलता मौजूद रहती है; उसमें सामाजिक, ऐतिहासिक, वैयक्तिक, वैचारिक और पाठ से जुड़े संबंध परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए उपन्यास के ढाँचे का निर्माण करते हैं।

बाख्लिन कहते हैं कि उपन्यासकार विभिन्न पात्रों के स्वतंत्र स्वयं की अनेकता के माध्यम से उपन्यास के भीतर एक ऐसी दुनिया रचता है, जिसमें स्वयं की अनेकता ही सच है। उन्होंने दोस्तोवस्की के उपन्यासों की कला की व्याख्या करते हुए लिखा है कि उसमें कोई पात्र लेखक का प्रवक्ता नहीं होता, उसका स्वतंत्र अस्तित्व होता है और दूसरे पात्रों से वह उसी तरह संवाद करता है जैसे समाज में मनुष्य एक-दूसरे से करते हैं। इसी कारण उपन्यास की संरचना में एक प्रकार का खुलापन होता है जो उपन्यास के अंत को भी जीवन की निरंतरता से जोड़ता है। उपन्यास में केवल स्वयं की अनेकता ही नहीं होती उसमें सामाजिक भाषाओं की अनेकता भी होती है और सामाजिक भाषाओं की अनेकता के माध्यम से ही विभिन्न सामाजिक समूहों और वर्गों के जीवन के अनुभवों, स्थितियों, वास्तविकताओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति भी होती है। जिसे उपन्यास की संवादधर्मिता, स्वयं की अनेकता और सामाजिक भाषाओं की अनेकता का रचनात्मक रूप देखना हो उसे फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आँचल' को पढ़ना चाहिए। उपन्यास अपनी भाषिक चेतना की विशिष्टता के कारण भी जन-जीवन के इतिहास से अंतरंग संबंध स्थापित करता है।

उपन्यास में लोकतंत्र के पीछे यह मान्यता है कि मानव-स्वभाव और मानव-समाज परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशीलता की पहचान और अभिव्यक्ति उपन्यास का प्रयोजन है। परिवर्तन की चिंता ही उपन्यास को द्वंदात्मक चिंतन से जोड़ती है, जिसमें डेविड हार्वे के शब्दों में, प्रक्रियाओं, प्रवाहों और परिवर्तनों की समझ को विशेष महत्त्व दिया जाता है। इसी बोध के कारण उपन्यास इतिहास से जुड़ता है और ऐतिहासिक चिंतन से भी, जिसके परिणामस्वरूप उपन्यास में यथार्थवाद का विकास हुआ है। इतिहासवादी चिंतन ने मनुष्य को धर्मशास्त्रीय और आध्यात्मिक आग्रहों से मुक्त किया है और सच की खोज की स्वतंत्रता की भावना का विकास भी किया है। सच की खोज की भावना ही उपन्यास को यथार्थवादी बनाती है। हाल के वर्षों में उत्तर-आधुनिकतावाद के साथ उत्तर-यथार्थवाद की चर्चा चल पड़ी है। फूको, बार्थ और क्रिस्तोवा आदि यथार्थवाद को 'बुर्जुआ षड्यंत्र' कहते हैं; क्योंकि एक तो यथार्थवादी उपन्यास बुर्जुआ वर्ग के उदय के साथ अस्तित्व में आया और दूसरे उनके अनुसार यथार्थवाद कल्पना, फैंटेसी और भाषिक सृजनशीलता को सीमित करता है, इसलिए वह षड्यंत्र है। यथार्थवाद के बारे में उत्तर-आधुनिकतावादियों की इस मान्यता के प्रसंग में कई सवाल पैदा होते हैं। एक तो यही कि अगर यथार्थवादी उपन्यास बुर्जुआ वर्ग की देन है तो उसे षड्यंत्र कहने वाले उत्तर-आधुनिकतावादी किस वर्ग के हैं? क्या वे बुर्जुआ वर्ग के बुद्धिजीवी नहीं हैं? एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि उपन्यास के माध्यम से किसानों, मजदूरों और अन्य पराधीन तथा शोषित जन समुदायों के जीवन की यातनाओं, पीड़ाओं की अभिव्यक्ति हुई है और उनसे मुक्ति की आकांक्षा की भी। ऐसी स्थिति में उपन्यास को केवल बुर्जुआ वर्ग से जोड़कर देखना गलत तो है ही, एक प्रकार की चालाकी भी है। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है कि यथार्थवाद कला और साहित्य की दुनिया में उपन्यास और बुर्जुआ

वर्ग दोनों के पहले से मौजूद रहा है।

यथार्थवाद उपन्यास में और अन्यत्र भी सच की खोज की चिंता से संचालित होता है। वह इस मान्यता पर आधारित है कि मानव-जीवन के बारे में सच मनुष्य और समाज से उसके संबंध के बोध के माध्यम से ही पाया जा सकता है। लेकिन उत्तर-आधुनिकतावादी सच को केवल भाषिक निर्मिति मानते हैं, इसलिए उनके अनुसार रचना के बाहर के किसी सच से रचना का कोई संबंध नहीं होता। उपन्यास ने सामाजिक वर्गों, कानूनों, परंपराओं, संस्थाओं, परिवारों, नैतिकताओं और राजनीति के रूपों की छान-बीन करते हुए यह देखने-दिखाने का प्रयत्न किया है कि ये सब मानव-व्यवहार और व्यक्ति की नियति को कैसे प्रभावित करते हैं। उत्तर-आधुनिकतावादी जब भाषा से स्वतंत्र किसी यथार्थ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते तब वे यथार्थवाद को क्यों स्वीकार करेंगे। यथार्थवाद का महत्त्व उसके ज्ञानात्मक मूल्य पर निर्भर होता है। यथार्थवाद यह मानता है कि शब्द ही सब कुछ नहीं है, बल्कि शब्दों से परे और स्वतंत्र एक संसार भी है, जिससे शब्द भी जुड़े हैं और शब्द के माध्यम से बनने वाली रचनाएँ भी। यथार्थवाद के बारे में यह आरोप भी झूठा है कि वह लेखकों की कल्पना और रचनाशीलता को सीमित करता है। यथार्थ का बोध विविध रूपों में होता है; क्योंकि यथार्थ एक तो परिवर्तनशील होता है और दूसरे उसके रूपों में अपार विविधता होती है। यथार्थवादी उपन्यासों के इतिहास से यह साबित होता है कि यथार्थ की अभिव्यक्ति सुखद, दुःखद, आशाप्रद, भयावह, विडंबनात्मक आदि अनेक रूपों में हुई है और इन सबकी अभिव्यक्ति की कलात्मक पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की रही हैं। हिन्दी में प्रेमचन्द का यथार्थवाद एक प्रकार का है तो रेणु का यथार्थवाद दूसरे प्रकार का। इसी तरह 'झूठा-सच', 'आधा गाँव', 'राग दरबारी' में यथार्थवाद के अनेक रूप दिखाई देते हैं।

ब्रेश्ट ने ठीक ही कहा था कि "यथार्थवाद केवल एक साहित्यिक दृष्टि और पद्धति ही नहीं है, वह एक राजनीतिक दृष्टिकोण भी है।" समाज के ज्ञान की आवश्यकता उन्हें होती है जो समाज को बदलकर उसे बेहतर बनाना चाहते हैं। यथार्थवादी उपन्यास ऐसे लोगों को सामाजिक वास्तविकता और सचाई का ज्ञान देकर उन्हें क्रियाशील बनाता है। इसलिए जो यथास्थिति के पोषक हैं, वे यथार्थवाद के विरोधी होते हैं। आज के समय में यथार्थवाद पहले से अधिक जरूरी है; क्योंकि ब्रेश्ट के शब्दों में "शासकवर्ग पहले से अधिक और बड़े झूठ बोल रहे हैं। जनता की यातना बढ़ रही है और यातनाग्रस्त लोगों की संख्या भी।" ऐसे में सामाजिक यथार्थ और सच की अभिव्यक्ति अधिक आवश्यक है। उसके लिए अभिव्यक्ति की कोई भी वह पद्धति अपनाई जा सकती है, जो यथार्थ और सच को पूरी तरह तथा प्रभावशाली ढंग से पाठकों तक पहुँचाए। सेमुअल डेलेनी ने ठीक ही लिखा है कि आज के समय में यथार्थ राजनीति का पर्यायवाची है। इसलिए यह कहना जरूरी है कि यथार्थवादी उपन्यास साहित्य के माध्यम से एक राजनीतिक हस्तक्षेप भी है।

उपन्यास केवल यथार्थ की खोज और उसकी गति की पहचान का आख्यान ही नहीं है, वह संभावनाओं की तलाश का आख्यान भी है। उसमें वर्तमान की सीमाओं के बोध के पार जाने की आकांक्षा के कारण संभावित संसार की रचना की कोशिश भी होती है। उपन्यास के माध्यम से ऐसी दुनिया निर्मित की जाती है जो पाठकों को वास्तव में संभव लगे। ऐसी दुनिया रचने वाला उपन्यासकार ही संभावनाओं का व्याख्याकार भी कहा जा सकता है। आजकल ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं जो पूँजीवाद की बर्बरता से मुक्ति की आकांक्षा के कारण एक बेहतर दुनिया की कल्पना पाठकों के सामने रखते हैं। आक्टैविया बट्लर का उपन्यास 'पैरेबल

ऑफ सोवर' ऐसा ही उपन्यास है। ऐसे उपन्यासों में साहित्यिक कल्पना सामाजिक कल्पना बनकर क्रियाशील होती है और इस प्रक्रिया में वह आम जनता की लोकतांत्रिक आकांक्षा का प्रतिनिधित्व करती है। यद्यपि उत्तर-आधुनिकतावादी अनिश्चितता, आकस्मिकता और भविष्यहीनता की वकालत करते हुए आख्यान की संभावना को अस्वीकार करते हैं और मुक्ति के आख्यान की संभावना तक को नकारते हैं, लेकिन उपन्यासकार आज भी समकालीन जीवन की असंगतियों और यातनाओं से मुक्ति की आकांक्षा का आख्यान उपन्यासों के रूप में रच रहे हैं। यूटोपिया और उपन्यास अनेक अर्थों में समानधर्मा हैं। दोनों में कल्पना की स्वतंत्रता और सृजनशीलता की अभिव्यक्ति होती है, इसलिए लंबे समय से उपन्यासकार यूटोपिया की रचना करते रहे हैं। अंग्रेजी में एडवर्ड बेलामी, विलियम मौरिस और एच. जी. वेल्स ने उपन्यास के रूप में अत्यंत महत्त्वपूर्ण यूटोपिया की रचना की है। हिन्दी में राहुल सांकृत्यासन का 'बाईसवीं सदी' एक यूटोपिया ही है। बीसवीं सदी में मानव-समाज के अनेक सपनों के विकृत होने के कारण एंटी यूटोपिया की दृष्टि से भी कुछ उपन्यास लिखे गए हैं, जिनमें जार्ज आरवेल का '1984' और हक्सले का 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास का जन्म यूरोप में उस समय हुआ जब यूरोप के अनेक देश उपनिवेश बनाने के अभियान में लगे थे। उस उपनिवेशवादी अभियान के प्रमाण और प्रभाव स्पेन और इंग्लैंड के उपन्यासों में दिखाई देते हैं, जिनका विश्लेषण एडवर्ड सर्द ने 'कल्चर एंड इंपेरियलिज्म' नामक किताब में किया है। 'राबिन्सन क्रूसो' जैसे उपन्यास उपनिवेशवाद के रूपक प्रतीत होते हैं। बाद में डिकेन्स और जेन आस्टीन के उपन्यासों में भी उपनिवेशवाद की छाया मौजूद है। किप्लिंग के 'किम' और फॉस्टर के 'ए पैसेज टू इंडिया' में इस प्रवृत्ति का विस्तार दिखाई देता है। मिलान कुंदेरा ने लिखा है कि उपन्यास सबसे अधिक यूरोपीय कला है, वह यूरोपीय आधुनिकता की देन है और उसका प्रतीक भी। लेकिन यह भी सच है कि यूरोप ने एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के जिन देशों को अपना उपनिवेश बनाया उन देशों के सजग और सचेत उपन्यास लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से राष्ट्र की कल्पना को मूर्तिमान करने और राष्ट्रीय चेतना जगाने के लिए उपन्यास को उपनिवेशवाद विरोधी बनाया और स्वेदशी भी। एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका में उपन्यास से अपने पाठकों के मानस को उपनिवेशवादी सम्मोहक प्रभावों से मुक्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। फैनन ने पराधीन देशों में चेतना के विकास की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए उसकी चार अवस्थाओं की चर्चा की है। पहली अवस्था में अनेक लेखकों ने पश्चिमी प्रभाव को अपनी रचनाओं में आत्मसात् किया, दूसरी में उसकी स्मृति से स्वेदशी स्मृतियों की टकराहट हुई, तीसरी अवस्था में पश्चिमी प्रभाव का विरोध विकसित हुआ और चौथी अवस्था में जुझारू चेतना विकसित हुई। वैसे तो एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के उपन्यास के इतिहास में चेतना की इन चारों अवस्थाओं को खोजा और पाया जा सकता है, लेकिन चेतना की इस विकास-प्रक्रिया को ध्यान में रखकर भारतीय उपन्यास का इतिहास लिखा जाना अभी बाकी है।

भारत में उपन्यास का उदय तब हुआ जब वह पराधीन था। अंग्रेजी राज भारतीयों को असभ्य और असंस्कृत मानता था, इसलिए वह अपने यहाँ के घटिया साहित्य को भारत में खपाने की कोशिश करता था। परिणाम यह हुआ कि भारत की विभिन्न भाषाओं में आरंभ में अंग्रेजी के रहस्य-रोमांच, जासूसी और सतही यथार्थवाद के उपन्यासों की भरमार थी। बांग्ला, हिन्दी, गुजराती और मराठी में रोनाल्ड्स के 'लंदन रहस्य' के अनुवादों की धूम मची हुई थी। काशीनाथ विश्वनाथ राजवाड़े ने उपन्यास पर सन् 1902 में लिखे अपने प्रसिद्ध निबंध में लिखा



है कि “भारतीय यथार्थवादी उपन्यासों का मूल स्रोत ही विदेशी नहीं है, बल्कि नमूने के तौर पर जिन उपन्यासों को चुना गया, वे भी वहाँ के सामान्य स्तर के उपन्यास ही रहे हैं। अंग्रेजी के उपन्यासकारों में हीन स्तर के रोनाल्ड्स के घटिया उपन्यासों का आस्वादन करने वाले माई के लाल अपने यहाँ अधिक हैं। बहुत हुआ तो कुछ लेखकों ने रोनाल्ड्स से परे छलांग लगाई और मुश्किल से पहुँचे तो मिसेज हेनरीवुड, लार्ड रीटन जैसे सामान्य लेखकों तक ही।” ऐसे में यह स्वाभाविक ही था कि आरंभिक दौर में भारतीय उपन्यास का स्तर बहुत ऊँचा न हो। ‘लंदन रहस्य’ के अनुकरण में लिखे गए रहस्य-रोमांस और जासूसी के उपन्यास ही शुरू में अधिक लोकप्रिय हुए।

भारतीय उपन्यास वास्तव में तब आरंभ हुआ जब वह मुक्ति के आख्यान के रूप में विकसित होने लगा। बांग्ला में बंकिमचंद्र ने ऐतिहासिक रोमांस के माध्यम से राष्ट्र की कल्पना, राष्ट्रीय चेतना की सजगता और स्वाधीनता की आकांक्षा को व्यक्त करते हुए उपन्यास को मुक्ति का आख्यान बनाया। हिन्दी में आरंभ में उपन्यास सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति की आकांक्षा के रूप में विकसित हुआ, लेकिन उसे सामाजिक के साथ-साथ राजनीतिक स्वाधीनता का आख्यान बनाया प्रेमचंद ने। उनके उपन्यासों में किसान-जीवन के चित्रण के साथ ही हिन्दी उपन्यास का स्वतंत्र स्वरूप विकसित हुआ और वह स्वाधीनता आंदोलन से जुड़ा। किसान-जीवन से जुड़कर ही भारतीय उपन्यास की सच्ची भारतीयता विकसित हुई और उपन्यास भारतीय जीवन के आख्यान का प्रतिनिधि साहित्य-रूप बना। किसान भारतीय समाज का मेरुदंड था, भारतीय चेतना का मूर्त-रूप भी और औपनिवेशिक व्यवस्था का सर्वाधिक शोषित और पीड़ित समुदाय भी था। उस समय भारतीय किसान एक ओर साम्राज्यवादी शोषण का शिकार था तो दूसरी ओर देशी सामंती लूट का भी। किसान-जीवन से उपन्यास के जुड़ने का अर्थ था भारतीय समाज की समग्रता के केंद्र से जुड़कर उसकी इतिहास-प्रक्रिया में क्रियाशील विभिन्न शक्तियों के संबंधों को पहचानना। उस समय किसान-जीवन से जुड़कर ही साम्राज्यवाद और सामंतवाद के गठजोड़ को भी समझना संभव था। यही कारण है कि उपन्यास के केंद्र में जब किसान-जीवन आया तभी उपन्यास राष्ट्रीय भावना और जनचेतना का अभिव्यंजक बना। भारतीय उपन्यास में जब किसान आया तो अपने साथ वह अपने जीवनानुभव, अपनी संस्कृति, अपनी भाषाएँ और कथन भंगिमाएँ भी लेकर आया, जिससे उपन्यास का नया यथार्थवादी स्वरूप विकसित हुआ और उपन्यास जनजीवन के इतिहास का आख्यान बना।

प्रेमचंद के कथा-लेखन का लक्ष्य थास्वराज्य। उन्होंने सन् 1930 ई. में बनारसीदास चतुर्वेदी को एक पत्र में लिखा था “मेरी आकांक्षाएँ कुछ नहीं हैं। इस समय सबसे बड़ी आकांक्षा यही है कि हम स्वराज्य-संग्राम में विजयी हों। यह जरूर चाहता हूँ कि दो-चार उच्च कोटि की पुस्तकें लिखूँ, पर उनका उद्देश्य भी स्वराज्य-प्राप्ति ही हो।” इसी उद्देश्य की पूर्ति का माध्यम प्रेमचंद ने उपन्यास को बनाया। उनके सामने स्वराज्य की कई कल्पनाएँ थीं। एक ओर गाँधी का ‘हिंद स्वराज’ था तो दूसरी ओर कुछ लोगों का हिंदू स्वराज भी था। प्रेमचंद की स्वराज की धारणा इन दोनों से अलग थी। वे देश की राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ भारतीय समाज में व्याप्त सांस्कृतिक और सामाजिक पराधीनताओं से भी जनता की मुक्ति चाहते थे। वे उपनिवेशवाद से ही नहीं, देशी सामंतवाद और उभरते हुए पूँजीवाद के शोषण से आम जनता को बचाना चाहते थे। साथ ही वे संकीर्ण राष्ट्रवाद और भारतीय समाज में फैली जाति-व्यवस्था से मुक्ति में जनता का स्वराज्य देखते थे। वे अमीरों का नहीं, गरीबी का स्वराज्य चाहते थे। वे किसानों, मजदूरों, दलितों, स्त्रियों और अन्य शोषित समुदायों की स्वतंत्रता लाने वाला स्वराज्य

चाहते थे। प्रेमचंद के उपन्यास सभी प्रकार की पराधीनताओं से मुक्ति के आख्यान के रूप में रचे गए हैं।

प्रेमचंद के कथा-साहित्य में किसान-मजदूर, दलित और स्त्रियाँ आदि प्रायः यह प्रश्न पूछते हैं कि अगर देश आजाद होगा तो किसकी कल्पना, आकांक्षा और स्वप्नों का स्वराज्य आएगा। 'गबन' उपन्यास में देवीदीन खटिक एक सुराजी नेता से यह पूछता है "साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, उसका कौन-सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे; तुम भी अंग्रेजों की तरह बंगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाट बनाए घूमोगे; इस सुराज से देश का क्या कल्याण होगा। तुम्हारी और तुम्हारे भाई-बंदों की जिंदगी भले आराम और ठाट से गुजरे, पर देश का तो कोई भला न होगा।" देवीदीन के इस कथन पर ध्यान दीजिए तो प्रेमचंद एक भविष्यद्रष्टा कथाकार के रूप में आपके सामने आएंगे। देवीदीन के प्रश्न और आशंका का उत्तर आज देश का शासक वर्ग अपने आचरण से दे रहा है। प्रेमचंद के लिए स्वराज्य का अर्थ केवल सत्ता का हस्तांतरण नहीं था। उनकी 'आहुति' नाम की कहानी की नायिका कहती है कि "मेरे लिए स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविंद बैठ जाए।" प्रेमचंद ऐसा स्वराज्य चाहते थे, जिसमें विषमता के लिए जगह न हो।

प्रेमचंद की कथा-दृष्टि की विशिष्टता को समझने के लिए उनके उपन्यास 'कर्मभूमि' के मुन्नी-प्रसंग को ध्यान से पढ़ना जरूरी है। मुन्नी के साथ एक अंग्रेज बलात्कार करता है। बलात्कारी अंग्रेज की रक्षा के लिए दो अंग्रेजी फौजी भी मौजूद हैं, जिनसे अमरकांत और सलीम की लड़ाई होती है। बलात्कार के बाद मुन्नी अपने घर नहीं जाती है, क्योंकि उसकी ऊँची जाति वाले लोग उसे स्वीकार नहीं करते। मुन्नी को चमारों के गाँव में आश्रय मिलता है। वहाँ उसे अपूर्व सुख और स्वतंत्रता भी मिलती है। प्रेमचंद मुन्नी-प्रसंग के माध्यम से एक साथ अनेक काम करते हैं। उपनिवेशवादी विमर्श में भारतीय मनुष्य को प्रायः असभ्य और बर्बर कहा जाता था। सन् 1857 के महात्रिदोह के बाद अंग्रेजी राज ने विभिन्न यात्रा-वर्णनों, संस्मरणों, उपन्यासों और सरकारी रिपोर्टों के माध्यम से यह प्रचारित-प्रसारित किया था कि भारतीय सिपाहियों ने विद्रोह के दौरान अंग्रेज स्त्रियों के साथ बलात्कार किया। यह एक प्रकार से अंग्रेजी राज को अधिक खूंखार और दमनकारी बनाने का बहाना भी था तो दूसरी ओर भारतीयों को सभ्य बनाने का ढोंग भी। मुन्नी-प्रसंग के माध्यम से प्रेमचंद ने एक तो अंग्रेजों के इस दुष्प्रचार का उत्तर दिया और यह बताया कि भारतीय स्त्रियों के साथ सत्ता के नशे में डूबे अंग्रेज बलात्कार करते थे। बलात्कारियों से संघर्ष के माध्यम से प्रेमचंद यह भी संकेत करना चाहते थे कि भारतीय जनता अंग्रेजी राज के जुल्म और अत्याचार को चुपचाप सहन करने की मनो-दशा में नहीं थी। स्वयं मुन्नी एक दिन दो फौजियों को मार डालती है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि प्रेमचंद अत्याचार को चुपचाप सहने और अत्याचारी के हृदय-परिवर्तन की प्रतीक्षा करने की भावना से मुक्त हो चुके थे। इस प्रसंग के माध्यम से प्रेमचंद ऊँची जातियों की हृदयहीनता और पवित्रता के ढोंग का भी पर्दाफाश करते हैं। अपनी जाति में अस्वीकृत होने का जो संदेह मुन्नी के मन में था, वह सन् 1947 के दंगों के दौरान बलात्कार की शिकार हिंदू स्त्रियों के साथ ऊँची जातियों के व्यवहार से बड़े पैमाने पर सिद्ध हुआ। प्रेमचंद यह भी दिखाते हैं कि जाति व्यवस्था में नीचे समझे जाने वाले दलित समुदाय में सहृदयता और स्वतंत्रता अधिक होती है। इस तरह प्रेमचंद एक साथ मुन्नी-प्रसंग के माध्यम से एक ऐसा आख्यान रचते हैं जो साम्राज्यवाद विरोधी तो है ही, सामंती रूढ़ियों, मान्यताओं और पूर्वग्रहों का भी प्रभावशाली खंडन करता है।

प्रेमचंद अपने उपन्यासों के माध्यम से लोकतंत्र की संभावनाओं की तलाश का आख्यान रचते हैं। उनके सामने जो स्वाधीनता-आंदोलन था, उसके साथ होते हुए भी वे उससे न तो पूरी तरह सहमत थे और न संतुष्ट। उनकी आस्था अमीरों के आंदोलन से अधिक जनता की शक्ति में थी। उनकी दृष्टि जितनी स्वाधीनता-आंदोलन पर थी उससे अधिक जनजीवन की समस्याओं और उन समस्याओं से जुड़े छोटे-बड़े आंदोलनों पर रहती थी, इसीलिए उनके उपन्यासों में किसानों, मजदूरों, स्त्रियों और दलितों के जीवन की वास्तविकताओं और उनसे जुड़े आंदोलनों के चित्र अधिक प्रभावशाली हैं। फ्रैंज फैनन ने लिखा है कि “अगर साम्राज्यवाद विरोध संघर्ष के समय राष्ट्रीय चेतना को सामाजिक चेतना नहीं बनाया जाता तो भविष्य मुक्ति का नहीं, उपनिवेशवाद के बदले हुए रूप का होगा। इसलिए राष्ट्रीय चेतना को सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकताओं में रूपांतरित करते हुए उसे अधिक व्यापक और गहरा अर्थात् वास्तविक रूप में मानवीय बनाना जरूरी है। यही वास्तविक लोकतांत्रिक दृष्टि की माँग भी है। प्रेमचंद ने ऐसा ही प्रयत्न अपने उपन्यासों के माध्यम से किया है। इसीलिए उनके उपन्यासों में एक ओर संकीर्ण राष्ट्रवाद की आलोचना है तो दूसरी ओर उसके साथ ही जनता की मुक्ति-चेतना के विकास का समर्थन भी।

जब से पश्चिम में उत्तर-आधुनिकतावाद का शोर बढ़ा है और वह हिन्दी में अफवाह की तरह आया है तब से आधुनिकता की आलोचना के साथ-साथ उपन्यास के अस्तित्व के बारे में भी तरह-तरह के प्रश्न खड़े किए जा रहे हैं। पश्चिम में भी आधुनिकता के मिथक की आलोचनाएँ हो रही हैं, लेकिन वहाँ उपन्यास-रचना की जरूरत को अस्वीकार नहीं किया जा रहा है, बल्कि अमेरिका में भेद-भाव की जिंदगी के शिकार नीग्रो समुदाय के लेखक आधुनिकता के मिथक के सम्मोहन से मुक्ति के एक मार्ग के रूप में उपन्यास के आख्यान को देख रहे हैं। वे उत्तर-आधुनिकतावाद का उपयोग आधुनिकता और आधुनिकतावादी रचना-दृष्टि की आलोचना के लिए करते हैं, उपन्यास की रचना के अंत की घोषणा के लिए नहीं। वे मानते हैं कि उत्तर आधुनिकतावाद पूँजीवादी के वर्तमान दौर की सांस्कृतिक परिणति है और उसकी विचारधारा भी। इसलिए वे उत्तर आधुनिकतावाद की विचारधारा की सीमाओं के बोध के साथ अपने समुदाय की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए उपन्यास के आख्यान का उपयोग कर रहे हैं। यद्यपि उत्तर आधुनिकतावादी कहते हैं कि अब मुक्ति के आख्यान का अंत हो गया है, लेकिन अमेरिका में रहने वाले अफ्रीकी लेखक अपने जीवन और रचनाशीलता में मुक्ति का आख्यान विकसित करते दिखाई देते हैं। उनके उपन्यास पूँजीवादी सभ्यता के भीतर पैदा होने वाले असंतोषों का आख्यान रचते हुए लोकतंत्र की संभावनाएँ खोजते हैं। ऐसे लेखकों में टोनी मोरीसन के अलावा ऑक्टैविया बट्लर, वाइडमैन, इस्माएल रीड आदि प्रमुख हैं।

यद्यपि अनेक उत्तर-आधुनिकतावादी यथार्थवाद का विरोध करते हैं, लेकिन उनमें से कुछ यथार्थ की चिंता को आवश्यक भी मानते हैं। लिंडा हांचेन ने लिखा है कि “उत्तर आधुनिकता अति यथार्थ के पीछे पागल होना नहीं है, बल्कि यथार्थ के अर्थ और उसके बोध की प्रक्रिया के बारे में प्रश्नाकुल होना है। ऐसा नहीं है कि अब पुनःप्रस्तुति ही प्रमुख है या सामाजिक संदर्भ का कोई अर्थ नहीं है, बल्कि उत्तर-आधुनिकतावाद यथार्थ की पुनःप्रस्तुति को पुनःप्रस्तुति के रूप में स्वीकार करने की सजगता है। इसका अर्थ यह है कि उत्तर-आधुनिकता के अनुसार यथार्थ की व्याख्या और रचना महत्त्वपूर्ण है, न कि यथार्थ का प्रत्यक्ष और तात्कालिक ज्ञान।” इस कथन को ध्यान में रखें तो उपन्यास में यथार्थवाद के नए रूपों के विकास की संभावना

बनती है, उसके विनाश की नहीं। उत्तर-आधुनिकतावादी दृष्टि का उपयोग करते हुए भी बट्लर जैसे उपन्यासकार अपनी रचना में सच कहने के लक्ष्य पर जोर देते हैं। सच कहने की यह प्रवृत्ति व्यापक अर्थ में राजनीतिक प्रभाव भी पैदा करती है। अमेरिका के अनेक काले लेखक लिंग और जाति के साथ-साथ वर्ग के महत्त्व की भी पहचान कर रहे हैं और इस प्रक्रिया में वे नस्ल से संबंधित अनुभवों की जटिलता की अभिव्यक्ति कर रहे हैं। वे यह जानते हैं कि नस्ल की तरह वर्ग-विभाजन भी दमन को प्रेरित करता है और वर्गीय चेतना दमन के विरुद्ध संगठित होने में मदद भी करती है। यद्यपि कुछ लेखक वर्ग की धारणा पर जोर देने को काले समुदाय की अस्मिता बोध में बाधक मानते हैं, लेकिन कुछ दूसरे लेखक यह जानते हैं कि काले समुदाय में भी कुछ अमीर हैं तो कुछ गरीब और मजदूर भी। इन दोनों की वर्गीय स्थितियों में फर्क के कारण दमन और भेद की स्थितियों में भी फर्क होता है। आंद्रिया ली के उपन्यास 'साराह फिलीप्स' में नस्ल और वर्ग की जटिल स्थितियों से उत्पन्न समस्याओं का प्रभावशाली चित्रण है। ऐसे चित्रणों से उपन्यास और लोकतंत्र के संबंधों की सूक्ष्मताएँ सामने आती हैं। यह एक विडंबनापूर्ण स्थिति है कि उत्तर-आधुनिकतावादी विचारक यथार्थ और यथार्थवाद दोनों के अंत की घोषणा कर रहे हैं, जबकि उपन्यास लेखक दोनों से अपने संबंध की बात कर रहे हैं। डेविड लॉज एक महत्त्वपूर्ण आलोचक हैं और उपन्यासकार भी। उन्होंने लिखा है कि मेरे उपन्यासों ने यथार्थ से कभी छुट्टी नहीं ली, उसमें वास्तविक जगत की सार्थक पुनःप्रस्तुति है और अगर मेरे पाठक मेरे उपन्यास पढ़ते समय वास्तविक संसार की कुछ सचाइयों की पहचान नहीं करेंगे तो मैं खुद को असफल उपन्यासकार मानूँगा।

आजकल आलोचना की एक दृष्टि स्वयं को उत्तर-औपनिवेशिकतावादी कहती है। इस दृष्टि से ऐसे आलोचक जुड़े हुए हैं, जो अनिवासी या प्रवासी भारतीय बुद्धिजीवी हैं। वे उपनिवेशवाद से मुक्त हुए देशों के साहित्य को उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य कहते हैं। यद्यपि ऐसे आलोचक भूमंडलीकरण के माध्यम से नए प्रकार के उपनिवेशवाद के फैलाव को नहीं देखते और एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिण अमेरिका के साहित्य में पैदा होने वाले नए प्रकार के औपनिवेशिक प्रभावों को भी स्वीकार नहीं करते। फिर भी वे उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य में उत्तर-आधुनिकतावाद की छाप और छाया की खोज जरूर करते हैं। अगर यह पूछा जाए कि उत्तर-औपनिवेशिक साहित्य की केंद्रीय विधा क्या है तो यह कहा जा सकता है कि वह उपन्यास ही है। उपन्यास ने उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद समाज में स्वतंत्रता और लोकतंत्र के लिए संघर्ष को सामने लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका के अनेक देशों में उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद की शासन-व्यवस्थाएँ ऐसी रही हैं, जिन्हें आंतरिक उपनिवेशवाद कहना अधिक सही होगा। ऐसी व्यवस्थाओं के सच को सामने लाने वाले उपन्यासों को उत्तर-औपनिवेशिक कहने के बदले उपनिवेशवाद विरोधी कहना ज्यादा सही होगा। उपनिवेशवाद से स्वतंत्र हुए देशों के जिन लेखकों ने अपने देश के शासकों के अत्याचारों और जनता की बदहाली का चित्रण अपने उपन्यासों में किया है उनका स्वदेशी शासकों ने तरह-तरह से दमन भी किया है। ऐसे ही सऊदी अरब के एक लेखक हैं अब्दुल रहमान मुनीफ। उन्होंने 'सिटीज ऑफ साल्ट' नामक उपन्यास माला में एक ओर साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा अपने देश की लूट और तबाही का चित्रण किया है तो दूसरी ओर अपने देश के शासकों के लोकतंत्र विरोधी और दलाल चरित्र का भी पर्दाफाश किया है। इसीलिए उन्हें देश से बाहर निकाल दिया गया। वे यह मानते हैं कि उपन्यास अपने समाज का ऐसा पाठ प्रस्तुत करता है जो राजनीतिक इतिहास या फिर सरकारी इतिहास से अधिक सच्चा और महत्त्वपूर्ण हो सकता है। यही काम उन्होंने

अपने उपन्यासों के माध्यम से किया भी है। उनके उपन्यासों में अरब के विभिन्न देशों में व्याप्त सामंती प्रवृत्तियों और धार्मिक कट्टरताओं की खरी आलोचना है। ऐसे ही एक दूसरे उपन्यासकार हैं इंडोनेशिया में प्रमोद्य अनंत तोयर, जिन्हें 'द' फ्यूजिटिव' नामक उपन्यास लिखने के कारण 1965 में स्थापित सैनिक सत्ता ने कैद किया और बाहर वर्षों तक जेल में रखा। उनके परवर्ती उपन्यासों में सुहार्तो की तानाशाही की बर्बरता का ऐसा चित्रण है जिसे इंडोनेशिया के सैनिक शासक पचा नहीं पाए। उनके अनेक उपन्यासों पर इंडोनेशिया में पाबंदी लगा दी गई थी। उनके उपन्यास यह सवाल पूछते हैं कि क्या सुहार्तो का शासन उपनिवेशवादी शासन का ही विस्तार नहीं है। यह सचाई है कि आजादी के बाद इंडोनेशिया की सैनिक सत्ता ने जैसा अत्यचार और हत्याकांड किया वैसा उपनिवेश के समय भी नहीं हुआ था। दक्षिण अमेरिका में भी ऐसे उपन्यास लिखे गए हैं जिनमें स्पेन के उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद के तानाशाह शासकों की बर्बरता का चित्रण है। इन सबसे यह जाहिर है कि उपन्यास ने सोचने और कल्पना करने की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हुए विभिन्न देशों में लोकतांत्रिक आकांक्षाओं को जगाए रखने और उनके लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी है।

उपनिवेशवाद से मुक्त हुए सभी देशों में उपन्यास का विकास एक जैसा नहीं हुआ है। अफ्रीका में लोकतंत्र और स्वदेशी उपन्यास के विकास के सामने एक बड़ी समस्या विदेशी भाषाओं के प्रभुत्व से मुक्ति की है। उपनिवेशवाद के काल से ही अफ्रीका के विभिन्न देशों में यूरोप की तीन भाषाओं का प्रभुत्व बना हुआ है। ये भाषाएँ हैं अंग्रेजी, फ्रांसीसी और पुर्तगाली। इन भाषाओं को अफ्रीका के स्वदेशी शासक वर्ग ने अपनाकर इन्हें शासन, शिक्षा, संस्कृति और साहित्य का माध्यम बना रखा है। यूरोप की इन भाषाओं के प्रभुत्व के खिलाफ अफ्रीकी भाषाओं के लेखक संघर्ष कर रहे हैं। केन्या के लेखक न्युंगी वा थिआंगो ने लिखा है कि अपने प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश से वास्तविक संबंध बनाने और विश्व में अपनी पहचान पाने के लिए भाषा का चुनाव और उसके प्रयोग की स्वतंत्रता अनिवार्य है। इसीलिए 20वीं सदी के अफ्रीका में परस्पर विरोधी सामाजिक शक्तियों के बीच संघर्ष का केंद्रीय मुद्दा भाषा बनी हुई है। न्युंगी पहले अंग्रेजी में लिखते थे और अंग्रेजी के लेखक रूप में उन्हें अच्छी ख्याति भी मिली, लेकिन अब उन्होंने अंग्रेजी में लिखना छोड़कर केन्या की एक भाषा गोक्यु में लिखना आरंभ किया है। गोक्यु में लिखा उनका उपन्यास 'माँ मेरे लिए गा' बहुत चर्चित हुआ है। न्युंगी कहते हैं कि "केन्या की एक भाषा गोक्यु में लिखने का मेरा संकल्प केन्या और पूरे अफ्रीका की जनता के साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है। केन्या के स्कूलों और विश्वविद्यालयों में केन्या की भाषाओं को हेय माना जाता है। उनको पिछड़ेपन का प्रतीक समझा जाता है। मैं यह नहीं चाहता कि केन्या के बच्चे साम्राज्यवादी विरासत के प्रभुत्व के कारण केन्या के जनजीवन और इतिहास का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषाओं से घृणा करें।" अफ्रीका के एक दूसरे उपन्यासकार सेंबेन ओस्मन ने एक साक्षात्कार में कहा है कि "1960 में हमने सोचा था कि अफ्रीका में आजादी के साथ स्वर्ग आ जाएगा। अब हम जानते हैं कि गोरे गए लेकिन उनकी जगह आज जो सत्ता में आए हैं, वे गोरों के ही काले प्रतिनिधि हैं। यह शासक वर्ग साम्राज्यवाद का दलाल है। इसकी करतूतों की निंदा का साहस हममें होना चाहिए।" ओस्मन के कथन से स्पष्ट है कि अफ्रीका में उपन्यास लेखन केवल बैठे ठाले का काम नहीं है और न वह आत्ममुग्ध बुद्धिजीवियों की नितांत निजी कला-साधना का माध्यम है। व्यापक जनजीवन से गहरी संबद्धता के साथ उपन्यास अफ्रीकी जनता के इतिहास-निर्माण के प्रयत्न का साक्षी है।

एशिया और अफ्रीका की तरह दक्षिण अमेरिका में भी उपन्यास उपनिवेशवाद से मुक्ति के बाद विभिन्न देशों की जनता की लोकतांत्रिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का साधन बना है और उन आकांक्षाओं के दमन का साक्षी भी।

सन् 1950 से सन् 1970 के बीच दक्षिण अमेरिका के विभिन्न देशों में ऐसे उपन्यासों की रचना हुई है जिनसे दुनिया में उपन्यास का नक्शा ही बदल गया है। दक्षिण अमेरिका में नए ढंग के उपन्यासों का आरंभ कार्पेतियर के उपन्यास 'इस दुनिया की बादशाहत, (सन् 1949) से हुआ। उसके बाद सन् 1960 तक जॉर्ज आमदों (ब्राजील), मार्खेज (कोलंबिया), जोसमेरिया अर्गुदस (पेरू), जुआन रूफो (मेक्सिको), कार्लोस फोएत (मेक्सिको), राब बस्तोब (पेरागुए) आदि के महत्वपूर्ण उपन्यास सामने आए, जिनसे दक्षिण अमेरिका के उपन्यासों पर विचार की नई प्रक्रिया शुरू हुई और उन उपन्यासों को जादुई यथार्थवाद के उपन्यास कहा गया। दक्षिण अमेरिका में विकसित उपन्यासों के सामाजिक, राजनीतिक आधार को समझने के लिए दो उपन्यासों पर ध्यान देना जरूरी है। उनमें से एक है मार्खेज का 'सौ वर्षों का एकांत' और दूसरी है ईसाबेल अलेंदे का 'भूतों का घर'। पहले उपन्यास का नाम दक्षिण अमेरिका के विभिन्न समाजों और संस्कृतियों के इतिहास की विडंबनाओं और त्रासदियों की ओर संकेत करता है। दूसरे उपन्यास की लेखिका चिली की हैं; जहाँ राष्ट्रपति अलेंदे, उनकी सरकार और जनतंत्र की हत्या करके जो बर्बर तानाशाह सामने आया उसने पूरे देश को भूतों का भयानक घर बना दिया। दोनों उपन्यासों में स्थानीयता के साथ-साथ समूचे दक्षिण अमेरिका के इतिहास और वर्तमान का सजीव और साकार रूप चित्रित है। इन दोनों उपन्यासों से यह भी स्पष्ट है कि दक्षिण अमेरिका में उपन्यास कोई मनोरंजन कला नहीं है, वह इतिहास-निर्माण का प्रेरणास्रोत है और इतिहास-प्रक्रिया में सहभागी भी।

दक्षिण अमेरिका के अधिकांश देशों में कहीं सैनिक तानाशाही है तो कहीं असेनिक तानाशाही। लेखकों, बुद्धिजीवियों और पत्रकारों का दमन आम बात है। हमेशा के लिए इस दुनिया से लेखकों और पत्रकारों के गायब होने की घटनाएँ रोज-रोज घटती रहती हैं। ऐसी स्थितियों को उपन्यास में व्यक्त करने के लिए लेखक फैंटेसी की मदद लेते हैं। भारत में भी आपातकाल के बाद लेखक यूटोपिया और फैंटेसी की ओर मुड़े थे। जातक, पंचतंत्र और हितोपदेश की रचना-पद्धतियाँ आपातकाल में रचनाकारों के काम आई थीं। दक्षिण अमेरिका के उपन्यासों में यूटोपिया, फैंटेसी और मिथकों के प्रयोग का एक कारण वहाँ की राजनीतिक परिस्थितियाँ भी हैं। दक्षिण अमेरिका की जनता ऐसी सत्ताओं का सामना करती रही है, जो यथार्थ को भ्रम और भ्रम को यथार्थ बनाने की कोशिश करती हैं। ऐसी स्थिति में जो सच होता है वह दिखाई नहीं देता और जो दिखाई देता है वह सच नहीं होता। जनता की चेतना, स्मृति और अनुभव से सचाई को दूर रखने के लिए तरह-तरह के छल-प्रपंचों का जाल फैलाया जाता है। दक्षिण अमेरिका के उपन्यासकारों ने इन स्थितियों की जटिलता और भ्रामकता को मूल रूप में व्यक्त करने के लिए प्रायः भूलभुलैया के रूपकों और बिंबों का प्रयोग किया है। ये सारे प्रयोग उपन्यास को जनता की लोकतांत्रिक आकांक्षा से जोड़ते हैं और उन आकांक्षाओं के लिए संघर्ष की राह की कठिनाइयों से भी परिचित कराते हैं।

उपन्यास और लोकतंत्र के संबंध पर विचार करते समय यह बात ध्यान में रखना जरूरी है कि लोकतंत्र केवल एक राजनीतिक व्यवस्था और शासन-पद्धति ही नहीं है, वह एक ऐसी मानसिकता भी है जो सहिष्णुता की संस्कृति, दूसरों का सम्मान, दूसरों के अंतर्गत का स्वीकार, विचारों की अनेकता का आदर, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और संवाद की तत्परता विकसित

करती है। लोकतंत्र की ये विशेषताएँ उपन्यास के स्वभाव और संरचना में निहित होती हैं और उपन्यास ऐसी ही मानसिकता का निर्माण भी करता है। वह व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ-साथ समाज के हित को भी ध्यान में रखता है, जो लोकतंत्र का भी अनिवार्य गुण है। उपन्यास मनुष्य की गरिमा और उसकी स्वतंत्रता की रक्षा का प्रयत्न करते हुए ही व्यक्ति को सामाजिक और समाज को मानवीय बनाने में सफल हुआ है। उपन्यास अपने पाठकों को दूसरों के अनुभवों का साक्षी ही नहीं, साझीदार भी बनाता है और इस प्रक्रिया से वह मानवीय चेतना का विस्तार करता है। लोकतंत्र में अनेकता, अनेकरूपता, विविधता और बहुवचनता का स्वीकार होता है, जो उपन्यास की संरचना की भी बुनियादी विशेषताएँ हैं। अंतरों और अंतर्विरोधी के अस्तित्वों का ज्ञान और उनकी अर्थवत्ताओं की पहचान के बिना न उपन्यास की रचना संभव है, न लोकतंत्र का व्यवहार। समाज में लोकतंत्र होने और बने रहने के लिए समता का होना जरूरी है। समता का बोध, उसकी चेतना तथा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्तरों पर समता की उपस्थिति लोकतंत्र के अस्तित्व के लिए जरूरी है। साथ ही समता के विरुद्ध क्रियाशील प्रवृत्तियों, परंपराओं और स्थितियों का बोध भी लोकतंत्र की रक्षा के लिए आवश्यक है। उपन्यास ने, विशेषरूप से हिन्दी उपन्यास ने अपने जन्मकाल से ही समाज में विषमता की वास्तविकताओं से पाठकों को परिचित कराने और समता की चेतना जगाने का काम किया है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि उपन्यास ने लोकतंत्र के शत्रुओं की पहचान करने और कराने में पाठकों की मदद की है।

मानव समाज के इतिहास में जो विषमता सबसे अधिक लंबी, गहरी, स्थाई और अमानवीय है वह पुरुष और स्त्री के बीच की विषमता है। मातृसत्तात्मक व्यवस्था से पितृसत्तात्मक व्यवस्था में मानव-समाज का प्रवेश पुरुषों के लिए सभ्यता का इतिहास है तो स्त्रियों के लिए बर्बरता का। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री की पराधीनता की शृंखला की कड़ियाँ असंख्य हैं, जिनमें से कुछ दृश्य हैं और कुछ अदृश्य भी। आधुनिक काल में स्त्री की पराधीनता का बोध समाज को हुआ और उस पराधीनता से मुक्ति की कोशिशें भी शुरू हुई हैं। स्त्री की पराधीनता मानव-समाज के विकास में एक बड़ी बाधा रही है, इसलिए जिन विचारकों ने समाज के विकास की चिंता की है उनमें से कुछ ने स्त्री की स्वतंत्रता की जरूरत पर भी जोर दिया है। लेकिन स्त्री की स्वाधीनता का संघर्ष वास्तविक रूप में तब शुरू हुआ जब स्वयं स्त्रियों को अपनी पराधीनता का बोध हुआ और उससे मुक्ति की चिंता और चेतना जगी। उपन्यास ने अपने उदयकाल से ही स्त्री की पराधीनता के बोध और स्वतंत्रता की आवश्यकता की ओर संकेत किया है। फ्रांस की क्रांतिकारी महिला मादाम स्तेल ने आज से दो सौ वर्ष पहले यह कहा था कि समाज में नारी की स्थिति से उपन्यास का गहरा संबंध है। उन्होंने यह भी लिखा है कि जिन समाजों में स्त्रियों की स्थिति सम्मानजनक होगी और स्त्री-पुरुष संबंधों में समाज की गहरी रुचि होगी वहीं उपन्यास का विकास होगा। वैसे तो पुराने जमाने की स्त्रियों की कविता में भी जहाँ-तहाँ पराधीनता के बोध और स्वाधीनता की आकांक्षा व्यक्त हुई है, लेकिन उपन्यास के साथ ही जीवन की सम्पूर्णता के भीतर स्त्री की गुलामी का चित्रण दिखाई देता है और स्वाधीनता के लिए उसका संघर्ष भी। आधुनिक काल में जिन लेखिकाओं के उपन्यासों में स्त्रियों के संघर्ष की अत्यंत सार्थक अभिव्यक्ति हुई है उनमें वर्जीनिया वुल्फ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'ए रूम ऑफ वन्स ओन' में उपन्यास से स्त्री के संबंध पर विस्तार से विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि "उपन्यास का वास्तविक जीवन से संवाद होता है इसलिए इसके मूल्य भी कुछ हद तक वास्तविक जीवन के मूल्य होते हैं। लेकिन यह

स्पष्ट है कि औरतों के मूल्य मर्दाने द्वारा निर्मित मूल्यों से अक्सर भिन्न होते हैं।” इसलिए यह बहुत स्वाभाविक है कि पुरुषों द्वारा लिखे उपन्यासों में स्त्रियाँ जिस रूप में आती हैं उसी रूप में वे स्त्रियों द्वारा लिखित उपन्यासों में नहीं हो सकतीं। वर्जिनिया वुल्फ के अनुसार चरित्रों की कल्पना ही नहीं बल्कि उपन्यास की भाषा में भी स्त्री-पुरुष का फर्क दिखाई देता है। उन्होंने उपन्यास में मर्दाना वाक्य की जगह स्त्री वाक्य की रचना पर जोर दिया था। उपन्यास और स्त्री के बीच सहज संबंध की चर्चा करते हुए वर्जिनिया वुल्फ ने लिखा है कि “जब औरत लेखक बनी तब साहित्य के सभी पुराने रूप कठोर और स्थिर हो चुके थे। केवल उपन्यास ही इतना युवा था कि औरत लायक लचीलापन उसमें थाशायद यह भी एक वजह है जिसके चलते उसने उपन्यास लिखे।”

हिन्दी में उपन्यास का उदय ही समाज में स्त्री की स्थिति के बोध के साथ हुआ था। आरंभ के अधिकांश उपन्यास स्त्री केंद्रित उपन्यास ही थे। चाहे गौरीदत्त का ‘देवरानी-जेठानी की कहानी’ हो या ईश्वरी प्रसाद और कल्याण राय का ‘वामाशिक्षक’ या श्रद्धाराम फिल्लौरी का ‘भाग्यवती’, इन सभी उपन्यासों में भारतीय समाज में स्त्री की दुर्दशा का चित्रण है और स्त्रियों की दशा सुधारने की चिंता भी। जाहिर है इन उपन्यासों में पुरुष-दृष्टि से स्त्री के वर्तमान और भविष्य को देखा गया है। इस दौर के उपन्यासों में सन् 1889 में लिखा गया किशोरी लाल गोस्वामी का उपन्यास ‘कुसुमकुमारी’ ही ऐसा है जिसमें समाज-व्यवस्था और धर्म के भीतर स्त्री की पराधीनता और यातना का चित्रण ही नहीं उससे मुक्ति की चेतना भी है। यह हिन्दी का पहला उपन्यास है जिसमें वेश्या जीवन की त्रासदी को व्यक्त किया गया है और साथ ही देवदासी प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई गई है। इस उपन्यास में एक जगह कुसुमकुमारी कहती हैं कि “जिस प्रथा से व्यभिचार और वेश्यावृत्ति की दिन-दूनी और रात चौगुनी बढ़वार हुई जा रही है, उस प्रथा को धर्म का अंग माननायह कैसा विचार है?” उपन्यास ने प्रायः समाज के उन लोगों पर अधिक ध्यान दिया है जो मुख्यधारा से बहिष्कृत रहे हैं, लेकिन उसके शोषण का शिकार भी होते रहे हैं। ऐसे लोगों में वेश्याएँ भी आती हैं। किशोरीलाल गोस्वामी के ‘कुसुमकुमारी’ और मिर्जा हादी रुसवा के ‘उमरावजान’ से वेश्या जीवन की त्रासदी की जो आख्यान-परंपरा शुरू होती है, वह प्रेमचंद के ‘सेवासदन’ में विकसित होती दिखाई देती है। आरंभिक हिन्दी उपन्यासों में पहला स्त्री-स्वर मल्लिका के लिखित या अनूदित उपन्यासों में सुनाई देता है। उनके उपन्यासों में रूढ़िग्रस्त भारतीय समाज में स्त्री की यातना भरी जिंदगी की त्रासद कथा कही गई है।

हिन्दी उपन्यास की दुनिया में सचमुच लोकतंत्र तब आया जब स्त्री लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों में एक ओर पुरुष-सत्ता का विश्लेषण और चित्रण आरंभ किया और दूसरी ओर स्त्री के संघर्ष की कथा को उपन्यास के केंद्र में लाने का प्रयत्न किया। कृष्णा सोबती के उपन्यासों में स्त्री की दृष्टि से देखे गए भारतीय समाज और उसमें स्त्री-पुरुष के संबंधों के सच को अनेक रूपों में व्यक्त किया गया है। कृष्णा सोबती और मन्नू भंडारी यद्यपि स्त्रीवादी लेखिकाएँ नहीं हैं, फिर भी इनके लेखन में पुरुष के छल-छद्म की शिकार स्त्री की विडंबनापूर्ण स्थिति की अभिव्यक्ति है। मृदुला गर्ग ने कुछ अधिक साहस के साथ स्त्री-पुरुष संबंध के प्रसंग में स्त्री के अनुभव के ऐसे पक्षों को व्यक्त किया है, जो केवल एक स्त्री कर सकती है, कोई पुरुष नहीं। इस प्रक्रिया में उपन्यास के माध्यम से स्त्री ने अपनी स्वतंत्र पहचान बनाई है और अपनी रचनात्मक स्वतंत्रता को जीवन की स्वतंत्रता से जोड़ने का प्रयत्न किया है। मैत्रेयी पुष्पा के ‘इदन्मम’ और ‘चाक’ में स्त्री केवल एक व्यक्ति के रूप में ही नहीं, एक सामाजिक



शक्ति के रूप में भी सजग होती, अपनी पहचान खोजती, पुरुषों के पौरुष से संघर्ष करती और अपने लिए स्वतंत्र राह बनाती दिखाई देती है। हिन्दी उपन्यास में इन लेखिकाओं का रचनात्मक संघर्ष इनका सामाजिक और सांस्कृतिक संघर्ष तो है ही, राजनीतिक संघर्ष भी है। इन लेखिकाओं ने उपन्यास को पहले से अधिक मानवीय, सामाजिक और परिवर्तनकारी बनाते हुए साहित्य की दुनिया के लोकतंत्र को राजनीति के लोकतंत्र से जोड़ने की कोशिश की है। प्रायः दुनिया में स्त्रीवादी आंदोलन से प्रेरित कथा-लेखन में स्त्री के आत्मबोध की चार अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। पहली अवस्था अपनी वास्तविक स्थिति के बोध की है, दूसरी अवस्था उससे विद्रोह की है, तीसरी अवस्था पुरुष और पुरुषवादी मूल्यों के विरोध की है और चौथी अवस्था अपने स्वतंत्र अस्तित्व और आकांक्षा की अभिव्यक्ति की है। लेकिन स्त्रीवादी लेखन के विकास की एक और अवस्था है जिसकी ओर वर्जीनिया वुल्फ ने संकेत किया है। उसने लिखा है कि अच्छा स्त्री लेखन वह होगा जिसमें लेखिका औरत की तरह ही लिखे “लेकिन ऐसी औरत की तरह जो भूल चुकी हो कि वह औरत है ताकि उसके लेखन में वह विचित्र लिंगीय गुण भर उठें जो केवल तभी प्रकट होता है जब लिंग अपने ही अस्तित्व के प्रति अचेत हो जाता है।” यही लेखन के माध्यम से स्त्री की स्वतंत्रता का चरम रूप है और समाज में लोकतंत्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भी।

भारतीय समाज में लोकतंत्र के विकास में एक बड़ी बाधा है जाति-व्यवस्था। वह हिंदू समाज की सामाजिक संरचना की ऐसी बुनियादी विशेषता है जो समाज और संस्कृति को ही नहीं, भारतीय राजनीति को भी प्रभावित, अनुशासित और संचालित करती है। यहाँ व्यक्ति की विश्व-दृष्टि के आदि और अंत में जाति-दृष्टि मौजूद रहती है। कुरूपता का सौंदर्यशास्त्र लिखने वाले एक लेखक ने कहा था कि “सुंदरता केवल चमड़ी तक सीमित रहती है, लेकिन कुरूपता मज्जा तक फैली होती है।” उसी तरह भारतीय समाज में आधुनिक विचारधाराएँ केवल सतह पर सक्रिय रहती हैं, जब कि जातिगत भावना चेतना की अंतिम गहराई तक व्याप्त होती है। जाति-व्यवस्था समाज में भेद-भाव को स्थायी भाव बनाने वाली अचूक व्यवस्था है। इसमें व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतंत्रता महत्त्वपूर्ण नहीं होती, उसकी स्वतंत्र पहचान भी नहीं होती; उसे जाति से जोड़कर ही समझा जाता है। जाति-व्यवस्था काल्पनिक शुद्धता-अशुद्धता पर आधारित ऊँच-नीच के अंतर की ऐसी श्रेणीबद्ध व्यवस्था है जो आदि में जन्म से जुड़ी रहती है और अंत में धर्म से, इसलिए उसके बंधनों से मुक्त होना अत्यंत कठिन होता है। ऐसी व्यवस्था हर हाल में लोकतंत्रविरोधी होगी। भारतीय उपन्यास ने जाति-व्यवस्था से उपजी पराधीनताओं की पहचान करते हुए उनका चित्रण किया है और उनकी आलोचना भी। उपन्यास ने व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना और अस्मिता की खोज करते हुए जाति-व्यवस्था की दमनकारी सामूहिकता से मुक्त होने में भारतीय मनुष्य की मदद की है।

जाति-व्यवस्था भारत के दूसरे धर्मों और समाजों में भी घुसी हुई है। इसका प्रभाव ईसाई और मुसलमान-समाजों में भी दिखाई देता है। यद्यपि ईसाई और इस्लाम धर्म में जाति के लिए कोई जगह नहीं है, लेकिन भारत के ईसाई और मुसलमान समाजों में जाति-व्यवस्था मिलती है। केरल में ईसाई समुदाय भी जातिगत भेद-भावना से मुक्त नहीं है। उन्नीसवीं सदी में मलयालम में ऐसे अनेक उपन्यास लिखे गए थे, जिनमें दलित जातियों की गुलामी और उनके क्रूर दमन की कथा कही गई है। ‘सरस्वती विजयम’ (1893) और ‘सुकुमारी’ (1897) ऐसे ही उपन्यास हैं। उन्नीसवीं सदी में केरल के दलित समुदाय के लोगों ने हिंदू धर्म की जाति-व्यवस्था की गुलामी से स्वतंत्र होने के लिए ईसाई बनाना स्वीकार किया, लेकिन वह भी अरुन्धती राय

के शब्दों में जलती कड़ाही में से आग में कूदने जैसा साबित हुआ। वहाँ भी उन्हें पहले जैसी विषमता और यातना का सामना करना पड़ा। अरुन्धती राय ने अपने उपन्यास 'द गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' में अत्यंत प्रभावशाली ढंग से यह दिखलाया है कि केरल में दो हजार वर्षों से ईसाई धर्म की उपस्थिति और 20वीं सदी में मार्क्सवाद के प्रवेश के बावजूद जाति-व्यवस्था का सर्वग्रासी प्रभाव अत्यंत आतंककारी रूप में बना हुआ है। वहाँ जाति-व्यवस्था के साथ पितृसत्ता के प्रभुत्व के कारण दलितों और स्त्रियों की गुलामी अत्यधिक घातक है। मार्क्सवादियों से अरुन्धती राय की शिकायत यह है कि वे इस गठजोड़ को समझने और तोड़ने के बदले या तो उसके शिकार हुए हैं या फिर उसका अपनी सत्ता के लिए उपयोग किया है।

भारतीय गाँव जाति-व्यवस्था के गढ़ हैं। गाँव की जिंदगी की कथा लिखने वाला कोई भी उपन्यासकार जाति की उपेक्षा करके उस जिंदगी की जटिल समग्रता का आख्यान निर्मित नहीं कर सकता। हिन्दी में फणीश्वरनाथ रेणु ने गाँव की प्रकृति, संस्कृति और विकृति की संपूर्ण कथा लिखी है। रेणु के शब्दों में 'मैला आँचल' में गाँव के जीवन में व्याप्त "फूल भी है, शूल भी, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी है, चंदन भी, सुंदरता भी है, कुरूपता भी।" मैला आँचल का कथाकाल स्वाधीनता आंदोलन के अंतिम दौर का है जिसके रेणु सहभागी के रूप में साक्षी थे और उसका रचनाकाल आजादी के ठीक बाद का है, जब वे स्वतंत्र भारत में स्वदेशी सत्ता की रीति-नीति और उसके जनजीवन पर पड़ रहे प्रभावों को देख रहे थे। 'मैला आँचल' की कथा अनुमान से नहीं रची गई है, वह अनुभव से उपजी हुई कथा है। 'मैला आँचल' में गाँव के जीवन की समग्रता है, उसमें जमींदार हैं और किसान भी हैं, जिनके बीच संघर्ष है, धर्म की आड़ में स्त्री का क्रूर दैहिक शोषण है और राजनीति का छल-छद्म भी। 'मैला आँचल' के गाँव की जिंदगी में फैली गरीबी और जहालत के साथ सामाजिक विद्वेष और कौमी नफरत के अनेक रूपों की कथाएँ हैं।

प्रेमचंद अपने उपन्यासों में वर्तमान के बोध के आधार पर भारत में लोकतंत्र के भविष्य की संभावनाओं और सदेहों की अभिव्यक्ति कर रहे थे। रेणु उन संभावनाओं के अंत के साथ और सदेहों का सच होना देख रहे थे, इसलिए वे 'मैला आँचल' में भारत के लोकतंत्र की समस्याओं और संकटों की पहचान का आख्यान रच रहे थे। वैसे तो 'मैला आँचल' में लोकतंत्र की अनेक समस्याओं और संकटों की पहचान है, लेकिन उनमें सबसे बड़ी समस्या है जाति की भावना। जाति-व्यवस्था गाँव की जनता को सामाजिक रूप से ही विभाजित नहीं करती, वह भौगोलिक विभाजन और अलगाव भी पैदा करती है। गाँव में अलग-अलग जातियों के लोग अलग-अलग टोलों में रहते हैं। 'मैला आँचल' के आरंभ में ही स्पष्ट हो जाता है कि गाँव के लोग जाति के आधार पर विभिन्न टोलों में बँटे हुए हैं, कोई गुअरटोले का है तो कोई राजपूत टोले का, कोई कायथ टोले का है तो कोई यादव टोले का, कोई बाम्हनटोले का है तो कोई कोइरी टोले का। जितने टोले उतनी टोलियाँ। गाँव के लोग प्रत्येक प्रसंग में जाति की भाषा में बात करते हैं। रेडियो पर गाँधी जी की हत्या की खबर आती है तो लोग हत्यारे की जाति के बारे में सोचते हैं 'अरे, बाभन कभी ऐसा काम नहीं कर सकता, जरूर वह साला चांडाल होगा।' एस. पी. साहब कह रहे हैं 'जिसने एक गरीब बनिया को बाल-बच्चा सहित मार डाला वही...।' गाँधी जी भी अंततः एक गरीब बनिया ही हैं। 'मैला आँचल' में चुनाव की राजनीति में भी जाति के निर्णायक प्रभाव का उल्लेख है 'भूमिहार, रजपूत, कैथ, यादव, हरिजन सब लड़ रहे हैं। अगले चुनाव में तिगुने मेले (एम. एल. ए.) चुने जाएँगे। किसका आदमी ज्यादा चुना जाए इसी की लड़ाई है।' लंबे समय तक स्वाधीनता आंदोलन में शामिल

रहने के बाद बालदेव सोचते हैं 'वह अब अपने गाँव में रहेगा, अपने समाज में, अपनी जाति में रहेगा। जाति बहुत बड़ी चीज है। जाति की बात ऐसी है कि बड़े-बड़े लीडर अपनी-अपनी जाति की पार्टी में हैं। यह तो राजनीति है।'

'मैला आँचल' में साधारण आदमी की दृष्टि से देखा गया जीवन और रचा गया आख्यान है। उसमें साधारण आदमी अपनी भाषा, बोली-बानी और बात करने के ढंग के साथ मौजूद है। जो लोग 'मैला आँचल' में अंग्रेजी, फारसी और संस्कृत के शब्दों तथा खड़ी बोली के वाक्यों के बिगड़े हुए रूप को देखकर दुःखी या नाराज होते हैं वे यह नहीं समझते कि आम जनता पराई भाषा के शब्दों और वाक्यों को अपना बनाने की प्रक्रिया में इसी तरह संकरीकरण करती है। इससे भाषा और संवेदना के बीच अंतरंग संबंध स्थापित होता है और उपन्यास में भाषा का लोकतंत्र विकसित होता है जो व्याकरण की तानाशाही की उपेक्षा करता है। बाखिन ने लिखा है कि 'किसी भी राष्ट्रीय भाषा के भीतर सामाजिक बोलियों के अनेक स्तर होते हैं, जिनमें पेशा संबंधी विशिष्ट शब्दावली, पीढ़ियों की भाषा, गालियों की भाषा, अधिकारियों की भाषा आदि का समावेश होता है और उन सबका सामाजिक, राजनीतिक प्रयोजन भी होता है। भाषा की इस ऐतिहासिक स्थिति का बोध उपन्यास की रचना के लिए आवश्यक होता है। उपन्यास बोलियों की सामाजिक बहुलता के माध्यम से ही वस्तुओं, विचारों और भावों की दुनिया की समग्रता को व्यक्त करता है और अपने पात्रों के स्वरो की स्वतंत्रता को भी कायम रखता है। 'मैला आँचल' में सामाजिक बोलियों की इसी बहुलता का बोध है और उनकी रचनात्मक क्षमता का प्रयोग भी।

रेणु ने 'मैला आँचल' के अंत में बावनदास की हत्या के माध्यम से यह स्पष्ट संकेत दिया है कि स्वतंत्र भारत में कैसी सत्ता, कैसी राजनीति और कैसा लोकतंत्र स्थापित हो रहा है। बावनदास गाँधी जी का प्रतिनिधि है। विचार में ही नहीं, व्यवहार में भी। वह आजाद भारत में चोरबाजारी रोकने की कोशिश करता है तो बैलगाड़ी से कुचलकर उसकी हत्या कर दी जाती है। उसके हत्यारे स्वाधीन भारत की सत्ता के दलाल और सेवक हैं। हत्या का हुक्म देने वाला कापरा एक ओर चोर बाजारी करता है, जुआ कंपनी चलाता है तो दूसरी ओर कांग्रेस का सेक्रेटरी भी है। उसके हाथ लंबे हैं और पहुँच भी। इसीलिए वह ईमानदार, अकेला और निहत्था बावनदास को बैलगाड़ी के पहियों के नीचे कुचलकर मार डालता है। रेणु ने ठीक ही लिखा है कि "बावन ने दो आजाद देशों की, हिंदुस्तान और पाकिस्तान की ईमानदारी, इंसानियत को, बस दो डग में ही नाप लिया।" बावनदास की हत्या देखकर एक ओर 'रंगभूमि' के सूरदास की हत्या की याद आती है, तो दूसरी ओर गाँधी की हत्या भी। जाहिर है ईमानदारी और सचाई की ऐसी हत्या के बाद जो लोकतंत्र कायम हुआ वह लूटतंत्र के रूप में आज हमारे सामने है।

प्रत्येक प्रकार का कट्टरतावाद उपन्यास और लोकतंत्र दोनों का दुश्मन है। उपन्यास और लोकतंत्र के लिए बहुभाषिकता और बहुलता का विशेष महत्त्व है, लेकिन कट्टरतावाद को न बहुलता स्वीकार है और न बहुभाषिकता। उपन्यास के लिए सच सापेक्षिक होता है, जब कि कट्टरतावाद अपने सच को निरपेक्ष मानकर चलता है। उपन्यास और लोकतंत्र में आलोचनात्मक चेतना क्रियाशील होती है, लेकिन कट्टरतावाद आलोचना के प्रति अत्यंत असहिष्णु होता है। धार्मिक कट्टरतावाद उपन्यास और लोकतंत्र का जानलेवा दुश्मन पहले भी रहा है और आज भी है। सोलहवीं सदी में ईसाई पादरियों ने वैचारिक पुलिस की तरह व्यवहार करते हुए उस समय के प्रसिद्ध फ्रांसीसी कथाकार रिबेला का जीना हराम कर दिया था, इसलिए उसे बार-बार

जगह-जगह छिपना पड़ता था। बीसवीं सदी में धार्मिक कट्टरतावाद से उपन्यास की दुश्मनी का सबसे बड़ा प्रमाण 13 फरवरी, 1989 को 'द सेटेनिक वर्सेज' के लेखक सलमान रुश्दी की हत्या के लिए ईरान के धार्मिक नेता अयतुल्ला खुमैनी के फतवा के रूप में सामने आया। इस फतवे की दुनिया भर के लेखकों और बुद्धिजीवियों ने आलोचना की है, पर वह फतवा अब भी कायम है और सलमान रुश्दी के लिए खतरा बना हुआ है। बंगलादेश की लेखिका तसलीमा नसरीन अपने देश के धार्मिक कट्टरतावादियों के आक्रोश का सामना करती हुई अपने देश के बाहर रहने के लिए मजबूर हैं। नैतिकता के ठेकेदार आरंभ से ही उपन्यास की स्वतंत्रता को सामाजिक नैतिकता के लिए खतरनाक मानते रहे हैं और उपन्यासों के प्रकाशन तथा पढ़ने पर तरह-तरह की पाबंदियों लगाते रहे हैं। भारतीय नवजागरण के अनेक विचारक स्त्रियों को उपन्यास पढ़ने से बचने की सलाह देते थे ताकि स्त्रियों में अनैतिक आदतें पैदा न हों। उन्नीसवीं सदी के मध्य में जापान में कानून बनाकर उपन्यासों के लिखने, छपने और पढ़ने पर कई तरह की बंदियों लगाई गई थीं, इसलिए उपन्यास लेखन का हास भी हुआ था। हिन्दी में नागार्जुन का उपन्यास 'रतिनाथ की चाची' पर अनैतिक होने का आरोप लगा तो दूसरे संस्करण में नागार्जुन को उपन्यास के कुछ प्रसंग निकालने पड़े। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' के प्रकाशन पर भी नैतिकता के आग्रहियों ने हंगामा किया था और कुछ जगहों पर उपन्यास की प्रतियाँ भी जलाई गई थीं। मृदुला गर्ग को अपने उपन्यास 'चितकोबरा' के लिए मुकदमे का सामना करना पड़ा।

उपन्यास ने आरंभ से ही धार्मिक कट्टरता और नैतिक जड़ता का विरोध किया है, क्योंकि उपन्यास धर्मनिरपेक्ष आख्यान है। दुनिया के अनेक बड़े उपन्यासकारों ने धार्मिक अंधविश्वास और जड़ता का विरोध करते हुए अपने पाठकों को अंध आस्था से बचाते हुए विवेकशील बनाया है। ऐसे लेखकों में टॉलस्टॉय और टॉमसमान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिन्दी उपन्यास में आरंभ से ही धार्मिक पाखंड और शोषण की तीव्र आलोचना होती रही है। ज्ञानचंद जैन ने ठीक ही लिखा है कि "बालकृष्ण भट्ट ने अपने उपन्यासों में धूर्तों, पाखंडियों, दंभियों, लंपटों, ढोंगी साधुओं, मठों के गोसाइयों, जोगियों, बैरागियों, कनफटे और उदासी साधुओं, संन्यासियों, नाममात्र के अपढ़ उजड़ु धर्मशास्त्रबहिर्मुख, जजमानों को मूड़ने और टका कमाने तथा बछिया पुजाने वाले पेटार्थी ब्राह्मणों के बड़े यथार्थवादी चित्र दिए हैं। उन्होंने 'गुप्त वैरी' उपन्यास में मठ के पंडे-पुजारी जटाधारी जोगी तथा गुसाइयों की आवारगी, उजड़ुपन और असत् व्यवहार का चित्रण किया है।" लज्जाराम मेहता के 'आदर्श हिन्दू' उपन्यास में भी तीर्थ स्थानों पर सक्रिय धूर्त साधुओं और लुटेरे पंडे-पुजारियों के व्यवहारों का चित्रण है। हिन्दी उपन्यास में धर्म के छल-छद्म और धोखाधड़ी की आलोचना की परंपरा 20वीं सदी में प्रेमचंद के 'कर्मभूमि', प्रसाद के 'कंकाल', नागार्जुन के 'इमरतिया', रेणु के 'मैला आँचल' तथा 'जुलूस' में विकसित होती दिखाई देती है। हाल के वर्षों में धर्म और राजनीति के बीच साँठ-गाँठ के कारण बाबरी मस्जिद के विध्वंस और भयावह दंगों का जो सिलसिला चला है उसका चित्रण और विश्लेषण 'हमारा शहर उस बरस' तथा 'आखिरी कलाम' में दिखाई देता है।

उपन्यास ने धार्मिक मिथकों और पवित्र ग्रंथों की ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक छानबीन करने की कोशिश ही है, यह भी उपन्यास और धर्म के बीच टकराहट का एक कारण रहा है। सलमान रुश्दी के खिलाफ खुमैनी के फतवे के मूल में उपन्यास की यही प्रवृत्ति है। उपन्यास ने धर्म की आतंककारी गंभीरता के प्रभाव को ध्वस्त करने के लिए प्रायः व्यंग्य और विनोद का सहारा लिया है। मिलान कुद्रेरा ने ठीक ही लिखा है कि धर्म और विनोद का कोई मेल

नहीं है। व्यंग्य और विनोद मूलतः लोक संस्कृति की देन हैं। इनके माध्यम से लोक संस्कृति में राजनीतिक तथा धार्मिक सत्ताओं की संस्कृति को चुनौती दी जाती रही है। व्यंग्य और हास्य हमेशा प्रभुत्वशाली सत्ता और संस्कृति के विरुद्ध आम जनता की आलोचनात्मक चेतना के माध्यम रहे हैं। व्यंग्य और विनोद के माध्यम से उपन्यासकार एक ऐसी दुनिया रचता है जो धार्मिक और राजनीतिक सत्ताओं की आकांक्षा की दुनिया से भिन्न होती है। उसमें व्यक्ति सच के प्रचलित रूपों, स्थापित व्यवस्था की मान्यताओं और धर्म के आदेशों-उपदेशों से मुक्ति का अनुभव करता है। व्यंग्य और विनोद के माध्यम से जो हँसी पैदा होती है वह व्यक्ति की स्वतंत्रता का माध्यम होती है और साधन भी। इसलिए व्यंग्य और विनोद के उपन्यास, राजनीतिक सत्ता और धार्मिक सत्ता की आँखों में खटकते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि धार्मिक सत्ता हँसी को बर्दाश्त नहीं करती। दुनिया के अधिकांश धर्मों में हँसी की निंदा की गई है और उसे धार्मिक कृत्यों से दूर रखा गया है, लेकिन उपन्यास ने व्यंग्य और विनोद के माध्यम से हास्य का उपयोग करते हुए अपने पाठकों में लोकतांत्रिक चेतना जगाने का काम किया है। व्यंग्य, विनोद और हास्य के माध्यम से उपन्यास को लोकतांत्रिक बनाने का बहुत अच्छा उदाहरण 'मैला आँचल' है।

उपन्यास ने साहित्य की संस्कृति का स्वरूप बदला है। भारतीय समाज के जो हिस्से, समुदाय और व्यक्ति मुख्यधारा से अलग हाशिए पर रहने के लिए मजबूर थे, वे साहित्य-संसार के भी हाशिए पर ही रहने के लिए अभिशप्त थे। मुख्यधारा से प्रायः बहिष्कृत, उपेक्षित, अदृश्य और बेजुबान जन को उपन्यास में जगह मिली है। यही नहीं, पहले जो साहित्य में कहीं नहीं होते थे वे उपन्यास के माध्यम से साहित्य-संसार के नागरिक बनने लगे और नायक भी, बल्कि जो साहित्य के नायक होते थे वे उपन्यास में खलनायक बनने लगे। हिन्दी में प्रेमचंद के उपन्यासों के माध्यम से साहित्य-संसार में ऐसा लोकतंत्र आया। प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में जिस सूरदास को नायक बनाया है वह 'गरीब अंधा चमार' है और भिखमंगा भी, जिसकी 'बाह्य-दृष्टि बंद और अंतर्दृष्टि खुली हुई' है। वह अपने अदम्य साहस और संघर्ष के कारण उपन्यास का ही नहीं अपने समय और समाज का भी नायक है और खलनायक हैं सामंती तथा साम्राज्यवादी सत्ता के प्रतिनिधि, दलाल और सेवक। 'रंगभूमि' का सूरदास उपनिवेशवाद के शिकार भारत की त्रासदी का नायक है। इसी प्रवृत्ति का विकास प्रेमचंद के 'गोदान' में दिखाई देता है जिसका नायक है होरी महतो। साहित्य की दुनिया में समाज और संस्कृति के उपेक्षित जनों को अपेक्षित स्थान और महत्त्व मिला उपन्यास के माध्यम से। हिन्दी उपन्यास में यह परंपरा मन्नू भंडारी के 'महाभोज', मैत्रेयी पुष्पा के 'अल्मा कबूतरी' और संजीव के 'सूत्रधार' में आगे बढ़ती दिखाई देती है। साहित्य-संसार के इस लोकतंत्रीकरण के परिणामस्वरूप साहित्य के पाठक समुदाय का भी विस्तार हुआ है, अपनी कथा पढ़ने के लिए उत्सुक साधारण जन भी साहित्य के पाठक बने हैं। अब साहित्य केवल शिष्टजनों के विशिष्ट मनोरंजन का साधन नहीं रह गया है।

उपन्यास मुक्तिधर्मी आख्यान है। वह अपने पाठकों को न आदेश देता है, न उपदेश। वह समाज और जीवन के बारे में सोचने की प्रेरणा देता है। वह प्रश्न करता है और उत्तर खोजने में पाठकों की मदद करता है। उपन्यास ने सामाजिक व्यवस्थाओं, विचारधाराओं, पितृसत्ता से उपजी पराधीनताओं, जाति-व्यवस्था, गुलामी, नस्लभेद, उपनिवेशवाद, आधिपत्य, अस्मिता, साम्प्रदायिकता, लोकतंत्र और यहाँ तक कि स्वयं अपने स्वरूप के बारे में प्रश्न करते हुए पाठकों की चेतना और सहानुभूतियों का विस्तार किया है। उपन्यास प्रश्न पैदा भी करता है। उपन्यास के प्रसंग में ही नैतिकता-अनैतिकता, श्लीलता-अश्लीलता और संभव-असंभव पर गंभीर बहसों

हुई हैं। उपन्यास ने दर्शन द्वारा निर्मित शरीर और आत्मा के द्वैत को समाप्त किया है और व्यक्तिगत अनुभव को लोकमत से अधिक महत्त्वपूर्ण बनाया है। संभवतः इसीलिए डी.एच. लारेंस ने उपन्यास को जीवन की एक चमकदार किताब कहा है।

उत्तर-आधुनिकतावाद के प्रभाव से उपन्यास के भी अंत और मौत की घोषणाएँ हो रही हैं। वैसे उत्तर-आधुनिकतावाद का आख्यान से स्थायी विरोध है; क्योंकि आख्यान यात्रा की तरह होता है, इसलिए वह प्रयोजनहीन नहीं हो सकता। उत्तर-आधुनिकता की शत्रुता प्रयोजन से ही है, इसलिए वह उपन्यास के आख्यान से लेकर मुक्ति के बृहत आख्यान तक का विरोधी है। यह सच है कि आजकल उपन्यास संकट में है क्योंकि वह अपने जन्म और स्वभाव से जिस लोकतंत्र से जुड़ा है वह लोकतंत्र भी खतरे में है। यह खतरा दोतरफा है। एक ओर कट्टरतावाद है तो दूसरी ओर पूँजीवाद की बर्बरता। लेकिन जैसा कि रॉबर्ट स्कोल्स ने कहा है, भाषा की तरह ही आख्यान भी मानव-अस्तित्व की बुनियादी विशेषता है, इसलिए उपन्यास का अंत मनुष्य और लोकतंत्र के अस्तित्व के अंत के साथ ही संभव है।

(‘उपन्यास और लोकतंत्र’ नामक पुस्तक से)

## हिन्दी उपन्यास का कुल-शील

सत्यप्रकाश मिश्र

हिन्दी उपन्यास का विकास प्रेमचंद के समय तक सामाजिक विकास के साथ-साथ चलता रहा है। वह उपयोगी और प्रायोगिक एक साथ था। प्रेमचंद की प्रायोगिकता बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की नहीं थी बल्कि प्रतिजगत के निर्माण की थी और इसमें कोई शक नहीं कि प्रतिजगत के निर्माण में प्रेमचंद पहली बार सफल हुए हैं। यद्यपि इस दुनिया में भी हमें बाहरी दुनिया की हलचल, आन्दोलन, शोरगुल, शोषण, उत्पीड़न और सामाजिक संतुलन की सिकुड़न का ही आभास होता है। लेकिन यह जादुई, तिलिस्मी और मायालोकीय दुनिया से नितांत भिन्न, एक प्रकार की निश्चित नियति को ध्यान में रख कर लिया गया है जिसमें व्यक्तियों को नहीं मनुष्यों की भागीदारी है। भारतीय और विदेशी कथाशैलियों की एक सहज मिलावट भी प्रेमचंद में है इसलिए उसमें गति शिथिल है। संरचनात्मक स्तर पर प्रेमचंद का प्रयोग महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता है। उसमें कथा रूढ़ियों और संरचनात्मक रूढ़ियों का उपयोग किया गया है। परंतु 'गोदान' में और विशेषकर 'गोदान' के अंत में संरचनात्मक रूढ़ियों की टूटन और कथानक रूढ़ियों का लचीलापन पाया जाता है। उनके उपन्यासों में विद्यमान सामाजिक संतुलन अपनी गंदगी और धिनौनेपन के सहित 'गोदान' में और विशेषकर 'गोदान' के अंत में संरचनात्मक रूढ़ियों की टूटन और कथानक रूढ़ियों का लचीलापन पाया जाता है। उनके उपन्यासों में विद्यमान सामाजिक संतुलन अपनी गंदगी और धिनौनेपन के सहित 'गोदान' में पोर दर पोर चटकने का पहली बार आभास देता है और उपन्यास के अंत में कर्ता और कर्म का यह संतुलन भरभरा कर बैठ जाता है। 'मंगलसूत्र' में एक ऐसी दुनिया में प्रवेश करता है जहाँ 'अर्थ' ही सम्बन्धों का हेतु है।

प्रेमचन्द के बाद उपन्यास का यह विकास मानवीय समग्रता के धीरे-धीरे मरते जाने के कारण एक अर्थ में आँचलिक होता गया है। प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र के उपन्यासों में व्यक्ति की अधिकचरी प्रतिष्ठा से बाह्यता को क्रमशः आन्तरिकता को प्रतिच्छवि मान लिया गया।

‘त्यागपत्र’ निश्चय ही हिन्दी उपन्यास में एक घटना थी और संरचनात्मक कसावट तथा वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रेमचन्द के परवर्ती उपन्यास के विकास को रेखांकित करती है। परन्तु ‘त्यागपत्र’ में एक प्रकार का छायावादी मोहभंग पाया जाता है जो किसी भी बड़े उपन्यास की विशेषता हो सकता है। यह छायावादिता जैनेन्द्र में क्रमशः बढ़ी है। जैनेन्द्र वस्तुतः सही अर्थों में छायावादी मोहभंग के उपन्यासकार हैं, जिसकी अंतिम परिणति बढ़ती हुई आंतरिकता के कारण निर्मल वर्मा में होती है और जहाँ देवकीनन्दन खत्री का तिलिस्मी संसार एक भिन्न शकल में उपस्थित होता है। वस्तुओं से और वस्तुओं के ही माध्यम से वस्तुजगत से हमारा सम्बन्ध समाप्त होते-होते अनुभव संदर्भों के निर्माण तक पहुँच कर दिक् और काल के क्रमिक घुलनशीलता तक पहुँचता गया है। ‘लाल टीन की छत’ को इसके प्रमाण के रूप में माना जा सकता है। दुर्भाग्य यह है कि प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यास में, वे चाहे यशपाल हों और चाहे जैनेन्द्र सामाजिक सम्बन्धों और मानवीय रिश्तों की समग्र पहचान नहीं मिलती है। बल्कि एक प्रकार का एकांगीपन मिलता है जो या तो हेयतावादी है या ग्राह्यतावादी है। अमृतलाल नागर और भगवतीचरण वर्मा ने इसके बीच से रास्ता निकालने की कोशिश की परन्तु वे एक दूसरे प्रकार के सरलीकरण के शिकार हो गये क्योंकि दोनों के पास अपने अनुभूत सामाजिकता को कहने, दिखाने और प्रदर्शित करने के अनुकूल संरचना नहीं थी। कहा जा सकता है कि इन्होंने वर्णन रूढ़ियों का प्रयोग किया जिसकी अपनी सीमा है और जिसमें सब कुछ निर्भर करता है कथा कहने वाले पात्र और रचनाकार पर उपन्यास में घटित घटनाओं या इस प्रकार के वर्णन रूढ़ियों में बाह्य के आभ्यन्तरीकरण की गुंजाइश कम रहती है।

अमृतलाल नागर और भगवती बाबू दोनों के लिए उपन्यास चेतना के विस्तार का माध्यम न बना रह कर भावनाओं के सहलाने मात्र का साधन बनता गया है। नागर जी इस अर्थ में ज्यादा सफल लगते हैं कि वे सामाजिक संतुलन की पक्षधरता के मार्ग पर चले। इसलिये उनके उपन्यासों की संरचना एक रूढ़ि के रूप में वही है। वर्णन की यह संरचना प्रयोगमूल्यता की उपज है जहाँ सम्बन्ध स्थिर होते हैं और संवेदनों की कीमत होती है। ‘अमृत और विष’ जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यास, जिसे इस प्रकार की संरचना प्रयोगमूल्यता की उपज है जहाँ सम्बन्ध स्थिर होते हैं और संवेदनों की कीमत होती है। ‘अमृत और विष’ जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यास, जिसे इस प्रकार की संरचना प्रयोगमूल्यता की उपज है जहाँ सम्बन्ध स्थिर होते हैं और संवेदनों की कीमत होती है। ‘अमृत और विष’ जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यास, जिसे इस प्रकार की संरचनात्मकता की उपलब्धि माना जाना चाहिए, में भी नागर जी कभी प्रश्न नहीं करते हैं। उनका दृष्टिकोण लगभग वही है जैसा भी है लगभग ठीक है या हमें ठीक मान लेना चाहिए। इसे एक प्रकार का मैथिलीशरणत्व कहा जा सकता है। इसीलिए अमृतलाल नागर विषयों की संवेदनात्मक तलाश के बावजूद हिन्दी उपन्यास के मैथिलीशरण गुप्त लगते हैं। लेकिन नागर जी की एक विशेषता है उपन्यास का ठोसपन, जो अन्य उपन्यासकारों में नहीं पाया जाता है। यह ठोसपन जीवन के उस सहज प्रवाह के वर्णन के कारण है। ‘एकदा नैमिषारण्ये’, ‘खंजन नयन’ और ‘मानस के हंस’ में ‘दिये गये’ के आधार पर मानवीय अनुभूतियों के प्रसंगों पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों में सम्बद्ध पाठकों की संवेदनाओं को फायदा उठाया गया है। सृजनात्मकता के सही अर्थ में इसलिए इन उपन्यासों का उपभोगी उपन्यास कहा जा सकता है। उत्पादित कृतियाँ हैं, सृजित नहीं। भगवती बाबू के ‘चित्रलेखा’, ‘टेढ़े-मेढ़े रास्ते’ और ‘भूले बिसरे चित्र’ जैसे उपन्यासों में देश और काल को पहचानने की कोशिश और परिपार्श्व के बदलाव का संकेत है। परन्तु मानव भविष्य की किसी परिकल्पना और मीमांसा में वे भी केवल सत्तापरक उपन्यासों



का सृजन ही करते रहे। यथार्थवाद की भोंडी परिभाषा के अनुसार इन्हें कोई यथार्थवादी मान सकता है परन्तु ये एक प्रकार से प्रकृतिवादी उपन्यास ही हैं। 'उग्र' से बेहतर वे इसीलिए हैं क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों के दोहरापन की वेदना उनमें पाई जाती है। वस्तुतः जैनेन्द्र के बाद अज्ञेय के 'शेखर एक जीवनी' का ही उल्लेख करना सृजन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार के विश्लेषण का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हिन्दी उपन्यास की स्थिति निराशाजनक है। वस्तुतः इस प्रकार का सवाल तब उत्पन्न होता है, जब हम अपने को कथा के क्षेत्र में भी विकासशील मान लेते हैं और अपने देश की आवश्यकता और वास्तविकता को ध्यान में रखे बगैर अंधविश्वास के कारण विकसित राष्ट्र की उन्नत प्रौद्योगिकी और संसाधनों का प्रयोग उपन्यास के क्षेत्र में भी करना चाहते हैं। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय, अमृतलाल नागर, रेणु, नागार्जुन, शिवप्रसाद सिंह, राही मासूम रजा आदि की उपलब्धि और कमियों का मूल्यांकन करके, अपने चारों ओर की जिन्दगी को देखने से पैदा हुए यथार्थ को बदलने की आकांक्षा और यथार्थ की टकराहट के स्वरूप से ही कुछ समझ सकते हैं। पश्चिम के नाम की माला जपने से कुछ भी नहीं होने वाला है। गोरी दुनिया का यह अभूतपूर्व आकर्षण औपनिवेशिकता का अभिशाप है जो अनेक लेखकों के भीतर हीन ग्रंथि के रूप में है, तथा 'पूर्वग्रह' के उपन्यास विशेषांक में भी अभिव्यक्त है। विदेशी उपन्यासों से तुलना बुरी बात नहीं है बल्कि उस समय से लाभ ही होता है परन्तु उसे मापदण्ड का आधार मान कर हिन्दी उपन्यास पर मर्सिया पढ़ना मूर्खता है। सच तो यह कि किसी भी बड़ी से बड़ी रचना को नमूने की प्रति नहीं माना जा सकता इसके लिए तो समाज का साहित्यिक संदर्भ और साहित्य का सामाजिक संदर्भ ही दृष्टि दे सकता है। निर्मल वर्मा और मृणाल पांडे का जब अनुभव संदर्भ ही भारतीय नहीं है या जितना है वह उस सीमित दुनिया का है, जिसने अपने को समाज से काट कर अलग कर लिया है या जो केवल सर्वनाश और भ्रंश को अंधविश्वास की तरह सत्य मानता है अथवा मानते रहना चाहता है इसलिए नतीजे भी भ्रामक और निराशाजनक हैं। हिन्दी उपन्यासों या भारतीय उपन्यासों को केन्द्र में रखकर पाश्चात्य उपन्यासों का विश्लेषण किया जाय तो शायद बिल्कुल ही भिन्न प्रकार के नतीजे निकाले जा सकते हैं। हिन्दी उपन्यासकारों और साहित्यकारों को यह समस्या भी है कि वे अधिकांशतः आत्मश्लाघा के शिकार हैं। अपने लिखे के आगे और अलावा न पढ़ने की आदत ने उन्हें कुँ में गिरा दिया जहाँ से उन्हें यह भ्रम है कि कामू, फ्लाबेयर और दास्तायवस्की ही निकाल सकते हैं।

समकालीन हिन्दी उपन्यासकार की समस्या सृजन के स्तर पर जिस प्रकार के संकटापन्न खोज की है वह शायद इसे पहल कभी नहीं की। लाभकेन्द्रित व्यवस्था के परिणामों और प्रगति के प्रतिमानों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त उन्नत प्रौद्योगिकी ने अब शहर के अतिरिक्त गाँवों पर भी प्रभाव छोड़ना प्रारम्भ कर दिया है और दूसरी तरफ धार्मिक रूढ़ियाँ, विश्वास, दुनिया की नश्वरता और अनश्वरता के बारे में मूलबद्ध मान्यताएँ सामंतवादी विचारधारा के रूप में परिवार और समाज में अभी भी विद्यमान हैं। आज के भारतीय समाज का अन्तःकरण इन दोनों दबावों का युद्ध और संधिस्थल बना हुआ है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में इसे विनिमय मूल्यों और प्रयोगमूल्यता के नैतिक संकट के बजाय विनिमयमूल्यता से उत्पन्न संकट भी कह सकते हैं। प्रयोगमूल्यता के नैतिक संकट के बजाय विनिमय मूल्यता से उत्पन्न इस संकट की प्रकृति सर्वग्रासी है। भारतीय समाज के लिए अभी ईश्वर मरा नहीं है बल्कि बहुत बड़े समुदाय में तो जवान बना हुआ है। जहाँ उसे मरना चाहिए वहाँ उसने अद्भुत समझौता कर लिया है। पश्चिम के तर्क के आधार पर मनुष्य के मरने की कल्पना करना बेहूदा तथा स्वार्थी तर्क

है। वस्तुतः भारतीय समाज की समस्या धर्म और अर्थ के जरासंध की समस्या है। 'गोदान' का होरी इस जरासंध का ग्रास हुआ है। हिन्दी उपन्यास ने प्रेमचंद के बाद इस जरासंध के महात्म्य वर्णन में ही अधिक रुचि ली। प्रायः सभी उपन्यासकारजिसमें मार्क्सवादी और नास्तिक दोनों ही शामिल हैं प्रेमचंद का नाम लेते हैं परन्तु रचना करते समय गरीबों के शोषण के इस विचारधारात्मक साधन को नजरअंदाज कर जाते हैं। आचरण और विश्वास के नैतिक अर्न्तद्वन्द्व के स्थान पर उभरती सामाजिक शक्तियों और स्थापित सामाजिक संतुलन के बीच में चल रहे आंतरिक शीत युद्ध को तरह देकर समकालीन हिन्दी उपन्यास का सृजन असंभव है।

आज के रचनाकार का दूसरा संकट उपन्यास के कुल शील का है। उसे यह भी लगता है कि उनके पूर्ववर्ती रचनाकार वे जैनेन्द्र, यशपाल, अज्ञेय और निर्मल वर्मा आदि हों, चाहे गिरिराज किशोर, गोविन्द मिश्र, मार्कण्डेय और अमरकांत आदि हों किसी में भी वह समग्र चेतना नहीं मिलती है जो सामाजिक सम्बन्धों की सम्पुंजता के अनुभव से पैदा होती है। उसे लगता है कि साहित्य के पितामहों ने अपने दायित्व का पालन नहीं किया। उन्होंने या तो कान्चेंट की शिक्षा दिलाई या फिर मदरसों और पाठशालाओं में दीक्षित किया। कोई भी रचनाकार अपने पूर्ववर्तियों के बारे में जब इस निष्कर्ष पर पहुँचता है तो वह साहित्य के कुल और शील दोनों से रहित होता है। अत्यंत खेद के साथ कहना पड़ता है कि उपन्यास विधा का हिन्दी में अभी न तो कुल है और न शील। इसलिए नये रचनाकार को उपलब्ध विकल्पों में से चयन की उदार स्वतंत्रता दी जाती है। वस्तुतः आज की दुनिया का यह एक अत्यन्त गंभीर संकट है कि भर सामर्थ्य यह कोशिश की जा रही है कि हर क्षेत्र में हमारे सामने केवल दो ही विकल्प हों। 'दोनों में से एक या मौत' की इस भयावह स्थिति के आतंक ने सृजनशीलता मात्र की समस्या को आत्महत्या के कगार पर ला खड़ा कर दिया है। उपयोग और प्रयोग की समस्या भी यही है। पदार्थीकरण या देवत्वकरण, नया या पुराना, जड़ या मौलिक, स्थिर या गतिशील, यथार्थ या आदर्श स्थिति आदि इस प्रकार से कई प्रमेयों की कल्पना की जा सकती है और चाहे तो कोई आज के विकल्पवादियों तथा आधुनिक जिन्दगी के आधार पर अन्य कई प्रमेयों की कल्पना स्वयं भी कर सकता है। परन्तु सर्जनात्मक स्तर पर इस प्रकार के प्रमेय अन्ततः बाधा ही उत्पन्न करते हैं।

हिन्दी उपन्यास में जब तक इस प्रकार के प्रमेय हावी रहेंगे तब तक बीच के रास्ते की खोज की जाती रहेगी और सृजनशील प्रतिभा जो इसके बीच से रास्ता खोजेगी जिसे 'पत्थर के देवता' या 'लाल टीन की छत' में से चुनाव करना पड़ेगा या बचाना पड़ेगा वह अमृतलाल नागर की तरह 'एकदा नैमिषारण्ये', 'मानस के हंस', नरेश मेहता के 'दो एकान्त', 'प्रथम फाल्गुन' जैसी रचनाएँ करेगा या सर्जनात्मकता के दबाव से सांत्वना देने वाले उपन्यासों की सृष्टि करेगा जैसे 'उत्तर कथा' (नरेश मेहता), 'अग्निबीज' (मार्कण्डेय)। यह सत्य है कि महान रचनाओं को छोड़ कर साहित्य मात्र में सांत्वना देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। सांत्वना देने की यह प्रवृत्ति सामाजिक संतुलन को बनाये रखने की इच्छा का ही परिणाम नहीं होती है बल्कि एक अर्थ में मानवीय कर्तव्य की भावना से पैदा होती है। मैं यह कदापि नहीं कहना चाहता कि हिन्दी में केवल सांत्वना के ही तत्त्वों का रचनात्मक योगदान रहा है। स्थापित संतुलन के भीतर विद्यमान लावा के उबाल की पहचान का भी प्रमाण हिन्दी उपन्यास में है जैसे 'बलचनमा' (नागार्जुन), 'राग दरबारी' (श्रीलाल शुक्ल)। सन्तुलन के खिलाफ प्रश्नचिन्ह लगाने वाले 'मुरदाघर' (जगदम्बा प्रसाद दीक्षित), 'बेघर' (ममता कालिया), 'लाल पीली जमीन' (गोविन्द मिश्र) आदि उपन्यास

भी हैं। परन्तु एक भिन्न प्रकार का संतुलन प्रस्तुत करने वाले उपन्यासों की कमी अवश्य है। इस दृष्टि से 'शेखर एक जीवनी' का उल्लेख किया जा सकता है। 'त्यागपत्र', 'शेखर एक जीवनी' और 'मैला आँचल' और 'अनामदास का पोथा' आदि ऐसे उपन्यास अवश्य हैं जिनमें उपन्यासकारों ने उपलब्ध तकनीकी विशेषज्ञताओं का प्रयोग भी किया है और स्वतः अन्वेषित भी किया है। 'शेखर एक जीवनी' में कुण्डलीबद्ध शिल्प के कारण ही व्यक्तिकरण की निर्मितियाँ संवेदना के स्तर पर प्रत्यक्ष हो सकी हैं। अहं का बोध और विलयन किस सामाजिक प्रक्रिया से संभव होता है यह उपन्यास के द्वारा ही सिद्ध हो सका है। 'मैला आँचल' में यथार्थ का परत दर परत उद्घाटन है कोई आकांक्षा नहीं है। आकांक्षारहित उद्घाटन मनुष्य को सामाजिक जीवन के केन्द्र में रख कर नहीं देखता है। वह केवल स्वरूप को देखता है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना होते हुए भी 'मैला आँचल' अपनी समग्रता में रोमांटिक मोहभंग की ही रचना है।

यह सही है कि इन उपन्यासों में प्रयोगमूल्यता और विनिमय मूल्यता के सहयोग और विरोध की राजनीतिक समझ और इनकी राजनीतिक परिणितियों का वह स्वरूप नहीं है, जो सामाजिक मनुष्य के अन्तःकरण की पहचान करा सकता है। कुछ उपन्यासों में अन्तर्व्यक्तिक सम्बन्धों की समझ का संकेत अवश्य है और मात्र इतना भी अगर है तो हायतौबा की आवश्यकता नहीं है। 'महाभोज' (मन्नू भंडारी) 'चन्द औरतों का शहर' (शैलेश मटियानी) और 'अनित्य' (मृदुला गर्ग) इस दृष्टि से विवेच्य हैं। आवश्यकता केवल लेखक को उपन्यास की दुनिया से हटाने की है ताकि अस्ति और भवति का अन्तर्विरोध दिखायी पड़ने लगे।

किसी उपन्यासकार ने कहा था कि उपन्यासकार की वस्तुओं के बीच रहना चाहिए। हिन्दी उपन्यास में प्रेमचन्द के बाद वस्तुओं के बीच में रहने को कौन कहे वस्तुओं का अभाव क्रमशः बढ़ता गया है और यह अभाव अब धीरे-धीरे अमूर्त कलाकृतियों की शक्ति लेता जा रहा है इस प्रकार की अमूर्त कला कृतियाँ जैसे 'लाल टीन की छत', 'एक चिथड़ा सुख' (निर्मल वर्मा) आदि चेतना को दीप्त तो निश्चय ही करती है परन्तु चेतना को विस्तार नहीं देती हैं। भाषा के माध्यम से अमूर्तता की सृष्टि और अन्तर्लोक का निर्माण मानवहीन दुनिया की सृष्टि की भाँति ही है। वस्तुतः कुछ उपन्यासकारों की दुनिया में ही परिवर्तन नहीं हुआ है बल्कि वस्तु शून्यता के आधार पर तो लगता है जैसे कि कुछ ज्ञानेन्द्रियों का महत्त्व ही समाप्त हो गया है। इस प्रकार के उपन्यास अकेलेपन की उस स्थिति का प्रस्तुतीकरण करते हैं जहाँ मनुष्य स्वयं समस्या हो गया है जैसे कि कुछ ज्ञानेन्द्रियों का महत्त्व ही समाप्त हो गया है। सम्बन्धहीनता की स्थिति का वर्णन 'मिस जोसुआ' के माध्यम से समझा जा सकता है। इस प्रकार के उपन्यासों को कोई चाहे तो रीतिवादी उपन्यास कह सकता है, क्योंकि इनकी समझ के लिए एक प्रकार के वर्ग-परिवर्तन की आवश्यकता ही नहीं है बल्कि एक विशेष प्रकार के शास्त्रज्ञान की भी आवश्यकता है। इनका कुल-शील विशिष्ट वर्ग का कुल-शील है जो विनिमय मूल्यता की विशिष्ट स्थिति का संकेतक है। मोहन राकेश का 'अंधेरे बंद कमरे' और राजेन्द्र यादव का 'उखड़े हुए लोग' की आन्तरिकता की ही परिणति 'लाल टीन की छत' है। संवेदनाओं के क्रमिक विनाश का खाका प्रस्तुत करने से एक ही व्यक्ति को मर्यान्तक वेदना का चित्रण और प्रस्तुतीकरण का तर्क भी बनता है।

रचनाकार की समस्या वहाँ से शुरू होती है जहाँ से वह अपनी स्थिति को सामाजिक स्थिति मात्र का पर्याय मान लेता है। अनुभव को इस तानाशाही का परिणाम साहित्य मात्र में खतरे पैदा करता है। क्योंकि इससे रचनात्मकता के नाम पर प्रलाप की गुंजाइश पैदा होती है। स्थान और समय की घुलनशीलता की कोशिश सृजन के स्तर पर एक प्रकार की चुनौती

अवश्य है और ऐसी हर चुनौती क्यों एक प्रकार की निराशा या त्रासदी में समाप्त होती है? अच्छा रचनाकार प्रतिजगत के भीतर ही इस प्रकार का नियोजन करता है कि रचना सातत्य की सत्ता के द्वारा अतीत और वर्तमान दोनों ओर प्रवाहित होती है। प्रकृति से यथार्थ प्रिय होता हुआ भी उपन्यास-यथार्थ के विभिन्न आयामों का प्रस्तुतीकरण विकसित तकनीकों के प्रयोग और नये प्रयोगों से संभव है। इसमें लोकगीतों का स्वरूप कुछ मदद दे सकता है या स्वयं लोगों की बातचीत से ही नतीजा निकाला जा सकता है। परन्तु इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी उपन्यास में नहीं किये गये हैं जहाँ कथन और दृश्य विधान या चित्रमाला से ही काल और दिक् के विभिन्न आयामों को प्रस्तुत किया गया हो। कारण यह है कि हमारा विश्वास न भाषा पर है और न वस्तु पर और बिना इन दोनों पर आस्था के यह संभव नहीं है। केवल भाषा जैसे निर्मल, और केवल वस्तु जैसे भैरव प्रसाद गुप्त से कैवल्य प्राप्त हो सकता है, प्रामाणिकता नहीं। वस्तुतः इन्द्रिय प्रत्यक्ष के वर्णन का सम्बन्ध पत्रकारिता से होता है लेकिन रचनाकार को तो शुरुआत ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष के हेतुओं के खोज की होती है। उपन्यास जब तक प्रत्यक्ष के पीछे विद्यमान हेतुओं की संकेत नहीं होता है, तब तक वर्णन सृजन नहीं बनता है। घटित होना केवल भीतरी का बाहरी होना भी है। उपन्यासकार के लिए भीतरी और बाहरी की यह पहचान आवश्यक है।

वस्तुओं में होने के साथ ही साथ वस्तुओं और जगत के बारे में हमारा दृष्टिकोण भी सृजन पर विशेष प्रभाव डालता है। संसार की असारता और सत्यता की दृष्टियों ने मध्यकालीन उपन्यासों (महाकाव्यों) पर व्यापक प्रभाव डाला है। आज भी जीवन और जगत के अनुभव से उत्पन्न विश्व दृष्टि उपन्यास की पूरी बनावट पर असर डालती है। उपन्यासों में इस प्रकार दृष्टियों की टकराहट के दिक् और काल का दायरा कम होता है। आज की परिस्थिति में जब शिक्षा और साहित्य पर चारों ओर से बौछार हो रही है और वस्तुगत प्रश्नों के माध्यम से भाषा की आवश्यकता का ही निषेध हो रहा है तब तो उपन्यासकार का दायित्व बिल्कुल ही बढ़ जाता है।

भाषा के चिन्हों में बदलने की पूँजीवादी प्रक्रिया का विरोध भाषा की तानाशाही से नहीं बल्कि पारदर्शिता से संभव है। संस्कृत (क्लैसिक्स) में भाषा की रचनात्मकता की पहचान सटीकता होती है और पूँजीवाद में अस्पष्टता। अच्छे उपन्यास में दोनों ही प्रकार की घुलनशीलता वांछनीय है। नरेश मेहता के 'उत्तर कथा' में यही सटीकता जिससे उनका उपन्यास क्लैसिक्स से भावित लगता है और यही उस उपन्यास की प्राणवत्ता है।

समकालीन उपन्यासकार को उचित और अनुकूल, सटीकता और अस्पष्टता तथा पारदर्शिता और अपारदर्शिता के मुहावरों से बचकर इनकी शक्ति का उपयोग यदि आवश्यक हो तो भरसक करना अवश्य चाहिए। इतना जरूरी है कि पारदर्शी भाषा की अपनी शक्ति होती है। उपन्यास में भाषा का बोध जितना ही हो उतना ही वह उपन्यास बेहतर होता है। औपन्यासिक शिल्प में पाठक का हाथ पकड़कर समझने का भाव ही हो तो रचना की प्राणवत्ता संदेह में पड़ती है, उसमें पाठक को नाराज करने, गुस्सा करने और पछताने का दम भी रखना चाहिए। अच्छा उपन्यासकार अपने अनुभव बीज का प्रयोग जब सृजन के लिए करता है तो वह भाषा में भी करता है। अपनी मातृभाषा के गोपनीय अंगों और रहस्यों को जब तक कोई रचनाकार एक शिशु की भाँति जान नहीं लेता है तब तक वह पूर्ण विकसित नहीं हो सकता है। और भाषा को इस रूप में जानकर ही वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म यथार्थता को समझ सकता है। हिन्दी उपन्यास में इस प्रकार की कोशिश हुई है। यद्यपि यह कोशिश सबसे अधिक आँचलिक उपन्यासकारों

ने की है, परन्तु उसका प्रयोग वे वृहत्तर संदर्भ में नहीं कर सके हैं। इस दृष्टि से साहित्य की अन्य विधाएँ भी मददगार होती हैं। अन्य विधाओं और कला माध्यमों की समझ उपन्यास में गहराई ही पैदा करती है। इन माध्यमों से तुलना करने पर ही यह बात समझ में आती है कि इस भाषा माध्यम वाली कला में भी माध्यम की साधना कितनी आवश्यक है। क्योंकि अन्य माध्यमों की तुलना में यह निरन्तर प्रयोग में रहती है। इसलिए साधना और सजगता उतनी ही आवश्यक है।

हिन्दी उपन्यास के अब तक के विकास के कारण कथा-साहित्य में कुछ 'उपन्यास समय' बन गये हैं। जिनके प्रयोग के कारण उपन्यासकार बनना आसान हो गया है। 'झूठा सच' (यशपाल), 'गिरती दीवारें' (अशक), 'तमस' (भीष्म साहनी)। 'जिन्दगीनामा' (कृष्णा सोबती), 'हुजूर दरबार' (गोविन्द मिश्र), 'गोबर गणेश' (रमेशचन्द्र शाह)। 'गुजरा हुआ जमाना' (कृष्ण बलदेव वैद), 'जुगलबन्दी' (गिरिराज किशोर) और 'उत्तर कथा' (नरेश मेहता) में इन उपन्यास समयों का प्रयोग किया गया है। पूर्वदीप्ति, चेतनाप्रवाह के आधारों ने 'शेखर एक जीवनी' के बाद कई उपन्यासों को पैदा किया परन्तु 'गोबर गणेश', 'हुजूर दरबार' आदि सभी उपन्यास उस प्रयोग में अपने नमूने से पिछड़ गये हैं। छायोपजीविता खतरनाक तो है ही। नियमों की तुलना में अपवाद का साहित्य में अत्यन्त महत्त्व है।

'हुजूर दरबार' के अंतिम अंशों में अगर जल्दबाजी न होती तो शायद रचना रूढ़ि से भिन्न हो जाती क्योंकि उसके माध्यम से वह सत्ता हस्तांतरण का मार्मिक स्वरूप और उसकी वेदना को चित्रित कर सकता था। स्मृति के माध्यम से अतीत जीवन का चित्रण करने का बहुत ही आसान रास्ता हिन्दी उपन्यास में कथानक रूढ़ि के रूप में विकसित हुआ है, जो वर्तमान को न समझ पाने के कारण नहीं बल्कि समझते हुए भी बचाव के आसान रास्ते खोजने से पैदा हुआ है। रूढ़ि विषय वस्तु और रूढ़ि वर्णन पद्धति मिलकर जिस उपन्यास समय का निर्माण करते हैं उससे मुक्ति आवश्यक है।

इस प्रकार के उपन्यासों में जीवित अतीत की क्षमता के बावजूद सृजन के मूल में, कालिकता के ऐतिहासिक दबाव के कारण ही दस्तावेजीपन विद्यमान रहता है। वस्तुतः उपन्यास में यदि पूर्वदीप्ति या कालिकता जिसका सम्बन्ध स्मृति से है, का प्रयोग किया जाय तो सार्थकता और प्रासंगिकता का परिपार्श्व आवश्यक है। इसलिए अतीत को वर्तमान के छोर से देखने की कोशिश करनी चाहिए न कि अतीत से वर्तमान को। 'उत्तर कथा' में अतीत से वर्तमान को देखने के कारण एक प्रकार का आर्षत्व विद्यमान है जो वर्तमान के सम्बन्ध में प्रव्रज्या में विलीन होता है। और मार्कण्डेय के 'अग्निबीज' में चेतना के वर्तमान स्वरूप के कारण 'उलटफेर' की कशमकश और सामाजिक संरचना की बधिया-शक्ति का संकेत मिलता है। यह नहीं कि उपन्यासमात्र इसी से महत्त्वपूर्ण होता है, बल्कि यह कि अतीत के प्रति वह चाहे कलिक उपन्यास को या चाहे मानसिक प्रवाह वाले, वर्तमान के प्रति हमारी दृष्टि के ही परिणाम होते हैं। इस प्रकार के उपन्यासों के मूल में रचनाकार की व्यक्तिवादी रुझान बड़ी प्रमुख होती है।

वस्तुतः इस प्रकार के उपन्यास-समय और वर्णनरूढ़ियाँ रचना में उपयोगिता के तत्त्व की सृष्टि करते हैं और रचनाकार को लिखने के खूनी संघर्ष से मुक्त करते हैं। जबकि आज लिखना लहलुहान होना है। वर्णन की भाषिक इकाइयों के प्रयोग का एक उदाहरण विपिन कुमार अग्रवाल के 'बीती आप बीती आप' में है। जिसमें 'परीक्षा गुरु' के समय से लेकर आज तक के उपन्यासों के कुछ भाषिक अंशों को लेकर काल और दिक् की दूरी पाटने की कोशिश की गई है। पाँप कला के आधार पर किये गये इस प्रयोग की सबसे बड़ी कमी मानव नियति

या स्थिति के प्रति दृष्टि का अभाव है। परन्तु इतना सत्य अवश्य है कि इस प्रयोग से यथार्थ के बहुआयामी स्वरूप को भाषा के विभिन्न प्रयोगों द्वारा अभिव्यक्त करने का संकेत मिलता है। क्योंकि अतीत के कई उपन्यासकारों में काल और दिक् का बोध उनके भाषा की बनावट से नियन्त्रित है।

उपन्यास एक पूर्ण संयोजित योजना का परिणाम होता है। विधा की प्रकृति उपन्यास में अत्यन्त सजग योजना को अनिवार्य मानती है। योजना यदि केवल उद्घाटन की है तो रचना बड़ी नहीं हो सकती क्योंकि सर्जनात्मकता सोद्देश्य और परिणाममुखी होती है। निरुद्देश्य रचना कला माध्यम पर अधिकार के बाद उपयोगी हो सकती है और उपन्यास-समयों के आधार पर लिखी जा सकती है। परन्तु उपन्यास समय और वर्णन रूढ़ियाँ आशु उपन्यासकारों को जन्म देती हैं। जैसे शिवानी, दीप्ति खंडेवाल आदि।

हिन्दी में इधर लघु उपन्यासों जैसे 'अनारो' (मंजुल भगत), 'छप्पर टोला' (सतीश जमाली), 'अपना मोर्चा' (काशीनाथ सिंह) आदि में ठोसपन और अछूते विषय का निर्वचन पाया जाता है। इन उपन्यासों में व्यक्ति-चरित्रों के माध्यम से निरीहता और मानवीयता के साथ-साथ उनके रूढ़िबद्ध विचारों को कुरेद कर उधरने की कोशिश एक साथ है। इस प्रकार के उपन्यासों की संख्या निश्चय ही बढ़ेगी जो अनजाने विषयों पर सघनता के साथ विलयित चेतना के विभिन्न पहलुओं का महज संकेत करना चाहेंगे। परन्तु इससे आगे एक चीज जो आवश्यक है वह है आकांक्षा। हिन्दी के अधिकांश उपन्यासों में आकांक्षा का अभाव है। सामाजिक सम्बन्धों का सम्पुंज हमारे भीतर मानव कल्याण की आकांक्षा को जन्म देता है। मानवीय आकांक्षा और सामाजिक यथार्थ की टकराहट से निर्मित औपन्यासिक संरचना ही किसी महत्त्वपूर्ण उपन्यास का सृजन कर सकती है। स्वतंत्रता और समानता आदि भी मूल्य के रूप में आकांक्षा का रूप ले सकते हैं परन्तु इस मूल्य का अनुभव संदर्भ जागतिक होना चाहिए वायवीय या पुस्तकीय नहीं।

छोटे उपन्यासों में आकांक्षा और जन संचार के सभी साधनों को दिखाने, बताने, चित्रित करने, अंकित करने, नाटकीय बनाने और विशाल दृश्य पटल के रूप में प्रदर्शित करने की क्षमता यदि किसी प्रकार समावेशित (जैसे 'कुरु-कुरु स्वाहा', मनोहरश्याम जोशी) हो सके तो निश्चय ही हिन्दी उपन्यास में उलट-फेर हो सकता है, और इसके लिए तकनीकी विशेषताओं का उपयोग तथा जातीय संसाधनों का सम्यक दोहन किया जाना चाहिए।

(नई कहानी, अंक-9, से)

## भारतीय इतिहास की पहचान और उपन्यास

---

शंभुनाथ

विकास की इस दोपहर में अत्याधुनिक मास-मीडिया पुराण और धार्मिक विश्वास के प्रचार में लगा है। राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद जैसे मामलों को जनमानस में मुख्य ऐतिहासिक विवाद के रूप में प्रतिष्ठित किया जा रहा है। जब हम इतिहास के ऐसे क्षणों के बीच खड़े हैं जब इतिहास की भयावह दुर्गति हो रही है तो सहज ही भारतीय नवजागरण के रचनात्मक दृश्य आँखों के सामने उपस्थित हो रहे हैं। उस वक्त पुराण, दरबारी वृत्त तथा अंग्रेजी शासक वर्ग की दृष्टि से लिखे जा रहे इतिहास के अंधकार को चीरकर एक प्रभावशाली सामाजिक शक्ति के रूप में राष्ट्रीय इतिहास का सूर्योदय हुआ था।

आज की तरह इतिहास उस वक्त निरुपाय न था। इतिहास की निरुपायता उस समय जाहिर होती है, जब उस जनता से ही विच्छिन्न हो जाता है जिसका वह वस्तुतः इतिहास है। दरअसल हम जिस गंभीर चुनौती के युग में जी रहे हैं अकेला इतिहास या समाजशास्त्र कुछ नहीं कर सकता। अकेला साहित्य भी कुछ नहीं कर सकता। आज जरूरत है साहित्य, इतिहास और समाजशास्त्र के संयुक्त मोर्चा की। नवजागरण के दौर में इतिहास की ऐतिहासिक पहचान नयी बौद्धिक क्रांति तथा राष्ट्रवाद की विचारधारा से प्रभावित थी। पर साथ ही वह इन्हें (प्रभावित भी कर रही थी। विवेकपरक राष्ट्रवादी इतिहास ने जनता को पुराने भ्रमों तथा पूर्वग्रहों से मुक्त किया। गुलामी पृथक्तावाद और रूढ़िवाद से लगातार संघर्षरत जनता को आत्मगौरव एकता और विवेकपरकता का सबक दिया। इतिहास विज्ञान की ही भाँति जनता की एक सामाजिक शक्ति बनने लगा। नवजागरण काल की भारतीय जनता पुराण और शासक वर्ग के मिथ्या इतिहास-प्रचार से प्रस्थान कर इतिहास में न केवल दिलचस्पी लेने लगी बल्कि यह विश्वास भी करने लगी कि अंग्रेजी राज से बहुत पहले ही उसका सांस्कृतिक इतिहास अपनी विकासयात्रा आरंभ कर चुका था।

नवजागरण के काल में भारतीय इतिहास, इतिहासदृष्टि और इतिहास लेखन अपनी विकासशील अवस्था में था। इसी प्रकार कथा साहित्य भी अपनी विकासशील अवस्था में था। दोनों के साधनों में भले फर्क हो क्योंकि एक मुख्यतः तथ्य है और दूसरा कला फिर भी दोनों को हर ऐतिहासिक युग में समान वैचारिक सामाजिक चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। यहाँ हमारा लक्ष्य इस स्थूल बहस में फँसना नहीं है कि इतिहास 'वास्तविकता' और उपन्यास 'अवास्तविकता' या 'कल्पना' पर आधारित होता है अतः दोनों में एकता कैसे स्थापित होगी और दोनों चुनौतियाँ समान कैसे होंगी। कहने वाले ने ऐतिहासिक उपन्यास को इतिहास का शत्रु तक कहा है और यह भी कि ऐतिहासिक उपन्यास कभी अच्छे उपन्यास नहीं हो सकते। हम यहाँ सिर्फ इतना ही कहना चाहते हैं कि जो ऐतिहासिक प्रेरणाएँ अन्य लोगों को इतिहास के आकर्षण में डाल रही थीं, वे कथाकारों को भी उस ओर ले जा रही थीं। सामयिक घटनाओं और विषयों के अलावा इतिहास भी एक खास युग तक कथाकारों का मुख्य आकर्षण था। इस नयी रचनात्मक प्रवृत्ति के कारण कुछ इतिहास की क्षति होती थी और कुछ उपन्यास की भी। लेकिन समग्रता में ऐतिहासिक उपन्यास की धारा ने अपने युग की कई ऐसी खास वैचारिक, सामाजिक टकराहटों को प्रतिबिंबित किया, जिनका मूल्यांकन ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से ही नहीं पुराण, धार्मिक विश्वास तथा शासक वर्ग के झूठे प्रचारों के आगे इतिहास की वर्तमान निरुपायता के संदर्भ में भी होना चाहिए।

अंग्रेजी के बहुत से लोकप्रिय ऐतिहासिक उपन्यासकारों की तरह हमारे उपन्यासकारों ने अतीत के प्रति महज रोमांसमूलक आकर्षण सामंती गौरव के प्रति मोह या बाजारू उद्देश्य से ऐतिहासिक उपन्यास नहीं लिखे। इन्होंने साम्राज्यवाद, सामंतवाद के विरुद्ध मोर्चाबंदी के लिए ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। अब भले कुछ ऐसे भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये, जो परंपरा के निषेधात्मक तत्त्वों को ही 'विरासत' के नाम पर प्रस्तुत करते हों। प्रकारांतर से साम्राज्यवाद-सामंतवाद को ही मजबूत बनाने वाले ऐसे उपन्यासों ने जनता का बड़ा अहित किया। इतिहास के नाम पर इन उपन्यासों ने अनौचित्य को भी औचित्य बना कर उपस्थित किया। इनमें बहुत पिछड़ा और घटिया इतिहासबोध है। यह घटना केवल सस्ते ऐतिहासिक उपन्यासकारों के संदर्भ में ही नहीं साहित्यकार माने जाने वाले ऐतिहासिक उपन्यासकारों के संदर्भ में भी घटित हुई। दरअसल साम्राज्यवाद का निरंतर आघात झेल रहे पिछड़े भारतीय समाज में किसी भी आधुनिक सांस्कृतिक उपक्रम का निर्णायक उच्चतर विकास के पहले ही रूढ़ियों-विकृतियों से घिर जाना पिछड़ेपन से आक्रांत हो जाना बहुत स्वाभाविक है। यह भारतीय दुर्घटना दर्शन राजनीति साहित्य हर कहीं बहुत आम है।

फिर भी आधुनिक कथाकारों की थोथी अप्यारी और तिलिस्म-प्रधान कथाओं से हटकर, इतिहास की ओर झुकाव हुआ तो इसे संस्कृतिबोध के स्तर पर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन मानना चाहिए। किशोरीलाल गोस्वामी का कहना था "पढ़ने वाले उपन्यास के साथ कुछ इतिहास का भी आनंद लें जिसमें लोगों की रुचि केवल उपन्यास पर न रहकर इतिहास की ओर झुके जिससे हिंदी भाषा में इतिहास का जो बिलकुल अभाव है वह मिटे।" ऐतिहासिक उपन्यास कभी इतिहास की जगह नहीं भर सकते थे। पर लोगों की रुचि को जो अब तक केवल धर्म दर्शन और काव्य से प्रभावित थी वास्तविकता और लौकिकता की ओर आकर्षित कर सकते थे। किशोरीलाल गोस्वामी इसी बिंदु पर देवकीनंदन खत्री जैसे कथाकारों से अलग ठहरते हैं गोकि थोड़ी मात्रा में इनके उपन्यासों में भी अप्यारी और तिलिस्म है। खैर, ऐय्यारी, तिलिस्म और जासूसी जैसी चीजों को तो आधुनिक दूरदर्शन भी बढ़ावा दे रहा है तथा लोकरुचि को यथार्थोन्मुख बनाने के साधनों को बर्खास्त करके वह यह काम आजकल विज्ञान के ढाँचे में कर रहा है। लेकिन



हिंदी के पहले ऐतिहासिक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी के युग की प्रवृत्ति तिलिस्म से वास्तविकता की ओर मिथक से इतिहास का ओर बढ़ने की थी। पश्चिमी साम्राज्यवादी चिंतन के प्रभाव में भले यही कहा जा रहा हो के उपन्यास में इतिहास का आगमन आनंद देने भर के लिए है, लेकिन इतिहास और उपन्यास की भारतीय एकता से नवजागरण का एक महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो रहा था। वह कार्य था आत्मपहचान के संघर्ष में साम्राज्यवादी इतिहास बोध के घमंड का मुँहतोड़ जवाब देते हुए प्राचीन गौरव जातीय श्रेष्ठता और मानवीय आत्मविश्वास की पुनर्प्रतिष्ठा। कथा साहित्य में भारतीय इतिहास की पहचान का आरंभिक लक्ष्य यही था। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास 'रजिया' (1915) में कहा गया है, "अपवित्र भारतभूमि का पुनः संस्कार करके अपने देश की विशुद्ध स्वाधीनता की पताका फिर से भारत के आकाश में उड़ावें।" फिर भी इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि पहले दौर के ऐतिहासिक उपन्यासकारों की इतिहास-दृष्टि पूरी तरह राष्ट्रवादी विवेकसम्मत या वैज्ञानिक हो चुकी थी।

राष्ट्रीय जागरण और स्वाधीनता-संग्राम के महान ऐतिहासिक काल में भारतीय इतिहास की खोज इस काल की नयी आकांक्षाओं और जरूरतों से प्रेरित थी। फिर भी वह औपनिवेशिक सामंती विडंबनाओं से पूरी तरह मुक्त नहीं थी। लिपिबद्ध इतिहास में अभी साम्राज्यवाद और सामंतवाद की कई विस्फोटक सुरंगें बिछी हुई थीं जो राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के विकास की लंबी प्रक्रिया में ही निष्क्रिय हो पातीं। द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण से ही इन सुरंगों का पूर्ण निष्प्रभावीकरण तथा भारतीय इतिहास की सही खोज संभव है। लेकिन जब वैचारिक और भौतिक परिस्थितियाँ इसके लिए पूरी तरह विकसित न हों तब जो सामाजिक वर्ग साम्राज्यवाद-सामंतवाद विरोधी संघर्ष में आगे रहते हैं उन सामाजिक वर्गों की विचारधारा ही लिपिबद्ध इतिहास में बिछी सुरंगों को अपनी सीमा में निष्प्रभावित करती है और राष्ट्रीय इतिहास की वैज्ञानिक तथा संवेदनात्मक खोज को बल देती है।

राष्ट्रीय जागरण और स्वाधीनता संग्राम में राष्ट्रीय पूँजीपति और मध्य वर्ग अगुआ थे। उनकी विचारधारा थी द्वंद्वात्मक आदर्शवाद। अतः उस दौर के इतिहासलेखन तथा ऐतिहासिक उपन्यासों पर यही विचारधारा हावी थी। इतिहास कभी पूर्ण विज्ञान नहीं बन सकता। इसलिए वस्तुपरक विश्लेषण के बावजूद इतिहास विचारधारा से बच नहीं सकता। साम्राज्यवाद और सामंतवाद उस जमाने में भी भारतीय अतीत की खास तरह की व्याख्याओं को नाना ढंग से प्रोत्साहन दे रहे थे। इन व्याख्याओं से नवजागरण और राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के दौर के द्वंद्वात्मक आदर्शवाद को संघर्ष करना पड़ा। अतीत की साम्राज्यवादी-सामंतवादी व्याख्याओं का असर हम प्रायः सभी ऐतिहासिक उपन्यासकारों में पाते हैं। किशोरीलाल गोस्वामी, चतुरसेन शास्त्री में यह असर बहुत अधिक है। रांगेय राघव, राहुल सांकृत्यायन तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी में यह असर बहुत अधिक न होते हुए भी बरकरार है। वृंदावनलाल वर्मा में यह असर बहुत थोड़ा है। साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने ही यह धारणा फैला रखी थी कि वर्ण व्यवस्था पर आधारित भारतीय समाज सदियों तक एक अवरुद्ध और अपरिवर्तनशील समाज रहा है। भारतवासियों के आलस्य तथा जीवन के प्रति भाग्यवादी दृष्टिकोण के कारण यह अवस्था रही है। आज रामविलास शर्मा दिखाते हैं कि व्यापारिक पूँजीवाद चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' के युग में भी था और आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों वाला समाज काफी पहले टूट चुका था। रांगेय राघव एवं राहुल सांकृत्यायन तो यह सब उनसे भी आगे बढ़कर दिखाते हैं और वर्ग-संघर्ष भी रेखांकित करते हैं फिर रामविलास शर्मा इन दोनों का ऐतिहासिक योगदान क्यों नकारते हैं। ये उपन्यासकार 'एशियाई निरंकुशतावाद' की अवधारणा को ठुकराकर प्राचीन युगों की गणतांत्रिक व्यवस्था ('मुर्दों का टीला', 'मधुर स्वप्न' या 'जय यौधेय') का चित्र अंकित करते हैं। राहुल सांकृत्यायन

चौथी सदी के आसपास के ऐतिहासिक समय पर आधारित अपने उपन्यास 'जय यौधेय' (1944) में लिखते हैं, 'मैं भारत खंड को इसी तरह स्वतंत्र गणों का स्वच्छंद संघ देखना चाहता हूँ।' पुरुषों के हाथ से शासन-सूत्र लेकर स्त्रियाँ घोषणा कर देती हैं आज से सारे खेत सारा गाँव सारे मकान का मालिक सारा जनगण है। जहाँ सबको अपने लायक काम करना होगा और सबके खाने-कपड़ों का प्रबंध गण की ओर से होगा। रांगेय राघव तथा राहुल सांकृत्यायन मार्क्सवादी होकर भी अपने अंदर के धार्मिक संस्कारों के कारण द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के ऐतिहासिक और रचनात्मक विनियोग में बहुत सफल नहीं होते। वे सामंती एवं बुर्जुआ तत्त्वों की ओर अपने रुझान का परिचय तो देते ही हैं अनेक जगहों पर विश्वसनीयता भी खो देते हैं। फिर भी यह कहना बिल्कुल अन्याय होगा कि इनके काम जनता की प्रगतिशील आकांक्षाओं का जरा भी प्रतिनिधित्व नहीं करते।

उपनिवेशवादियों ने सांप्रदायिक और पृथकतावादी तत्त्वों को प्रोत्साहित करने के लिए हिंदू और मुसलमान नजरिये से इतिहास लिखाया। उन्होंने आर्य और अनार्य के बीच भी दीवार खड़ी की। एक अखंडित समाज को परस्पर दुश्मन-समूहों में बाँटकर अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने ऐसा किया। इस तरह से लिखे गये इतिहास को पढ़कर ये समूह अपनी राजनैतिक-सांस्कृतिक पृथकता के लिए उत्तेजित हो जाते हैं। वर्तमान भारतीय समाज के पृथकतावादी तत्त्व नव औपनिवेशिक असर में अपना इतिहास राष्ट्रीय इतिहास से अलग कर रहे हैं। भारतीय इतिहास में हिंदू काल और मुस्लिम काल जैसे नामकरण भी इसी उद्देश्य से प्रेरित रहे हैं। राणाप्रताप और शिवाजी को हिंदुओं का नायक तथा गजनबी और औरंगजेब को मुसलमानों का नायक बनाकर पेश करने की प्रवृत्ति रही है। सांप्रदायिक सौहार्द तथा एकता की धारणा की बिकूल विकासशील अवस्था में बंकिमचंद्र के 'आनंदमठ' में सांप्रदायिक उत्तेजनाएँ ऐतिहासिक कारणों से स्वाभाविक हैं। लेकिन हाल में इस उपन्यास का अंध समर्थन सांप्रदायिक उद्देश्य से प्रेरित था। पिछले दिनों हिंदी में पुराणों का औपन्यासिक आधुनिकीकरण भी हुआ।

वृंदावनलाल वर्मा ने एक विकसित नजरिए से इतिहास को देखा था। ऐतिहासिक उपन्यास-रचना में इतिहास-दृष्टि का विकास राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के विकास से जुड़ा हुआ था। अतः किशोरीलाल गोस्वामी की इतिहास-दृष्टि से वृंदावनलाल वर्मा की इतिहास-दृष्टि विकसित होती है। इन्होंने इतिहास को सांप्रदायिक और पृथकतावादी दृष्टि से नहीं देखा। दूसरे, इतिहास को तथ्यों का सूखा बंडल नहीं माना। उन्होंने इसकी अंतरात्मा का संगीत सुनकर उस निरंतरता की खोज की जो उनके युग के आंदोलित समाज के बदलाव को बल देने वाली हमारी विरासत थी। उनकी दृष्टि में "सामाजिक सृजन में ऐतिहासिक उपन्यास काफी हाथ बँटा सकते हैं यदि ऐतिहासिक उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं का भी समावेश हो।" इसलिए इतिहास-रस से अधिक उनका ध्यान इतिहास-दृष्टि पर था। इस संदर्भ में उन्होंने अतीत के प्रति आभिजात्य दृष्टि को चुनौती दी। इतिहास के अलावा जनश्रुतियों की सकारात्मक परंपरा तथा राजनीति के अलावा लोकजीवन की ओर उनका व्यापक ध्यान गया। इसका असर उनके उपन्यास की भाषा पर भी पड़ा। सामाजिक चेतना जागृत करने वाले उनके 'गढ़कुंडार' (1927), 'कचनार', (1946), 'मृगनयनी' (1950) जैसे उपन्यास जितने गहरे सौंदर्यात्मक आस्वाद से भरे हुए हैं, उतने ही व्यापक तौर पर पठनीय भी हैं। यह खूबी हिंदी के किसी दूसरे ऐतिहासिक उपन्यासकार में नहीं है, हजारी प्रसाद द्विवेदी में भी नहीं।

केवल कथा का वर्णन कर देने से कोई उपन्यासकार महान नहीं होता। वह महान होता है इतिहास के प्रति अपनी संगत आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि के कारण। इतिहास के प्रति आलोचनात्मक स्तर पर लोकवादी-जातीय अंतर्दृष्टि के कारण ही वृंदावनलाल वर्मा ऐसे उपन्यास

लिख सके, जिनमें सामाजिक चेतना के साथ इतिहास की गहरी समझदारी भी है। औपनिवेशिक इतिहास-लेखन के षड्यंत्रों को उन्होंने बखूबी समझा था। ‘उपन्यास कैसे लिखे गये?’ शीर्षक अपनी टिप्पणी में उन्होंने लिखा है, “अंग्रेजी में लिखा मार्स इन कृत भारतवर्ष का इतिहास पढ़ाया जाता था। उसमें पढ़ा कि भारत गरम मुल्क है। इसीलिए यहाँ के निवासी कमजोर हैं और इसी कारण वे बाहर से आये ठंडे देशों के मुकाबले हारते चले गये। ...मेरा रोम-रोम जल उठा। राम, कृष्ण, अर्जुन के देशवासी कमजोर और वे सदा अंग्रेजों के गुलाम बने रहेंगे। पुस्तक का सफा नोच डाला। मैंने उस दिन गाँठ बाँधी कि खूब पढ़ूँगा और सही बातों का पता लगाकर कुछ लिखूँगा भी।” अपने समय की ऐतिहासिक जरूरत को जाने बिना किसी में इतिहास की समझदारी नहीं आ सकती। अतीत के बिंबों में वर्तमान भी झँकता है और वर्तमान के बिंबों में अतीत के रेशे भी होते हैं। इस प्रकार अतीत से अतीत को नहीं जाना जा सकता। अतीत से अतीत को जानने का प्रयत्न अतीतवाद है, जो पुनरुत्थानवाद का एक प्रमुख हथियार है।

एक उपन्यास है ‘सोमनाथ’। इस पर किसी एक ने टिप्पणी की है, “सोमनाथ उपन्यास में मंदिर पर विदेशी और विजातीय द्वारा आक्रमण की घटना का वर्णन पढ़ने से हमारी भुजाएँ फड़क उठती हैं।” ऐतिहासिक उपन्यास के रास्ते से ऐसे खतरे भी उठते हैं। तब उपन्यास के पन्ने केवल भुजाएँ फड़काने के लिए रंगे जाते हैं। वृंदावनलाल वर्मा ने पुनरुत्थानवाद के ऐसे किसी भी तत्त्व को अपने उपन्यास के पास फटकने नहीं दिया। उन्होंने भरसक उन जातियों वर्गों एवं समुदायों में एकता के संवदेनात्मक अंतःसूत्र ढूँढने का प्रयास किया, जिनके बीच उपनिवेशवाद वैर और फूट पैदा करने की कोशिश कर रहा था।

उन्होंने ‘भृगनयनी’ में साफ ढँग से दिखाया कि सिकंदर लोदी वधर्रा और गयासुद्दीन-ये तीनों मुसलमान होकर भी आपस में दुश्मन हैं। हिंदू राजा आपस में लड़ते हैं। दोनों पक्षों में हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों के सैनिक हैं। ‘झाँसी की रानी’ (1846) में लक्ष्मीबाई के शौर्य के साथ उन्होंने यह भी दिखाया कि 1857 के स्वाधीनता संग्राम में हिंदुओं-मुसलमानों में कितना मेल था। लक्ष्मीबाई अपने सैनिक खुदाबख्श गुलाम गौस और मोतीबाई की शहादत पर रो पड़ती हैं। ‘सोती आग’ उपन्यास में शेर अफगन बादशाह सलामत की परवाह किये बिना शुभकरण और उसके हिंदू सिपाहियों को शरण देता है और धर्मोन्मादी मुसलमानों के स्वार्थों की निंदा करता है। 1729 में दिल्ली में हुए दंगों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में वृंदावनलाल वर्मा धर्मनिरपेक्षता की मध्ययुगीन परंपरा उद्घाटित करते हैं। ऐतिहासिक उपन्यास अंततः उपन्यास होने के कारण इतिहास का अतिक्रमण करता है। अतः वह बिलकुल इतिहास है या नहीं यह नहीं देखकर यह देखना चाहिए कि उसमें इतिहास की कोई दृष्टि है या नहीं।

भारतीय सामंती समाज में पृथकता के अनेक स्तर ऐसे भी हैं, जिनका पोषण धर्म करता है। वृंदावनलाल वर्मा की लोकवादी जातीय अंतर्दृष्टि लोकजीवन की गतिमयता और गहराई से क्षमता अर्जित करके ऐसी अनेक रूढ़ियों और पृथकताओं को चुनौती देती है जिनसे भारतीय समाज की अखंडता पर संकट पैदा होता है। ‘गढ़कुंडार’ में ऊँच-नीच की भावना तथा जातिवाद का विरोध है और अंतर्जातीय विवाह का समर्थन है। ‘कचनार’ प्रणय कथा के साथ नारी-जागरण से भी जुड़ा हुआ है। वर्मा जी लिखते हैं “तुम्हारी कचनार सरीखी स्त्रियाँ घर-घर हो जायें तो घर-घर उजाला हो जाये।” ‘भृगनयनी’ में पुजारी के शास्त्र की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने दिखाया है कि जो बोधन पुजारी राजा मानसिंह तोमर और गुजर लड़की निन्नी के विवाह को शास्त्रसम्मत मानता है वह अटल (गूजर) और लाखी (अहीर) के विवाह का विरोध करता है। चाहे धर्मनिरपेक्षता और लौकिकता का प्रवर्तन हो या अंतर्जातीय विवाह और जातिवाद-विरोध का वृंदावनलाल वर्मा के ये काम अलग घटनाएँ नहीं हैं। ये उनके युग की संपूर्ण चेतना के अंग हैं। उनके

ऐतिहासिक उपन्यास भारतेन्दु प्रेमचंद और प्रसाद की परंपरा से जुड़े हुए हैं और भारतीय नवजागरण तथा स्वाधीनता संग्राम की अधिव्यक्ति है।

साम्राज्यवादी इतिहासकारों को ही नहीं, 'द गोल्डन वाउ' के फ्रेजर जैसे लेखकों और कार्ल युंग जैसे मनोवैज्ञानिकों को भी लगता था कि वे भारत को जादू, तंत्रमंत्र, ज्योतिष और गुह्य साधनाओं का देश कहकर वस्तुतः उसे गौरव दे रहे हैं। विवेकानंद ने तो पश्चिम बनाम पूर्व का झगड़ा भौतिकता बनाम आध्यात्मिकता के आधार पर ही खड़ा किया था। इस प्रकार देश के बाहर और भीतर दोनों तरफ से एक लंबे काल तक भारत की एक खास ऐतिहासिक छवि बनाने का प्रयास हुआ जिससे इतिहासकार और उपन्यासकार दोनों प्रभावित हुए। वैज्ञानिक पद्धति से तंत्र-मंत्र ज्योतिष और गुह्य साधनाओं को तार्किक आधार देने या महिमामंडित करने का भी प्रयत्न हुआ। खुद हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचंद्र लेख' में ऐसा किया। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में वाभ्रव्य मानों आँखों देखा सत्य बयान कर रहा हो "जैसे-जैसे हम भीतर प्रवेश करते गये वैसे-वैसे दशभुजा मूर्ति में परिवर्तन दिखाई देने लगा। अंत में हम लोग उस युवक तपस्वी के पाम पहुँचे तो मूर्ति एकदम परिवर्तित होकर महामाया रानी बन गयी। आश्चर्य और भय के मारे मैं चिल्ला उठा। महाराज भी आश्चर्य से हतबुद्धि हो रहे योगी ने फिर से ललकारा क्या देखते हो महाराज देवी को प्रणाम करो तुम्हारे सभी अमंगल दूर होंगे।" इतिहास के साथ जादुई मायाजाल का मिश्रण केवल उपन्यासकार की अपनी 'इंरेशनलिटी' नहीं है। यह भारतीय सामाजिक विकास के साथ धुन की तरह चिपकी वह चीज है जिसकी मुख्य प्रेरणा है भारतीय अतीतवाद। हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रगतिशीलता की ओर बढ़कर भी भारतीय अतीतवाद का आंतरिक आक्रमण नहीं झेल पाते।

उनकी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में बाणभट्ट की गूढ़ स्वच्छंद प्रेम-भावना रूढ़ नैतिक बंधन से छटपटाहट, लोकपरकता, स्वाभिमान और निर्भयताये सभी केवल हजारी प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व के प्रक्षेपण नहीं हैं जैसाकि विद्यानिवास मिश्र कहते हैं, न द्विवेदी जी के इतिहासबोध का स्रोत महज 'प्रकृति का नैसर्गिक लय' है जैसा कि निर्मल वर्मा खोज निकालते हैं (आलोचना-49)। ये तो द्विवेदी जी के अपने विकसित ऐतिहासिक समय के प्रक्षेपण हैं, जो परंपरा की भी पहचान कराते हैं, ताकि विकास के साथ नैरंतर्य का भी अहसास हो। हाँ, सामंती कला-विनोदों एवं गुह्य साधनाओं का द्विवेदी जी जिस तरह आत्मविमुग्ध होकर वर्णन करते हैं वह जरूर उनके व्यक्तित्व के एक खास पहलू को उभारता है तथा भारतीय अतीतवाद के प्रति उनके 'नास्टलेजिक' रुझान को व्यक्त करता है।

साधारण लोक के संदर्भ में एक जगह उन्होंने लिखा है, "क्यों भट्ट, ऐसा क्या नहीं हो सकता कि ऊँची भारतीय साधना उन तक पहुँचाई जा सके और निकृष्ट सामाजिक जटिलता यहाँ से हटायी जा सके? जब तक दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो जातीं तब तक शाश्वत शांति असंभव है।" निःसंदेह यह समझना होगा कि द्विवेदी जी हिंदू धर्म और साधना के मार्ग से आकर ऐतिहासिक समय की आकांक्षाओं से जुड़े विवेकपरकता की ओर बढ़े। उनका इतिहासबोध विकासशील था। वह 'ब्राह्मण' से 'व्यक्ति' और व्यक्ति से आधुनिक 'लोक' का अंग होने की प्रक्रिया में थे। दूसरी ओर विज्ञान और आधुनिकता की प्रक्रिया से आये निर्मल वर्मा ने 'लोक' का अंग होने को तो 'रेजीमेशन' माना ही, इधर वे 'व्यक्ति' से 'हिंदू' होने में ज्यादा गौरवबोध करने लगे हैं। इसी तरह '47 के पहले का 'द्वंद्वात्मक आदर्शवाद' डॉ. विद्यानिवास मिश्र की धारा में जड़ नकारात्मक आदर्शवाद में 'रिड्यूस्ड' हो चुका है। विद्यानिवास मिश्र आचार्य द्विवेदी की बाद की पीढ़ी के होकर भी सांस्कृतिक बोध के स्तर पर उनसे बहुत अधिक पिछड़े हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी का तो भारतीय अतीतवाद के प्रति सिर्फ झुकाव है, विद्यानिवास जी तो

पूरी तरह भारतीय अतीतवाद के प्रतिरूप ही हैं और इसमें क्या आश्चर्य यदि निर्मल वर्मा और विद्यानिवास मिश्र दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हो जाएँ। दोनों ने हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहासबोध की उपेक्षा की, क्योंकि दोनों का इसमें दम घुटता है। दोनों इतिहास के अहसास से एक ऐसे अहसास की ओर छलौंग लगाना चाहते हैं जो देशकाल से परे हो। बल्कि विकासशील देशकाल का जितना कम ध्यान रखो, उतना ही अच्छा है। पुनरुत्थानवाद और आधुनिकतावाद का यह अद्भुत मिलाप बिंदु है।

ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन के क्षेत्र में एक अन्य खास प्रवृत्ति का रेखांकन जरूरी है। प्रायः सभी भारतीय जातियों में नवजागरण तथा स्वाधीनता-आंदोलन के दौरान स्वतंत्रता और नवनिर्माण की जो नयी भावना पैदा हुई इसके फलस्वरूप क्षेत्रीय जातीय इतिहास के गौरवमय अध्यायों की खोज की प्रवृत्ति भी पैदा हुई। ऐतिहासिक उपन्यास में व्यापक राष्ट्रीय इतिहास की पहचान के साथ इस क्षेत्रीय जातीय इतिहास की खोज का एक खास अर्थ है। कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी ने 'जय सोमनाथ' लिखा और अपने उपन्यासों में गुजरात का वैभव पेश किया। बंकिमचंद्र ने बँगला जाति के ऐतिहासिक को उभारने वाले ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। हरिनारायण आपटे ने महाराष्ट्र के वैभव का चित्र अंकित कर मराठी स्वाभिमान को उभारा। नागेश विनायक वापट ने 'बाजीराव साहेब', 'संभा जी' जैसे उपन्यास लिखे। तेलुगू कथाकार भोगराज नारायणमूर्ति ने 'अंधभयमु' में विजयनगर साम्राज्य के पतन के संदर्भ में रामराज के शौर्य, न्याय, उदारता आदि गुणों का चित्र खींचा। तमिल लेखक कल्कि ने अपने एक उपन्यास में नरसिंह पल्लव से संबंधित तमिलनाडु की कहानी लिखी। वृंदावनलाल वर्मा के बारे में सभी जानते हैं कि उन्होंने बुंदेलखंड की प्रकृति और ऐतिहासिक घटनाओं के प्रति अत्यधिक आसक्ति का परिचय दिया। 'मृगनयनी' में राई नदी के प्रति आसक्ति जिस तरह व्यक्त हुई है वह एक खतरनाक आसक्ति है।

जातीय गठन को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देने वाले रामविलास शर्मा, वृंदावनलाल वर्मा के बुंदेलखंडी झुकावों पर बहुत मुग्ध होते हैं। वर्मा जी की मुख्य चेतना राष्ट्रवादी-लोकवादी है पर उनका 'नास्टलेजिक' रुझान क्षेत्रीय जातीय चेतना के संदर्भ में खुलकर व्यक्त होता है। कोई कह सकता है कि ऐसे झुकावों के बिना उनके उपन्यासों में इतना खरापन और सोंधापन नहीं आता। कोई यह भी कह सकता है कि जातीय वीरों और विरासत का कथात्मक आभिनंदन स्वाधीनता-संग्राम में सक्रिय देश की विभिन्न जातियों (नेशनलिटीज) की स्वतंत्रता और नवनिर्माण की आकांक्षा की ही ऐतिहासिक प्रतिध्वनि है। पर इस प्रतिध्वनि में क्षेत्रीय जातीयतावाद के ऐसे तत्त्व भी मौजूद थे जो आज अत्याधुनिक विकास की इस खास मंजिल पर पृथकतावाद को प्रोत्साहन दे रहे हैं तथा राष्ट्रीय अखंडता के लिए खतरा बन रहे हैं। गनीमत है कि ऐतिहासिक उपन्यास-लेखन के दौर में ये तत्त्व उतने प्रबल नहीं थे क्षेत्रीय जातीय रुझानों के बावजूद तब राष्ट्रीय अखंडता की धारणा ही अधिक प्रबल थी।

ऐतिहासिक विरासत को आधार बनाकर लिखने वाले ऐतिहासिक उपन्यासकार अंततः ऐतिहासिक विरासत के होकर ही रह गये। समकालीन जीवन के नये संदर्भ में आगे वे कोई भूमिका नहीं निभा सके। इसलिए ऐतिहासिक उपन्यासों की धारा अब 'सरस्वती' की तरह सूख चुकी है। उन्हें पढ़ने के प्रति भी रुचि घट चुकी है। दूसरे, पुराण भी एक शक्ति है वह दुर्भाग्यवश इतिहास को पछाड़ रहा है। आज के संदर्भ में वे उपन्यास ऐतिहासिक महत्त्व के हैं, जिनमें जीवन का बिंब एक संगतपूर्ण और ऐतिहासिक आलोचनात्मक अंतर्दृष्टि के साथ व्यक्त हुआ है, भले ऐसे उपन्यास सुदूर अतीत की कथा पर आधारित न हों।

(‘दूसरे नवजागरण की ओर’ नामक पुस्तक से)

## हिंदी उपन्यास : एक सबाल्टर्न प्रस्तावना

वीरेन्द्र यादव

हिन्दी उपन्यास के सन्दर्भ में आँचलिकता की चर्चा प्रायः ग्राम्यांचल के किसी हिस्से की लोकसंस्कृति, रीति-रिवाज, बोली-बानी व सामुदायिक जीवन के चित्रण तक सीमित होकर रह जाती है। आँचलिकता को शुद्ध प्रकृतवाद में घटाकर देखने का ही परिणाम है कि 'मैला आँचल' एवं 'आधा गाँव' सरीखे श्रेष्ठ उपन्यासों को भी अपने देशकाल के वृहत्तर सरोकारों से काटकर महज उसके रूपवादी ढाँचे एवं भाषायी कौशल की आस्वादपरक बहस तक केन्द्रित कर दिया जाता है, उसी में अक्सर अन्तर्गुम्फित होती है समाज की परिचालक शक्तियों की पहचान एवं गतिशील तत्त्वों की पकड़। दरअसल आँचलिकता की सीमाओं का अतिक्रमण करके उसे नई अर्थवत्ता प्रदान करता है लेकिन इस अर्थवत्ता की तलाश के लिए जरूरी है आँचलिकता का एक भिन्न-पाठ वरना 'मैला-आँचल' को मिथिलांचल के जीवन्त वर्णन, 'आधा गाँव' को शिया-समुदाय के रीति-रिवाजों, 'डूब' व 'इदन्नमम्' को बुन्देलखण्ड की बोली-बानी व 'मुखड़ा क्या देखे' को अल्ली चूड़ीहार की कहानी के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहेगा।

आँचलिक उपन्यासों का भिन्न-पाठ जरूरी इसलिए भी है कि प्रायः इनमें किन्हीं विशेष चरित्रों, स्थितियों या समस्याओं का उद्घाटन न होकर एक सम्पूर्ण कालखंड अंचल के बहाने, उद्घाटित होता है। 'नदी के द्वीप' की तर्ज पर न तो इनमें रेखा, भुवन व चन्द्रमाधव सरीखे पात्रों की केन्द्रीयता होती है और न 'मुझे चाँद चाहिए' की तर्ज पर वर्षा वशिष्ठ जैसे पात्रों की 'सिंथेटिक' तराश। यहाँ नायकत्व कुछ पात्रों का न होकर 'समय' विशेष का होता है। शायद इसीलिए राही मासूम रजा 'आधा गाँव' को 'गंगोली' से गुजरने वाले 'समय' की कहानी कहते हैं।

तो क्या होगा, भिन्न पाठ समय की इस कहानी का? शायद वही जो नायकत्व से विहीन इतिहास का होता है जिसे अब इतिहास अध्ययन की 'सबाल्टर्न' (निम्नवर्गीय प्रसंग) पद्धति के रूप में जाना जाता है। इटली के मार्क्सवादी विचारक एंतोनियो ग्राम्शी ने जब प्रभुत्वकारी

वर्ग के समानान्तर 'सबाल्टर्न' की परिकल्पना की थी तो शायद ही सोचा होगा कि उत्तर-आधुनिक समय में यह एक उत्तर-मार्क्सवादी अध्ययन पद्धति होगी। भारत जैसे पारम्परिक एवं बहुलवादी संरचना वाले समाज को समझने में यह दृष्टि अधिक कारगर इसलिए है कि यह अभिजन और निम्नजन की दो अलग-अलग पटरियों पर न टकेलकर उन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, आश्रय, और द्वन्द्व के माध्यम से सामाजिक विकास की प्रक्रिया को दर्ज करती है। यह पद्धति अभिजन के दायरे से बाहर जाकर आम जनता, गरीब किसान, कामगार, मजदूर, दलित जातियों, स्त्री-समाज आदि की जैविक आवश्यकताओं तक ही सीमित न रहकर, वृहत्तर समाज से उनकी वैचारिक आवाजाही और टकराहट को भी दर्ज करती है।

भारतीय सामाजिक सन्दर्भ में 'सबाल्टर्न' पद्धति से गुजरते हुए 'मैला आँचल' (फणीश्वरनाथ 'रेणु') एवं 'आधा गाँव' (राही मासूम रजा) के साथ-साथ 'अलग-अलग वैतरणी' (शिवप्रसाद सिंह), 'डूब' (वीरेन्द्र जैन), 'इदन्मम्' (मैत्रेयी पुष्पा) व 'मुखड़ा क्या देखे' (अब्दुल विस्मिल्लाह) विशेष रूप से याद आते हैं। यूँ तो उपन्यास और भी हैं लेकिन यह चर्चा उन्हीं उपन्यासों पर केन्द्रित है जिनमें इतिहास व समाज के 'निम्नवर्गीय प्रसंग' (सबाल्टर्न) वृहत्तर समाज के साथ सीधे-सीधे मुठभेड़ की मुद्रा न अपनाकर भी अपनी चेतना के बदलाव की प्रक्रिया को उद्घाटित करते हैं, लेकिन यह प्रक्रिया हमेशा ऊर्ध्वगामी न होकर, अक्सर अधोगामी भी होती है। लेनिन का 'एक कदम आगे, दो कदम पीछे' का सिद्धान्त यहाँ बखूबी लागू होता है। संयोग नहीं है कि यहाँ सन्दर्भित सारे उपन्यास ग्राम केन्द्रित हैं क्योंकि भारतीय समाज का कोई भी अध्ययन विशेषकर 'सबाल्टर्न' अध्ययन ग्राम केन्द्रित हुए बिना पूर्ण नहीं हो सकता। आखिर वर्णों में बँटे 'सबाल्टर्न' अध्ययन ग्राम केन्द्रित हुए बिना पूर्ण नहीं हो सकता। आखिर वर्णों में बँटे भारतीय समाज एवं 'पाँचवे वर्ण' की नियति को प्राप्त स्त्री की दशा एवं दुर्दशा की चर्चा ग्रामीण समाज के बिना कैसे सम्भव है।

सम्भवतः इसीलिए सुविख्यात समाजशास्त्री एम. आर. श्रीनिवास को 'यादों से रचा गाँव' एवं श्यामचरण दुबे को 'भारतीय गाँव' जैसे समाजशास्त्रीय अध्ययन करने पड़े। अपने गाँव की पुनर्खोज के बहाने पत्रकार अरविन्द एन. दास. ने 'चंगेल' शीर्षक से अंग्रेजी में आज के बदलते गाँव की एक तस्वीर पेश की है; लेकिन इन सारे समाजशास्त्रीय अध्ययनों की तुलना में हिन्दी के ये पूर्व सन्दर्भित उपन्यास अधिक प्रासंगिक लगते हैं। इस संदर्भ में समाजशास्त्री श्यामचरण दुबे की यह स्वीकारोक्ति यहाँ उल्लेखनीय है कि "...रेणु के उपन्यास समाज वैज्ञानिक दस्तावेज नहीं हैं, पर ग्रामीण जीवन को जिस सूक्ष्मता से उन्होंने देखा है, बहुत से समाजशास्त्रियों के लिए कठिन है।" शायद इसका कारण यह है कि सर्वेक्षणों, आँकड़ों एवं सैद्धान्तिक निष्पत्तियों का सहारा लेकर समाजशास्त्री जिस सामाजिक रूप का मानकीकरण करता है, अक्सर उसका व्यावहारिक रूप भिन्न होता है। उपन्यासकार हाड़-मांस के चरित्रों के माध्यम से सहज-बोध का सहारा लेकर वास्तविक जीवन-स्थितियों का पुनः सृजन करता है, जो भले ही प्रातिनिधिक यथार्थ न हो, लेकिन समाज की दर्पण-छवि अवश्य होता है। इसलिए समाजशास्त्रीय अध्ययन की तुलना में यह अधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय लगता है।

लेकिन, फिर भी डॉ. रामविलास शर्मा 'मैला आँचल' को खारिज करते हैं तो क्यों? इसलिए कि "जनता और उसकी राजनीतिक कार्यवाही में उसकी ('मैला आँचल' के लेखक की) आस्था नहीं है। उसे लोकसंस्कृति प्रिय है, किन्तु इस संस्कृति के रचने वालों में उसे कहीं प्रकाश की किरणें नहीं दिखाई देती... ('मैला आँचल' में) जनता के अन्धविश्वासों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया है, जमींदार के अत्याचारों को कम करके पेश किया गया है, राजनीतिक पार्टियों के दोषों

के अतिरिक्त और गुणों को नजरअन्दाज किया गया है...”(‘आस्था और सौन्दर्य’, पृ. 124) डॉ. रामविलास शर्मा के ‘मैला आँचल’ के सम्बन्ध में ये निष्कर्ष कठोर ही नहीं बल्कि अतार्किक और उपन्यास के कुपाठ का ही परिणाम हैं। यहाँ बाल्जाक के सम्बन्ध में एंगेल्स द्वारा कहीं गई यह बात याद आती है कि “यथार्थवाद लेखक के विचारों के बावजूद प्रकट हो सकता है।” यहीं साँचे-ढली वर्गीय समझ नाकाफी लगती है और समाज-अध्ययन की ‘सबाल्टर्न’ पद्धति मददगार सिद्ध होती है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि जिसे डॉ. रामविलास शर्मा लेखक की दृष्टिहीनता या दृष्टि की सीमा करार देते हैं, कहीं वह भारतीय ग्राम्य समाज की अपनी सीमा तो नहीं है। यहाँ ‘मैला आँचल’ का सहदेव मिसिर व फुलिया प्रसंग और ‘आधा गाँव’ का सुलैमान व झंगटिया बो प्रसंग द्रष्टव्य है। सहदेव मिसिर फुलिया चमाइन के घर में एक रात चमार टोली में पकड़े जाते हैं। भरी पंचायत में फुलिया कहती है “हमको कुछ नहीं मालूम, जब आँगन में हल्ला होने लगा तब मेरी आँख खुली।” फुलिया के पिता महँगूदास का वक्तव्य भी सहदेव मिसिर का बचाव ही करता है। क्यों? इसलिए कि “सहदेव मिसिर के पास महँगूदास के अँगूठे का टीप हैसादा कागज पर। महँगू की टीका (चुटिया) सहदेव के हाथ में है। सहदेव जो चाहे कर सकता है। दोनो गाँवों और चारों बाछें कल ही खूँटे से खोलकर ले जाएगा। इसके अलावा साल भर का खर्चा भी तो सहदेव ने ही चला दिया है। एक आदमी की मजदूरी से तो एक आदमी का भी पेट नहीं भरता है...लेकिन अब फुलिया के हाथ में ही सहदेव मिसिर की इज्जत और अपने बाप की दुनियाँ है, उसकी बोली में जरा भी हेर-फेर हुआ कि सहदेव की इज्जत धूल में मिल जाएगी और उसके बाप की दुनियाँ भी उजड़ जाएगी।” (‘मैला आँचल’, पृ.116)

इसी क्रम में ‘आधा गाँव’ में सुलैमान और झंगोटिया बो का यह प्रसंग “...वह झंगोटिया बो ही कही जाती थी। झंगोटिया से जब उसका ब्याह हुआ था, तो वह अठारह साल की थी और वह पाँच साल का। फिर ऐसा हुआ कि चेचक निकल आई और वह बेवा हो गई और सुलैमान चा ने उसे अपने घर में डाल दिया। कहते हैं चमार चढ़ आए थे। और यह भी कहते हैं कि फुन्नन मियाँ ने बड़ी मुश्किल से उन्हें समझा-बुझाकर और कुछ दे-दिलाकर वापस किया था।” (पृ. 42) इसी शिवप्रसाद सिंह के उपन्यास ‘अलग-अलग वैतरणी’ में सुगनी चमाइन और ठाकुर सुरजू सिंह प्रसंग जिसमें चमार ठाकुर सुरजू सिंह को सुगनी की कोठरी में घेर लेते हैं लेकिन जब सुरजू सिंह कोठरी से निकलते हैं तो, “कोई कुछ न बोला। एक चुप्पी सब जगह छा गई थी। अब तक सभी जिसे देखने के लिए हो-हल्ला मचाए थे, चीख-चिल्लाहट थी, अब वही सामने था, तो सभी खामोश थे। लगता था जैसे भीड़ की ताकत को अपनी बेशर्मी से सुरजू सिंह ने सोख लिया है और सुरजू सिंह की शरम और ग्लानि को भीड़ ने अपने ऊपर ओढ़ लिया है।” (अलग-अलग वैतरणी’, पृ. 519)

‘मैला आँचल’, ‘आधा गाँव’ और ‘अलग-अलग वैतरणी’ के इन उद्धृत प्रसंगों को लेकर डॉ. रामविलास शर्मा की तर्ज पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि दलित और राजनीतिक चेतना में इन उपन्यासकारों की आस्था नहीं है। लेकिन जो चेतना सामाजिक यथार्थ का स्थायी हिस्सा नहीं है, उसे पैबन्द के रूप में रचना पर क्यों मद्धा जाए! ग्राम्शी का सबाल्टर्न विमर्श यहाँ इस रूप में सहायक है कि वे सामुदायिक समझ को मतवाद से निर्देशित करने के बजाय, परिस्थिति विशेष में व्यक्ति और समुदाय के सहज बोध को महत्त्व देते हैं जिसका प्रतिफलन कभी प्रतिरोधी में होता है तो कभी यथास्थिति के परिस्थितिजन्य स्वीकार में। यद्यपि रेणु, राही और शिव प्रसाद सिंह तीनों ने ही अपने उपन्यासों में प्रतिरोध की संगठित चेतना को अभिव्यक्ति



दी है। 'मैला आँचल' में 'राम किरपाल काका के गुहाल में गाय मरी पड़ी है। चमार लोगों ने उठाने से इनकार कर दिया है।' (पृ. 181) 'अलग-अलग वैतरणी' के करैता गाँव के चमारों ने दिहाड़ी लिए बिना काम करने से मना कर दिया है। दलितों की प्रतिरोधी चेतना को सिलिया चमारिन और मातादीन-प्रसंग में प्रेमचंद ने 'गोदान' में सिलिया के बाप हरखू के इस कथन में व्यक्त किया है "हम आज या तो मातादीन को चमार बना के छोड़ेंगे या उनका और अपना रक्त एक कर देंगे।...तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, मुदा हम तुम्हें चमार बना सकते हैं। हमें ब्राह्मण बना दो, हमारी सारी बिरादरी बनने को तैयार है। जब यह समरथ नहीं है तो फिर तुम भी चमार बनो। ...इतना सुनना था कि दो चमारों ने लपककर मातादीन के हाथ पकड़ लिये, तीसरे ने झपटकर उसका जनेऊ तोड़ डाला और इससे पहले कि दातादीन और झिंगुरी सिंह अपनी-अपनी लाठी सँभाल सके, दो चमारों ने मातादीन के मुँह में एक बड़ी सी हड्डी का टुकड़ा डाल दिया..." ('गोदान', पृ. 209)

लेकिन अन्ततः प्रेमचन्द की इस अनुगामी चेतना एवं प्रगतिशील विचारधारा पर विजय होती है बदरंग यथार्थ की और सिलिया चमाइन स्वयं को फुलिया, झंगटिया बो एवं सुगनी की नियति से अलग नहीं कर पाती और यह सब होता है प्रेम के प्रपंच की आड़ में। प्रेम के इस पाखंड का सवर्णवादी रूप उद्घाटित करते हैं 'अलग-अलग वैतरणी' के सरूप भगत, "(जो) जानते हैं कि 'परेम' कोई बुरी चीज नहीं। मगर ई कैसा परेम भाई! आज तक किसी राजपूत-बामन की लड़की के साथ चमार दुसाध का परेम काहे नहीं हुआ?"... ('अलग-अलग वैतरणी', पृ. 513)

सच तो यह है कि पुरुष के इस सवर्णवादी प्रेम-प्रपंच के पीछे उसकी नीयत है दलित नारी को भोग्या एवं रखैल बनाने की। भोग्या भी ऐसी कि जिसके साथ कुलशील पुरुष तो सो सकता है, बच्चे भी पैदा कर सकता है लेकिन पानी नहीं पी सकता। सिलिया की माँ का मातादीन से यह कहना कि "तुम बड़े नेमी-धरमी हो उसके साथ सोओगे लेकिन उसके हाथ का पानी न पियोगे" इस प्रेम-प्रपंच को उधाड़कर रख देता है। इस्लाम धर्म के शेख-सैयद भी इस मामले में पीछे नहीं हैं। 'आधा गाँव' सैयद सुलैमान चमारिन झंगटिया बो अपने घर में डाल तो लेते हैं, "...मगर एक बड़ी परेशानी खड़ी हो गई। सुलैमान चा मजहबी आदमी थे, इसलिए घर में एक औरत के आ जाने के बाद भी सुलैमान चा को अपना खाना खुद ही पकाना पड़ता था।" (पृ. 43)

धार्मिक पाखंड को तार-तार करती सवर्णों द्वारा दलित नारी के दैहिक शोषण की यह सुदीर्घ यातना परम्परा यद्यपि 'मैला आँचल', 'आधा गाँव' एवं 'अलग-अलग वैतरणी' के मुख्य कथानक का हिस्सा नहीं है, फिर भी यह जिस प्रकार से इन उपन्यासों में नैरेटिव में विन्यस्त होकर आता है, वह आँचलिक उपन्यासों की सामर्थ्य को ही उजागर करता है। यह अनायास ही नहीं है कि भारतीय समाज के सभी ज्वलन्त विमर्श, चाहे वे दलित व सामाजिक न्यास सम्बन्धी विमर्श हों, साम्प्रदायिकता या आजाद भारत में मुस्लिम अस्मिता का सवाल हो या फिर नारी विमर्श ये सारे प्रश्न आँचलिक कहे जाने वाले इन उपन्यासों में पूरी गम्भीरता के साथ आए हैं।

यूँ तो 'मैला आँचल' और 'आधा गाँव' इन दोनों उपन्यासों का ही कालखंड आजादी के एक दशक पूर्व से लेकर बाद के कुछ वर्षों तक का है। 'अलग-अलग वैतरणी' थोड़ा बाद के कालखंड को समेटे हुए है। 'डूब', 'इदन्नमम्' और 'मुखड़ा क्या देखे' आजादी के बाद से लेकर हाल के वर्षों तक का विस्तार लिये हुए हैं। लेकिन ये सारे उपन्यास अपनी सम्पूर्णता

में भारत के ग्रामीण परिदृश्य की जो मुकम्मिल तस्वीर प्रस्तुत करते हैं, वह किसी भी समाजशास्त्रीय अध्ययन से कहीं अधिक प्रामाणिक एवं प्रासंगिक है और पठनीय एवं आत्मीय तो यह है ही।

आज का बिहार, मंडल के बाद का बिहार, सामाजिक न्याय व जाति-चेतना से ओत-प्रोत बिहार एवं मध्यवर्गीय जातियों के राजनीतिक उभार का बिहार भले ही कुछ लोगों को आज इतिहास का व्यतिक्रम नजर आता हो, लेकिन 1954 में प्रकाशित फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' तो इस बिहार का कालपात्र सरीखा लगता है। 'मैला आँचल' का मेरीगंज बिहार का ही नहीं, उत्तर भारत का वह प्रतिनिधि गाँव है, जहाँ 'बारहो बरन' के लोग रहते हैं...गाँव में तीन प्रमुख दल हैं। कायस्थ, राजपूत और यादव। ब्राह्मण लोग अभी भी तृतीय शक्ति हैं। गाँव के अन्य लोग भी सुविधानुसार इन्हीं तीन दलों में बँटे हैं। ...यादवों का दल नया है। ...खेलावन सिंह यादव को लोग नया मातबर कहते हैं, लेकिन क्षत्रिय टोली को अब 'गुअर टोली' कहने की हिम्मत कोई नहीं रखता।' ...('मैला आँचल', पृ. 18)

लेकिन वर्णाश्रम में बँधे भारतीय समाज में मध्य जातियों की उर्ध्वगामी गतिशीलता (अपवर्ड मोबिलिटी) की सहज स्वीकृति कैसे सम्भव है? इसलिए तहसीलदार के बेटे हरगौरी सिंह का क्रोध स्वाभाविक है कि ...“ग्वाला होकर लीडरी...?” (पृ. 21) समाजशास्त्री एम. आर. श्रीनिवास की...‘संस्कृतीकरण’ अवधारणा की पुष्टि करते हुए मेरीगंज के यादव जनेऊ तो धारण कर लेते हैं लेकिन राजपूतों द्वारा यदुवंशी क्षत्रिय की मान्यता से वंचित रह जाते हैं। उल्टे उन्हें व्यंग्य विद्रूप के इन बाणों से घायल होना पड़ता है, “अरे भाई, सभी काशी चले जाओगे? पत्तल चाटने के लिए भी तो कुछ लोग रह जाओ...” (पृ.20)

दरअसल यही है गर्भ-गृह सामाजिक न्याय की उस अवधारणा का जो जाति-भेद को जाति-चेतना में रूपान्तरित करती हुई मंडल को एक कवच के रूप में इस्तेमाल करती है। लेकिन मंडल के कवच का भेदन जिस मन्दिर कार्ड से आज हो रहा है रेणु ने 'मैला आँचल' में उसके संकेत अर्धशताब्दी पूर्व ही ढूँढ लिए थे। मध्यजातियों के उभार को रोकने हेतु सवर्ण कही जानेवाली उच्च जातियों की एकता की रणनीति किस प्रकार राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का आश्रय लेती है, इसका खुलासा रेणु द्वारा 'मैला आँचल' में कुछ इस प्रकार किया है

“हरगौरी ठीक ही कहता थायदि यही हालत रही तो पाँच साल बाद ग्वाले बेटी माँगेंगे। तब काली कुर्तीवालों के बारे में जो हरगौरी कहता था, उन लोगों को बुला लिया जाए? लाठी-भाला सिखाने वाला मास्टर आवेगा। संजोजक जी या सनचालक जी, क्या कहता था, सो आवेंगे। हिन्दू राज महाराना प्रताप और शिवाजी का राज होगा...उनके टोले में कटिहार से काली टोपी वाले दल संजोजक जी आए हैं। लाठी-भाला टैरनि देते हैं। छोटी जाति के लोगों की सभा में वो नहीं जा सकते...”

लाठी, भाला और तलवार हाथ में लेते ही खून गरम हो जाता है, राजपूत नौजवानों का उस दिन हरगौरी कह रहा थासंजोजक जी, यवनों पर मुझे क्रोध नहीं आता। यवनों का पक्ष लेने वाले हिन्दुओं की तो गरदन उड़ा देने को जी चाहता है।” (पृ. 127)

'मैला आँचल' के मेरीगंज का यह दृश्य 'आधा गाँव' के गंगौली की हलचल से गुजरे बिना पुरा नहीं होता क्योंकि इन दोनों ही उपन्यासों का देशकाल समान है और मेरीगंज और गंगौली मिलकर ही पूरा गाँव बनते हैं। जिन दिनों रेणु के मेरीगंज में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संजोजक जी आग उगल रहे थे उन दिनों राही मासूम रजा की गंगौली में अलीगढ़ से आए मुस्लिम लीग के कार्यकर्ता कुछ यूँ तकरीर कर रहे थे

“हम ऐसे मुल्क में रहते हैं जिसमें हमारी हैसियत दाल में नमक से ज्यादा नहीं है।

एक बार अंग्रेजों का साया हटा तो ये हिन्दू हमें खा जाएँगे। इसलिए हिन्दुस्तानी मुसलमानों को एक ऐसी जगह की जरूरत है जहाँ वे इज्जत से जी सकें। ...अल्लाह की रस्सी मजबूती से पकड़िए। आज उस रस्सी का नाम मुहम्मद अली जिन्ना है। आप अल्लाह की ताकत हैं। उठिए और कहिए कि आप पाकिस्तान बनाना चाहते हैं।” (पृ. 260)

रेणु और राही आर. एस. एस. और मुस्लिम लीग द्वारा भारतीय समाज की साझी एवं सामाजिक संस्कृति को छिन्न-भिन्न करने के षड्यन्त्र और धार्मिक कट्टरवाद की विध्वंसकारी भूमिका को साम्प्रदायिक मेल-जोल के भारतीय मिजाज से बेमेल पाते हैं। राही मासूम रजा ने इसे अत्यन्त ही बेलाग ढंग से अनवारुल हसन और फुन्नन मियाँ के बीच पाकिस्तान निर्माण को लेकर हुए इस संवाद के माध्यम से व्यक्त किया है

“काहे भैया, तोरे पाकिस्तान का क्या हाल है?”

“वह तो बन रहा है।”

“काहे न बनिये, भैया, तूँ कहि रइयो तो जरूर बनिये। बाकी ई गंगौली पाकिस्तान में जा रहे कि हिन्दुस्तान में रइहे?”

“ई तो हिन्दुस्तान में रहेगी। पाकिस्तान में तो सूबा सरहद, पंजाब, सिन्ध, और बंगाल होगा; और कोशिश कर रहे हम लोग मुस्लिम यूनिवर्सिटी भी पाकिस्तान में हो जाए।”

“गंगौली के वास्ते ना न करिहयो कोशिश?”

“गंगौली का क्या सवाल है?”

“सवाल है न त हम्मं पाकिस्तान बनने या न बनने से का?”

“एक इस्लामी हुकूमत बन जाएगी।”

कहीं इस्लामू है कि हुकूमत बन जहिए। ऐ भाई, बाप-दादा कि कबर हियाँ है, चौक-इमामबाड़ा हियाँ है, खेती-बाड़ी हियाँ है। हम कोनो बुरबक हैं कि तोरे पाकिस्तान जिन्दाबाद में फँस जाएँ।”

“अंग्रेजों के जाने के बाद यहाँ हिन्दुओं का राज होगा।”

“हाँ-हाँ, त हुये बा। तू त ऐसा हिन्दू कहि रहियो जैसे हिन्दुवा सब भुकाऊँ हैं कि काट लीहयन। अरे, ठाकुर कुँअरपाल सिंह त हिन्दुए रहे। झिंगुरिया हिन्दू है। ऐ भाई, ओ परसरमुआ हिन्दुए न है कि जब शहर में सुन्नी लोग हरमजदगी कीहन कि हम हजरत अली का ताबूत न उठे देंगे, कहो को कि ऊ में शीआ लोग तबरा पढ़त हुएँ त परसरमुआ ऊधम मचा दीहन कि ई ताबूत उट्ठी और ऊ ताबूत उठा। तोरे जिन्ना साहब ताबूत उठवाए न आएँ!” (पृ. 163)

‘आधा गाँव’ के अनवारुल हसन और फुन्नन मियाँ का यह संवाद भारतीय समाज में हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदाय के बीच सामुदायिक जीवन के स्तर पर सदियों से चले आ रहे साम्प्रदायिक सौहार्द को चिह्नित करता है। सामुदायिक जीवन से उपजी सांस्कृतिक सहभागिता की यह अन्तर्धारा ही भारतीय समाज की वह शक्ति है जो धार्मिक कट्टरवाद को समाज की नियामक शक्ति बनने से रोकती है लेकिन इसके मूल में है जनसाधारण का वह सहज बोध जिसे राही मासूम रजा ने पैनी निगाह और गहरी अन्तर्दृष्टि के साथ ‘आधा गाँव’ में व्यक्त किया है। ‘आधा गाँव’ के एक पात्र कमालुद्दीन (कम्मो) और गाँव के एक चमार के बीच का यह संवाद दृष्ट्य है “का बात हो, मियाँ” उसने पूछा। “ई लोग अलीगढ़ से हम्मं ई बताए आए हैं कि जब हिन्दुस्तान आजाद हो जाइहे त तूँ लोग हमरे लोगन की माँ-बहिन को निकाल ले जइहो।” कम्मो ने बात बता दी। “अरे, राम-राम!” चमार बिल्कुल घबरा गया। वह अलीगढ़वालों की तरफ मुड़ा, “आप लोग तो लिक्खल-पढ़ल बुझाताड़ी। तनी सोची की हमनी के जीयत कोई मियाँ लोगन की बहिन मतारी तरफ देख सकेला?” (पृ. 252)

यही है निम्न-जन का वह सहज बोध जो 'अलग-अलग वैतरणी' के खलील मियाँ को पाकिस्तान में रह रहे अपने बेटे को खत लिखने को बाध्य करता है कि "तुम्हारे पाकिस्तान पर मैं लानत भेजता हूँ। साले तू दोगला है। काफ़िरों के बीच अपने दर्जनों पुश्त गल गया।...मैंने दशमी नहीं मनाई कि दीवाली के दिये नहीं जलाए? ...आज तक खलील मियाँ की बेटी-बहू से अलग नहीं माना। तो बेटा! तुम्हीं बताओ कि मैं कैसे मान लूँ कि मैं काफ़िरों के बीच हूँ या दुश्मनों के बीच हूँ।" ('अलग-अलग वैतरणी', पृ.241)।

ग्राम्शी की तर्ज पर भारतीय कृषक की यह 'सबाल्टर्न' चेतना ही भारतीय राष्ट्र-राज्य के धर्मनिरपेक्ष ढाँचे को सारे झंझावतों से बचाती है और उसे एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत करती है लेकिन खड़े और पड़े दोनों ही धरातलों पर, वर्णों, जातियों एवं छोटे-छोटे समुदायों में बँटे भारतीय समाज का यह सह-अस्तित्व कुछ अपनी अलग ही विलक्षणता लिये हुए है। अब्दुल विस्मिल्लाह के उपन्यास 'मुखड़ा क्या देखे' में पं. सृष्टि नारायण पांडे के घर का एक दृश्य इसे यूँ प्रस्तुत करता है "कथा के शुरू होते-होते सहन में अच्छी-खासी भीड़ भर गई थी। सत्तार को अलग से एक दरी पर बैठाया गया था। उसी के आसपास बलापुर और चक के अन्य मुसलमान भी बैठे थे। चमरौटी और पसियाने के लोग चबूतरे के नीचे एक तरफ इस प्रकार सिकुड़े हुए पड़े थे, जैसे कोलहउड़ में ऊख की खोइया पड़ी रहती है।" (पृ. 143) लेकिन इसके बावजूद पंडित सृष्टि नारायण इस बात की अनदेखी कैसे कर सकते हैं कि तोते पासी की बिटिया बुधुवा चुड़िहार के साथ इश्कबाजी करे क्योंकि, "मामला ई हिन्दु-मुसलमान का है, ...पासी हैं तो क्या हुआ, हैं तो आखिर हिंदू ही..." (पृ. 143)।

भारतीय समाज में जातिगत वर्गीकरण धर्म की हदों के पार चला गया है। "मैला आँचल" और 'आधा गाँव' में जो जातिगत विभाजन हिन्दू और इस्लाम धर्म तक सीमित था, अब्दुल विस्मिल्लाह के उपन्यास 'मुखड़ा क्या देखे' में वह ईसाई धर्म तक विस्तृत हो गया है। ईसाई धर्म अपना चुके पतरस की बीवी का अली अहमद से यह सम्भाषण उल्लेखनीय है "देखो, अली अहमद, अब तुम्हीं फैसला करो। ये दुधनिया में मरियम के लिए जो लड़का ठीक करके आए हैं न, उसका बाप पहले कोल था। मैं उस अंतोनी को खूब अच्छी तरह जानती हूँ, जो अभी पन्द्रह बरस पहले तक भुलवा कोल था। मेरे देखते-देखते वह भुलवा से अंतोनी हुआ है। वह अपने बेटे का ब्याह रूपसिंह गोंड़ की लड़की से करेगा? तुम्हारे पतरस भाई तो असल में रूपसिंह गोड़ है न। उसकी यह मजाल? हमने धरम बदला है, जात नहीं।" (पृ. 63)

यह विडम्बना ही है कि भारत के बदलते आर्थिक, सामाजिक स्वरूप के चलते जातियों का पेशागत विभाजन जहाँ दिनों-दिन अनुत्पादक और अर्थहीन होता जा रहा है, उतनी ही जाति-व्यवस्था की रूढ़िग्रस्त जकड़न जोर पकड़ती जा रही है। अल्ली चुड़िहार के माध्यम से 'मुखड़ा क्या देखे' उपन्यास में यह स्थिति अब्दुल विस्मिल्लाह कुछ इस तरह रेखांकित करते हैं

"शहर में नए-नए फैशन की चूड़ियाँ भरी हुई हैं। अब गाँव-गाँव की स्त्रियाँ अपनी चुड़िहाइन का इन्तजार नहीं करतीं। वे सुबह-सवेरे सज धजकर घर से निकलती हैं और टेम्पो पर बैठकर सीधे गऊघाट। तीन से छे सिनेमा देखने के बाद, खरीददारी करती हुई नए फैशन की चूड़ियाँ पहनकर रात को आठ-नौ बजते-बजते वापस अपने घर। रनिया की भौंकी देखकर वे मुँह बिचकाती हैं और भीतर की तरफ मुँह करके अपनी सास को आवाज देती हैं, "अरे अइया, चुड़िहाइन आई हैं, चूड़ी पहनना है क्या?" रनिया की चूड़ियाँ सिर्फ सधवा सासों और अम्माओं के काम की ही रह गई हैं। हालाँकि विधवाएँ भी अब रबड़ की चूड़ियाँ पहनने लगी

हैं...('मुखड़ा क्या देखें', पृ. 133)। यह परिदृश्य है संक्रमणकालीन दौर से गुजरते हुए उस भारतीय गाँव का जहाँ बहुत कुछ टूट तो रहा है लेकिन निर्माण की प्रक्रिया अभी धीमी है।

और जहाँ परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया बहुत तेज है, वहाँ तो परिणाम और भी विध्वंस हुए हैं जैसे वीरेन्द्र जैन के उपन्यास 'डूब' के लरई सरीखे जाने कितने गाँवों में। 'मुखड़ा क्या देखें' के अल्ली चुड़िहार की तरह 'डूब' के माते अहीर भी संकल्पबद्ध हैं कि वे गाँव में रहकर ही अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करेंगे। 'डूब' राजघाट गाँव परियोजना की छाया में डूब क्षेत्र के सैकड़ों गाँव के उजड़ने का एक ऐसा कथा-वृत्तान्त है जो सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों की जड़ता और गाँव के विकलांग विकास को एक साथ रेखांकित करता है। हिन्दी उपन्यास के आँचलिक कथा-संसार में 'डूब' एक नई थीम जोड़ता है। आँचलिकता के संदर्भ में इस उपन्यास का एक अतिरिक्त महत्त्व भी है कि रेणु, राही मासूम रजा, शिवप्रसाद सिंह और अब्दुल विस्मिल्लाह के उपन्यास जहाँ उत्तर भारत के ग्राम्यांचल विशेषकर मैथिली और भोजपुरी भाषी क्षेत्रों को अपने रचना संसार का केन्द्र मानते हैं, वहीं वीरेन्द्र जैन इसका विस्तार मध्यभारत के बेतवा और नर्मदा के आसपास बसे विन्ध्य और बुन्देली इलाके तय करते हैं। सामन्ती उत्पादन सम्बन्धों की मार, धार्मिक-दैहिक शोषण और जातिगत भेद यहाँ भी है। चमारटोली पर ठाकुर साहब का कहर बदस्तूर यहाँ भी जारी है। हाँ, यहाँ सूदखोदी का नया परिप्रेक्ष्य जरूर उजागर होता है, जो 'गोदान' की दुलारी सहुआईन से भिन्न सुनियोजित एवं व्यावसायिक स्तर पर है क्योंकि यहाँ जमीन से बेदखली, मुआवजा आदि का दुष्क्र भी जुड़ा हुआ है। अपनी सम्पूर्णता में 'डूब' भारतीय कृषक समाज का एक ऐसा रूपक गढ़ता है, जहाँ इतिहास, क अर्थशास्त्र राजनीति एवं नृतत्व शास्त्र की आवाजाही है। 'मैला आँचल' और 'आधा गाँव' की ही तरह इस उपन्यास में भी तथ्यों व स्थितियों की प्रामाणिकता एवं पात्रों का सहजबोध निर्विवाद है।

यह सुखद ही है कि 'डूब' के साथ हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों के 'लोकल' का जो विस्तार मध्यभारत तक हुआ, उससे एक शुरुआत हुई। इस शृंखला की एक और अत्यन्त समर्थ कड़ी है मैत्रेयी पुष्पा का महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'इदन्नमम्' आजादी के बाद की तीन पीढ़ियोंबऊ, प्रेमा और मंदाके इर्द-गिर्द रचे-बुने इस उपन्यासमें 'नारी चेतना' की एक ऐसी 'सबाल्टर्न' अर्न्तधारा है, जो पुरुषवादी समाज से टकराकर लहलुहान होते हुए एक नई दिशा की तलाश में है। विन्ध्य और बुन्देल खंड के लोक-जीवन, बोली-बानी और रूप-रस-गंध को त्रासद व दारुण जीवन-स्थितियों के साथ रच-पग कर 'इदन्नमम्' का जो कथा-वितान मैत्रेयी पुष्पा ने गढ़ा है, वह निश्चित रूप से एक उपलब्धि है। सामन्ती भाव-भूमि पर केन्द्रित पिछड़े कृषक समाज की मध्यजाति के जीवन को आधार बनाकर जो नारी-विमर्श मैत्रेयी पुष्पा ने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है वह पिछड़े हुए भारतीय समाज की कई गुत्थियों एवं रूढ़ियों से टकराता है। निःसन्देह 'इदन्नमम्' आँचलिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत एक ऐसा नारी आख्यान है जो इसके पूर्व हिन्दी उपन्यास में उपलब्ध नहीं था लेकिन यह महज नारी-आख्यान नहीं है; विकास, विस्थापन, भूमि से बेदखली के प्रश्नों का विस्तार 'डूब' की ही तरह यहाँ भी है। उपन्यास की केन्द्रीय भूमिका में मंदा का व्यक्तित्वांतरण एक ऐसे संघर्षशील नारी पात्र के रूप में होता है, जो स्त्री-यातना को सहते हुए शोषितों एवं वंचितों की पीड़ा से एकात्म हो जाती है। घर, परिवार की देहरी लॉघकर वह समाज की उस धुरी पर खड़ी होती है, जहाँ स्त्री-चेतना व दलित चेतना एकाकार होकर जनतन्त्र और विकास के सवालियों से टकराने लगती है; लेकिन मंदा की यह भूमिका थोपी हुई क्रान्तिकारी चेतना न होकर भारतीय समाज की नई दिशाओं की तलाशी की एक ऐसी स्वतः स्फूर्त चेतना है, जो मेधा पाटकर, बाबा आम्टे, बाबा हजारे और बी. डी. शर्मा

के संघर्षों का स्मरण कराती है। मंदा के इस संघर्ष-पथ पर धर्म और आध्यात्म की भूमिका 'लिबरेशन थियोलॉजी' के सादृश्य भी उपस्थित करती है। बुन्देलखण्ड का रूप-रस-गंध यदि मैत्रेयी पुष्पा की रूढ़ि न बन गया तो कोई आश्चर्य नहीं वे उन गवाक्षों को खोलने में समर्थ हों, जिसके पार का संसार अभी तक हिन्दी उपन्यास के लिए अबूझ और अनजाना हो।

सबाल्टर्न प्रसंग के बहाने आँचलिकता और हिन्दी उपन्यास का यह विमर्श यह तो सिद्ध करता ही है कि भारतीय समाज के वृहत्तर प्रश्न औपन्यासिक विजन के सहारे इन उपन्यासों में पूरी गम्भीरता के साथ प्रस्तुत हुए हैं। यह भी सच है कि आँचलिकता इन उपन्यासों में पूरी गम्भीरता के साथ प्रस्तुत हुए हैं। यह भी सच है कि आँचलिकता इन उपन्यासों की रूढ़ि और सीमा न होकर एक व्यापक औपन्यासिक व्योम की तलाश का माध्यम है। किसान जीवन की महागाथा को आधार बनाकर प्रेमचन्द ने 'गोदान' के माध्यम से जिस भारतीय उपन्यास की पूर्व पीठिका तैयार की थी, 'मैला आँचल' और 'आधा गाँव' जैसे उपन्यासों ने उसे नए सन्दर्भ दिए। बहुत कुछ नया न जोड़ने के बावजूद 'अलग-अलग वैतरणी' भी इस दिशा में एक सार्थक प्रसास है। 'डूब' और 'इदन्नमम्' अपनी कथावस्तु में नया आँचल ही नहीं तलाशते हैं बल्कि नई जमीन भी तोड़ते हैं। इन दोनों उपन्यासों में आज के बदलते गाँव का जो नया परिदृश्य उभरता है, वह अब्दुल विस्मिल्लाह के नवीनतम उपन्यास 'मुखड़ा क्या देखे' में एक सम्पूर्णता ग्रहण करता है। काश यह उपन्यास अपने कथ्य को कुछ और विस्तार दे सका होता!

यह तो विडम्बना ही है कि एक 'मैला आँचल' को छोड़कर इस चर्चा में शामिल 'आधा गाँव' सहित अन्य सभी उपन्यास हिन्दी आलोचना के कुलीन तन्त्र से वहिष्कृत है। शायद यह अभिजनवादी कलात्मक दृष्टिकोण का ही परिणाम है, वरना कोई कारण नहीं कि हिन्दी उपन्यासों की जिस सूची में 'कसप' और 'नौकर की कमीज' शामिल हो, 'आधा गाँव' उस सूची में नदारद हो। जरूरत है नए 'कैनन फारमेशन' की। आज जब 'दलित' और 'स्त्री' विमर्श साहित्यिक और बौद्धिक विमर्श का एक एजेंडा तय कर रहे हों, तब तो यह और भी जरूरी है। इन सन्दर्भों में 'सबाल्टर्न' अध्ययन-पद्धति प्रासंगिक ही नहीं अनिवार्य भी है।

(‘उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता’ नामक पुस्तक से)

## समय और समाज के मध्य उपस्थित उपन्यास

---

जवरीमल्ल पारख

आमतौर पर किसी भाषा के साहित्य के इतिहास का लेखन करते हुए साहित्य लेखन की उस परंपरा को ही प्रस्तुत किया जाता है जो उस भाषा में हुई है। हिंदी के संदर्भ में भी यह बात लागू होती है। यह जरूर है कि हिंदी की मध्ययुगीन साहित्य परंपरा में उन भाषा रूपों के साहित्य को भी शामिल किया जाता है। जो आज इस क्षेत्र की बोलियाँ मानी जाती हैं लेकिन किसी समय ये स्वतंत्र और विकसित भाषाएँ रही हैं। लेकिन आधुनिक युग में हम केवल खड़ी बोली में लिखे गये साहित्य को ही आधुनिक साहित्य की परंपरा में परिगणित करते हैं, यहाँ तक कि खड़ी बोली के उस साहित्य को भी शामिल नहीं करते जो भिन्न लिपि में लिखा जाता है और जिसे हिंदी से इतर उर्दू का साहित्य माना जाता है। इस विवाद में पड़ने का अवसर यह नहीं है लेकिन यह प्रश्न जरूर उपस्थित होता है कि किसी भाषा का साहित्य क्या दूसरी भाषाओं के साहित्य से किसी तरह का संवाद किये बिना विकसित होता है। क्या उनमें किसी तरह का लेन देन नहीं होता। क्या आधुनिक युग के साहित्यकारों ने जो कुछ भी लिखा वह सिर्फ अपनी परंपरा से परिचय प्राप्त करके लिखा। यदि ऐसा नहीं है तो फिर साहित्य के इतिहास के लेखन में हमें अपनी भाषायी लेखन की चर्चा किए बिना अपने लेखकों के साथ न्याय कर पायेंगे?

उपन्यास एक आधुनिक विधा है और भारतीय विधा के संपर्क में पश्चिम में लिखे गये उपन्यासों के कारण ही आए थे। भारत की लगभग सभी भाषाओं के लेखकों ने पश्चिम विशेषतः अंग्रेजी में लिखे गये उपन्यासों का अध्ययन किया था और उसी से प्रेरित होकर उन्होंने भी अपनी-अपनी भाषाओं में उपन्यास लिखना आरंभ किया। इस अध्ययन से ही उन्हें यह खोजने में मदद मिली कि उपन्यास तो नहीं लेकिन प्राचीन भारतीय साहित्य में कुछ रचनाएँ ऐसी अवश्य हैं जिन्हें उपन्यास के करीब माना जा सकता है। यही नहीं कथा कहने की भारत में एक लंबी परंपरा रही है और इस परंपरा का न केवल स्मरण हो आना वरन उपन्यास लिखते हुए कथा कहने की उस परंपरा का भी प्रभाव ग्रहण करना कोई बहुत असंभव काम नहीं था। रामचंद्र शुक्ल ने जब श्रीनिवास दास के उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (1982) को 'अंग्रेजी ढंग का पहला

उपन्यास' कहा तो इसका अर्थ यही था कि उससे पहले लिखे गए उपन्यास उनकी नजर में अंग्रेजी ढंग के नहीं थे। नामवर सिंह ने इस मुद्दे पर विचार करते हुए बंकिमचन्द्र के उपन्यास लेखन के बारे में भी यही टिप्पणी की है कि अंग्रेजी ढंग के उपन्यास नहीं थे। प्रश्न यह है कि क्या रामचंद्र शुक्ल यह चाहते थे कि हिंदी में अगर उपन्यास लिखे जाएँ तो उन्हें अंग्रेजी ढंग का पूरा अनुकरण करना चाहिए, अन्यथा वह उपन्यास नहीं कहे जाएँगे। अगर उनके कहने के पीछे मंशा यह थी तो क्या यह माना जाना चाहिए कि लेखक को हमेशा विधा की विशिष्टता के दायरे में ही लेखन करना चाहिए। यह दूसरा प्रश्न है जो उपन्यास के संदर्भ में उठता है। भारत में उपन्यास लेखन की लगभग डेढ़ सदी लंबी परंपरा यदि किसी बात को साबित करती है तो, यही कि उपन्यास लेखन का कोई बना-बनाया ढाँचा नहीं था और न हो सकता है। आज जिस तरह के उपन्यास लिखे जा रहे हैं और उनमें जो नये-नये प्रयोग हो रहे हैं, उनकी तुलना यदि उन्नीसवीं सदी में लिखे गये उपन्यासों से करें तो उनमें कोई संबंध स्थापित करना भी मुश्किल होगा। अब भी कई बार ऐसी रचनाएँ लिखी जाती हैं जिनके बारे में निश्चित रूप से लेखक भी यह कहने की स्थिति में नहीं होता कि उसने कहानी लिखी है, या उपन्यास। बहुत लंबी कहानी के रूप में प्रकाशित रचनाएँ बाद में लघु उपन्यास के रूप में भी प्रकाशित हुई हैं। इसी तरह उपन्यास के आरंभिक दौर में आमतौर पर उसकी तुलना महाकाव्य से की जाती रही है और उपन्यास के महाकाव्य होने की ओर तरह-तरह के संकेत किये जाते रहे हैं। हेगेल ने उपन्यास को आधुनिक मध्यवर्ग का महाकाव्य कहा था, तो रैल्फ फॉक्स ने उपन्यास को आधुनिक बर्जुआ समाज का महाकाव्य कहा है जार्ज लुकाच ने भी महाकाव्य और उपन्यास की तुलना करते हुए उपन्यास को समझाने का प्रयास किया है। हिंदी में 'गोदान' को किसान जीवन का महाकाव्य कहा जाता रहा है। इन कथनों से एक बात तो स्पष्ट है कि वह यह कि उपन्यास को महाकाव्य से जोड़कर भी देखा जाता है और उसे महाकाव्य का स्थानापन्न भी माना जाता है। महाकाव्य प्राक् आधुनिक युग की एक ऐसी विधा है जिसमें वर्णित जीवनचित्र अपने विराटत्व के कारण महाकाव्य का विषय बनने की पात्रता रखता है। लेकिन महाकाव्य के पूरे इतिहास में शायद ही ऐसा कोई महाकाव्य हो जिसमें सामान्य जन को जीवन के केंद्र में रखा गया हो। महाकाव्य के लिए पौराणिक और सामंती चरित्र ही उपयुक्त माने जाते रहे हैं। देवताओं, दावों, राजाओं के सत्ता-संघर्ष जिसमें तरह-तरह के षड्यंत्र और युद्धों से महाकाव्य का ढाँचा निर्मित होता है। महाकाव्य के बाद जो दूसरी विधा इस पूरे दौर में लोकप्रिय रही है वह है नाटक चाहे वह त्रासदी के रूप में हो या कामेदी के रूप में लेकिन यहाँ भी पौराणिक और सामंती चरित्रों से ही नाटक का ढाँचा निर्मित किया जाता रहा है जिसका हरण करना या हरण किए जाने पर उसे वापस हासिल करना सत्ता संघर्ष के रूप में ही देखा जा सकता है। पात्रों की चारित्रिक विशिष्टता इसके लिए किए जाने वाले नैतिक पक्ष की अभिव्यक्ति होती है। लेकिन यह नैतिकता भी राजसत्ता से ही परिभाषित होती है, भले ही उसे नाम धर्म का दिया गया हो। राम के लिए अपहृत्य सीता को छुड़ाना इसलिए जरूरी था कि उसके बिना राम की सत्ता चाहे वह राजा के रूप में हो या ईश्वर के रूप में चुनौतीहीन नहीं रहती। लेकिन सीता को दुबारा हासिल करने के बाद उस सत्ता को बनाए रखने के लिए सीता की अग्नि परीक्षा भी की जा सकती है और उसे राजमहल से निष्कासित भी किया जा सकता है। इसी सत्ता को बनाए रखने के लिए शूद्र शंबूक का वध भी किया जाता है जिस वध के बाद देवी-देवता आकाश से पुष्पवर्षा कर अपना हर्षोल्लास व्यक्त करते हैं। इन मिथकीय कथाओं की वास्तविकता इसी सत्ता संघर्ष में निहित है। इसे न देखकर उसके चारों ओर बनाए गए प्रभामंडल को या उसकी धार्मिक और नैतिक सी प्रतीत होने वाली अंतर्कथाओं को सत्य समझ कर उसे यथावत



स्वीकार कर लेना मध्ययुगीनता की तर्कप्रणाली से अपनी चेतना को बाँध लेना है। निश्चय ही महाकाव्य की तुलना में नाटकों में इस प्रभामंडल को निर्मित करने की संभावना कम रहती है इसलिए नाटक अपेक्षाकृत ज्यादा यथार्थ नजर आते हैं और इसी वजह से उसमें निहित सत्ता संघर्ष को पहचानना ज्यादा आसान है।

महाकाव्य और त्रासदी से भिन्न इसी प्राक् मध्ययुग में निर्मित लोककथाओं में हम इसका प्रतिपक्ष देख सकते हैं। महाकाव्य के विपरीत लोककथाओं में राजा-रानी, देवी-देवता आदि के इर्दगिर्द कथा निर्मित हो, यह आवश्यक नहीं है और यदि ऐसा होता भी है तो भी यह जरूरी नहीं कि उनकी अस्मिता उनकी सत्ता से निर्मित हो। यहाँ राजा राजत्व का प्रतिलोम निर्मित कर सकता है। यहाँ आसानी से एक राजा किसान की आत्मा लिए और एक रानी किसान-स्त्री की आत्मा लिये प्रकट हो सकता है। लोक परंपरा की इन कथाओं के असर से कई बार महाकाव्य भी मुक्त नहीं रह सके हैं। जायसी के पद्मावत की कथा महाकाव्य की रूढ़ परंपरा को तोड़कर लोककथा में प्रवेश कर जाती है। यहाँ तक कि नागमती के विरह वर्णन में किसान स्त्री की वेदना पर रानी की वेदना हावी हो जाती है। इसके बावजूद पद्मावत सत्ता संघर्ष के दायरे से बाहर नहीं निकल पाता और अंततः वह उसी संघर्ष में अपनी अर्थवत्ता पाता है। इस सच को स्वीकार कर लिए जाने के बावजूद कि उपन्यास महाकाव्य को विस्थापित करके ही अस्तित्व में आया है, यह कहना सही नहीं होगा कि उपन्यास के केंद्र में भी सत्ता संघर्ष है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि उपन्यास ने लोककथा की उस परंपरा को अपनाया है जो मध्ययुगीन सत्ता संघर्ष का प्रतिलोम निर्मित करती है। दरअसल, उपन्यास में भी संघर्ष केन्द्र में है लेकिन उस सीमित अर्थ में सत्ता संघर्ष का दायरा बहुत विस्तृत है। आधुनिक युग में सत्ता सिर्फ राजसत्ता के अर्थ में नहीं वरन कई अन्य अर्थों में भी अपने को अभिव्यक्त करती है और उपन्यास समाज में चलने वाले इन विविध रूपों और विविध स्तरों वाले सत्ता संघर्षों को अभिव्यक्त करने के सबसे कारगर और लचीले माध्यम के रूप में उदित हुआ है। इसी अर्थ में उपन्यास महाकाव्य परंपरा को भी अपने में समेटे हुए होता है। लेकिन उसकी सीमाओं से पूरी तरह मुक्त रहते हुए।

उपन्यास को बूर्जुआ युग का महाकाव्य कहें या मध्यवर्ग का, खास बात यह है कि महाकाव्य के विस्थापित होने के साथ एक बार जब अभिजात शासक वर्ग की केंद्रीयता समाप्त हो गई तो दूसरे वर्गों का उसके केंद्र में आना अनिवार्य हो गया। लेकिन लोककथाओं की तरह इस विधा के केंद्र में किसान चेतना का आना मुमकिन नहीं था क्योंकि यह विधा एक शहरी और शिक्षित वर्ग द्वारा ही रची और पढ़ी जा सकती थी। हेगेल ने जब इसे मध्यवर्ग का महाकाव्य कहा तो शायद उनका संकेत इस सच्चाई की तरफ था कि यह उस शहरी और शिक्षित मध्यवर्ग द्वारा रचा और पढ़ा जा रहा था जो पूँजीवाद के उदय के साथ-साथ मध्यवर्ग के रूप में सामने आ रहा था। यह मध्यवर्ग ही उस अभिजातवर्ग को चुनौती दे सकता था जो अब तक महाकाव्य का नायक या खलनायक था लेकिन जिसे बाहर से किसी तरह की चुनौती नहीं दी गयी थी। लेकिन इस नये उभरते मध्यवर्ग ने इस वर्ग को बाहर से चुनौती दी और यह चुनौती उस विशाल वर्ग की तरफ से दी जिसका वह स्वयं भी हिस्सा नहीं था लेकिन जिसके समर्थन और सहयोग के बिना वह अभिजात वर्ग को पराजित कर सकने की स्थिति में नहीं था। उपन्यास इस संघर्ष में उसका मुख्य हथियार बनके उभरा।

जिस विशाल वर्ग (वह श्रमिक जनता जो चाहे खेतों में काम करती हो, या कारखाने में, या किसी खान में या सफाई कर्मचारी के रूप में या घर की चारदीवारी में घरेलू औरत के रूप में) को उपन्यास का विषय बनाया गया और लोककथाओं और लोकगीतों में भले ही अपने जीवन की वास्तविकताओं और भावनाओं की सांकेतिक और सूक्ष्म अभिव्यक्ति पाता रहा हो, लेकिन

पहली बार उसके जीवनचित्र को अपनी संपूर्णता और समग्रता में पेश कर सकने की संभावना उपन्यास के माध्यम से ही प्रकट हुई। उस जीवन में छोटे-छोटे सुख-दुःख, उनके रोजमर्रा के संघर्ष, उनकी आशाएँ और निराशाएँ, उन विराट संघर्षों और उपलब्धियों की तुलना में भले ही तुच्छ से प्रतीत होते रहे हों, लेकिन इन्हीं से उनके जीवन की कहानी बनती थीं। लेकिन यह कहानी किसी एक की नहीं थी, वह उन जैसे लाखों-लाख लोगों की कहानियाँ थीं। इसी अर्थ में होरी की कहानी एक किसान की कहानी नहीं थी और इस प्रतिनिधिकता के कारण ही होरी का संघर्ष भी महाकाव्यात्मक रूप धारण कर सका जिस महाकाव्यात्मकता को अब तक देवताओं और राजाओं के संदर्भ में ही देखा और समझा जा रहा था।

यह बहसतलब है कि उपन्यास उसी तरह का आस्वादन पैदा करता है जिस तरह का आस्वादन महाकाव्य से मिलता है। आमतौर पर हम उपन्यास के संदर्भ में महाकाव्यात्मकता की बात करते हैं। लेकिन महाकाव्य के संदर्भ में औपन्यासिकता की बात प्रायः नहीं करते। इसकी वजह यह है कि उपन्यास में प्रतीकात्मकता हो, या प्रतिनिधिकता अंततः उसका आंतरिक तर्क जीवन के उस यथार्थ से पैदा होता है जिसमें किसी तरह की चमत्कारिकता और दैवीयता संभव नहीं है। अगर लेखक लेखकीय प्रविधि के तौर पर ऐसे किसी शिल्प को अपनाता भी है जो ऊपरी तौर पर यथार्थवादी नहीं लगती हो, तब भी उसका आंतरिक तर्क यथार्थवाद से ही उपजता है। उपन्यासों के अस्तित्व में आने के बाद ही यथार्थवाद चर्चा में आया है और बाद में यथार्थवाद को साहित्य की सभी विधाओं के संदर्भ में ही नहीं लगभग सभी कलाओं के संदर्भ में भी एक केंद्रीय अवधारणा के रूप में देखा जाने लगा है। स्पष्ट ही यथार्थवाद, जीवन जैसा है उसे उसी रूप में प्रस्तुत करने का सिद्धान्त नहीं है और न ही जीवन जैसा होना चाहिए उसका सिद्धान्त है। यथार्थवाद का संबंध इन दोनों से होता है लेकिन यथावत रूप में नहीं। उपन्यास में जीवन का विस्तृत चित्रण होता है लेकिन जीवन को हू-ब-बू उपन्यास में ही नहीं किसी भी विधा में नहीं पेश किया जा सकता। यह संभव ही नहीं है।

जब हम जीवन की बात करते हैं तो किसी व्यक्ति विशेष के जीवन की बात कर रहे होते हैं। लेकिन वह व्यक्ति एक काल्पनिक व्यक्ति होता है। लेखक द्वारा गढ़ा हुआ। यदि वह कोई ऐतिहासिक या मिथकीय चरित्र, है तो भी उपन्यास में उसे जिस रूप में चित्रित किया जाता है, वह लेखक की अपनी कल्पना की देन होता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के बाणभट्ट में ऐतिहासिक बाणभट्ट को खोज सकते हैं लेकिन हम यह दावा कर सकते हैं कि दोनों हू-ब-हू एक हैं। क्योंकि ऐतिहासिक बाणभट्ट के बारे में हम उन सब बातों को नहीं जानते जिन बातों का वर्णन हमें उपन्यास में पढ़ने को मिलता है। हमें यह जानने की आवश्यकता भी नहीं है। हमारे लिए यह महत्वपूर्ण नहीं है कि औपन्यासिक बाणभट्ट ऐतिहासिक बाणभट्ट के कितना नजदीक या दूर है। फिर भी, हम 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को नितान्त काल्पनिक उपन्यास नहीं कहते। यह महत्वपूर्ण नहीं है कि उपन्यास में वर्णित घटनाएँ बाणभट्ट के अपने काल में घटी या नहीं। हम यह भी जानते हैं कि इस उपन्यास के कई पात्र जैसे भट्टिनी, निउनिया, महामाया आदि काल्पनिक पात्र हैं। उपन्यास में उठाए गए कई मुद्दे उस दौर से ज्यादा इस दौर के लिए सत्य हैं जिस दौर में यह उपन्यास लिखा जा रहा था। मसलन, युद्ध की विभीषिका, स्त्रियों की स्वतंत्रता और आत्मसम्मान का प्रश्न, एक लेखक की सामाजिक भूमिका, धर्म और आस्था का प्रश्न। ये सभी जिन्हें बाणभट्ट के समय में आरोपित कर पेश किए गए हैं। वह दूसरे विश्वयुद्ध के समय के यथार्थ से ज्यादा मेल खाते हैं। जब भारत औपनिवेशिक दासता से जकड़ा था और आजादी की लड़ाई के साथ-साथ एक स्वतंत्र, समतावादी समाज बनाने का संघर्ष भी देश में चल रहा था।

तो क्या हम यह मानें कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को बाण के अपने समय में रखकर बिलकुल न देखें। यदि नहीं तो फिर ऐतिहासिक पात्रों को लेकर ऐतिहासिक कथानक पर उपन्यास लिखने की आवश्यकता ही क्या है। क्या हम अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों को अपने समय के यथार्थ के संदर्भ में ज्यादा अर्थवान ढंग से पेश नहीं कर सकते? लेकिन साहित्य के संदर्भ में वर्तमान जो गतिशील है, जो अभी 'अतीत' नहीं हुआ है, उसका चित्रण कैसे मुमकिन है? लिखा जाकर वह अतीत ही हो जाएगा। हाँ लेखक भविष्य पर लिख सकता है जैसे जार्ज आरवेल के उपन्यास '1984' को लिया जा सकता है, जो जब लिखा गया तब वह भविष्य की कल्पना थी, लेकिन 1984 के दौरान और उसके बाद वह भविष्य नहीं रहा। आमतौर पर भविष्योन्मुखी रचनाओं में चित्रित जीवन को यूटोपियाई कहा जाता है लेकिन '1984' के संदर्भ में उसे नकारात्मक यूटोपिया की संज्ञा दी गई क्योंकि उसमें एक भयावह भविष्य की तस्वीर पेश की गई थी। यही नहीं यह भी प्रश्न उठा कि जार्ज आरवेल ने '1984' में 1984 की कल्पना जिस रूप में थी, क्या वास्तव में दुनिया और खासतौर पर समाजवादी देशों में व्यवस्थाएँ ठीक वैसी ही थीं, जैसी उपन्यास में चित्रित की गई थी। '1984' का प्रकाशन 1949 में हुआ था। प्रकाशन से तीन-चार साल पहले आरवेल ने इस उपन्यास के लिखने की योजना बना ली थी और 1947-48 के दौरान उपन्यास लिखा गया था। यह दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितियाँ थीं। अमेरिका द्वारा जापान के दो शहरों हिरोशिमा और नागासाकी पर एटम बम के हमले के साथ फासीवादी ताकतों की हार हो चुकी थी। लेकिन फासीवाद का आतंक अब भी यूरोप पर छाया हुआ था और स्टालिन शासित सोवियत संघ को एक बड़े खतरे के रूप में पेश किया जा रहा था। यह वह समय था जब शीतयुद्ध अपने चरम की ओर बढ़ रहा था। फासीवादी ताकतों को हराने के बाद अमेरिका के नेतृत्व में साम्राज्यवादी देशों ने सोवियत संघ सहित अन्य समाजवादी देशों को अपने वैचारिक हमले का निशाना बना लिया था और इसी ने शीतयुद्ध की स्थितियाँ पैदा कीं। इसके लिए कुछ हद तक स्टालिन की नीतियाँ जिम्मेदार थीं जिन्हें शीतयुद्ध के दौरान हिटलर, मुसोलिनी की परंपरा में एक तानाशाह की तरह पेश किया जा रहा था और सोवियत संघ को सर्वसत्तावादी शासन व्यवस्था वाला देश कहा जा रहा था। इन स्थितियों ने यूरोप के लेखकों और बुद्धिजीवियों को भी अपने प्रभाव में ले लिया था। स्पष्ट ही '1984' को समझने के लिए इन तत्कालीन स्थितियों को समझना बहुत जरूरी है। शीतयुद्ध से प्रभावित यूरोप के लेखकों को यह बहुत स्वाभाविक लग रहा था कि सोवियत संघ आज जिस रास्ते पर चल रहा है, उस रास्ते पर चलते हुए वह लगभग पैंतीस साल बाद टैक्नॉलोजी की मदद से एक ऐसे बंद और गुलाम समाज में बदल जाएगा जहाँ सत्ता की नजर हर नागरिक की प्रत्येक गतिविधि पर होगी। अमेरिका और सोवियत संघ की टकराहट की स्थितियाँ बहुत अधिक बदतर हो जाएगी और नये तरह के खतरे पैदा होंगे। 1984 तक आते-आते संचार प्रौद्योगिकी ने इतनी तरक्की अवश्य कर ली थी कि नागरिकों पर उसी तरह की नजर रखी जा सके जिस तरह की कल्पना '1984' में की गई थी। सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के दूसरे देश तो 1984 के पाँच-छह साल बाद ही अपने आंतरिक अंतर्विरोधों के चलते ढह गये थे। वहाँ की कथित समाजवादी व्यवस्थाएँ विघटित होकर पूँजीवादी व्यवस्थाओं में तब्दील हो गई थी और यह सब बिना किसी खून-खराबे के हुआ था। यानी कि समाजवादी व्यवस्थाएँ बड़ी आसानी से लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को अपनाते हुए पूँजीवादी व्यवस्थाओं में रूपांतरित हो गई। यह बदलाव सकारात्मक था या नकारात्मक इसका फैसला अभी इतिहास को करना है।

यह उदाहरण यह बताने के लिए पर्याप्त है कि भविष्य को लेकर लेखक की कल्पनाशीलता ठीक उसी रूप में आकार ग्रहण करेगी जिस रूप में लेखक ने लिखा है, यह नहीं कहा जा

सकता। आरवेल की कल्पनाशीलता का आधार जब उपन्यास लिखा जा रहा था, उस समय की परिस्थितियाँ थीं, लेकिन सिर्फ परिस्थितियाँ नहीं बल्कि परिस्थितियों की लेखक की अपनी समझ जो बहुत सी बाहरी चीजों से संचालित और निर्देशित थी। उसमें शीतयुद्धीय प्रचार भी था जिसके गहरे प्रभाव में आरवेल थे और उसी के आधार पर उन्होंने एक तानाशाही व्यवस्था की कल्पना की जहाँ नागरिकों को किसी तरह का अधिकार नहीं था। इस तानाशाही व्यवस्था का आधार सिर्फ स्टालीन कालीन सोवियत संघ नहीं था। इसमें फासीवादी व्यवस्थाओं का अनुभव भी शामिल था, तो अमेरिका की बढ़ती ताकत से जुड़ी आशंकाएँ भी शामिल थीं। कुल मिलाकर दुनिया का नक्शा कुछ ऐसा था कि आरवेल को भविष्य को लेकर कोई उम्मीद नजर नहीं आ रही थी। इसी नैराश्य ने उन्हें एक ऐसी फैंटेसी रचने की प्रेरणा दी जो भविष्य की गहरी स्याह तस्वीर पेश करती थी। इसी नैराश्य को उन्होंने जिस तरह के कथानक के माध्यम से और जिन चरित्रों के माध्यम से पेश किया, उस समय न तो वैसा समाज था और न ही वैसे चरित्र। लेकिन क्या '1984' को असत्य कहा जा सकता है? लेखकीय निहितार्थ की दृष्टि से भले ही वह सत्य साबित न हुआ हो, लेकिन 1984 के बाद की स्थितियाँ यह जरूर बताती हैं कि वह असत्य भी नहीं है।

साहित्य के संदर्भ में भोगे हुए यथार्थ की काफी चर्चा की जाती है लेकिन जो भोगा जा चुका यानी जो बीत गया, वह तो अतीत ही है और हम दावे के साथ नहीं कह सकते कि जिस भोगे हुए यथार्थ को रचना के माध्यम से पेश किया गया है, ठीक वैसा ही सचमुच घटित हुआ है। बहुत से उपन्यासों के बारे में यह माना जाता है कि वह आत्मकथात्मक हैं। जैसे अज्ञेय के उपन्यास 'शेखर: एक जीवनी' के बारे में यह कहा जाता रहा है। लेकिन जब कोई लेखक अपने जीवन को आत्मकथा की तरह पेश करता है तब भी क्या वह अपने जीवन के बारे में सब कुछ बताता है। यहाँ महज लेखकीय ईमानदारी का प्रश्न नहीं है। स्वयं अपने जीवन के बारे में अपनी सोच का प्रश्न है। वह अपने जीवन को किस रूप में देखना और दिखाना चाहता है। जन्म से मृत्यु तक का फैला प्रत्येक व्यक्ति का जीवन विभिन्न घटनाओं और प्रसंगों से आकर दे। उसे किस तरह का समाज दे और किस तरह के पात्रों के बीच उसे पेश करे। हम भले ही अपने आस-पास का संसार खुद नहीं चुनते लेकिन लेखक को उपन्यास में एक काल्पनिक संसार बनाना होता है, उस काल्पनिक संसार के काल्पनिक पात्र बनाने होते हैं और उनको अलग-अलग तरह की सोच, अलग-अलग तरह के स्वभाव और अलग-अलग तरह की परिस्थितियाँ देनी होती हैं। दरअसल, रचना करते हुए लेखक एक ऐसी शतरंज खेल रहा होता है जिसके दोनों तरफ खिलाड़ी के तौर पर वह खुद मौजूद होता है, लेकिन उसे अपने पाठकों में यह यकीन पैदा करना होता है कि उसने दोनों तरफ पूरी ईमानदारी से खेल खेला है और किसी तरह की धोखाधड़ी नहीं की है।

जीवन के विस्तृत फैलाव में से घटनाओं, प्रसंगों, पात्रों और उनसे निर्मित होने वाले परिवेश के चयन का आधार उस मकसद से तय होता है जो लेखक की रचनात्मक प्रेरणा का केंद्रीय बिंदु है। जब लेखक उपन्यास का ढाँचा निर्मित कर रहा होता है तब उसके सामने अगर कोई चीज स्पष्ट होती है तो उसका मकसद ही। लेकिन उस मकसद को पूरा करने के लिए उसके सामने कच्चे माल की तरह चारों ओर फैला जीवन संसार होता है। वह संसार जिसका एक अतीत है और एक भविष्य भी। उस अतीत और भविष्य से अलग कर वह उस जीवन संसार को नहीं देख सकता। वह कथानक के लिए अतीत को चुने या भविष्य को या वर्तमान को, उसे काल के इन तीनों खंडों में से गुजरना ही होता है। वह उपन्यास जो अपने मौजूदा समय से बहुत गुँथा लगता है, उसमें भी अतीत की अनुगुँजें और भविष्य की आहटें सुनी जा सकती

हैं। लेखक सतत प्रवाहमान काल के जिस बिंदु पर खड़ा होकर अपनी रचना करता है, उस काल खंड को वह चाहकर भी अतीत और भविष्य से अलगा नहीं सकता। क्या होरी के जीवन की त्रासदी उसके वर्तमान की त्रासदी है? क्या 'गोदान' को पढ़ते हुए उस अतीत का एहसास नहीं होता, जो वर्तमान बनकर होरी के जीवन को डस रहा है। सिलिया के साथ जो कुछ होता है, वह भी उस अतीत का ही नतीजा है जिसमें सवर्ण जातियों ने दलितों से मनुष्य होने का अधिकार छीन लिया था। लेकिन सिलिया के साथ होने वाले अत्याचार का बदला लेने के लिए दलितों द्वारा मातादीन के मुँह में डाली जाने वाली हड्डी उस भविष्य की सूचक है, जो प्रेमचंद के समय में भले ही वर्तमान न बना हो, लेकिन जिसके आने की आहटें प्रेमचंद सुन रहे थे और उन्हीं आहटों को उन्होंने 'गोदान' का वर्तमान बनकर पेश कर दिया था। यह भी एक तरह की फैंटेसी है, भविष्य की कल्पना जिसके पीछे लेखक की वैचारिक और वर्गीय प्रतिबद्धता भी काम कर रही होती है।

काल को एक दूसरे परिप्रेक्ष्य से देखा जा सकता है। '1984' के संदर्भ में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि भविष्य की कल्पना सदैव उसी रूप में घटित नहीं होती जिस रूप में लेखक अपनी रचना में करता है। यह बात कही जा चुकी है कि '1984' में जिन प्रौद्योगिकियों की कल्पना जार्ज आरवेल ने की थी, कमोबेश वह सब 1984 आते-आते सत्य साबित हुई और उसके भी तीस साल बाद विज्ञान और प्रौद्योगिकी उससे भी आगे निकल चुकी है। लेकिन जिस सर्वसत्तावादी शासन व्यवस्था की कल्पना उन्होंने की थी, वह दरअसल कोई कल्पना नहीं थी। पूरी दुनिया को जिस तरह अलग-अलग सर्वसत्तावादी राज्यसमूहों के रूप में कल्पित किया गया है, वह उपन्यास की रचना के समय भले ही सत्य हो, लेकिन 1984 के लिए वह सत्य नहीं था। सर्वसत्तावादी शासन व्यवस्था को यूरोप देख चुका था और उस समय भी वे सोवियतसंघ को सर्वसत्तावादी शासन के रूप में ही देख रहे थे। यह और बात है कि उस समय भी स्पेन, पुर्तगाल आदि में उस तरह का लोकतंत्र नहीं था जैसा लोकतंत्र अन्य यूरोपीय देशों में था। वहाँ तानाशाही शासन व्यवस्था ही थी और सोवियत संघ की तरह समाजवादी व्यवस्था वहाँ नहीं थी। अमेरिका की बढ़ती शक्ति भी संभवतः आरवेल के लिए भविष्य की दुनिया के लिए एक खतरा ही थी। लेकिन '1984' से यह जरूर स्पष्ट है कि लेखक के लिए एक नयी व्यवस्था की कल्पना करने की तुलना में प्रौद्योगिकी की भविष्योन्मुखी कल्पना करना आसान है। इसे हम पौराणिक कथाओं और विज्ञान कथाओं दोनों में भी देख सकते हैं। पुराण कथाओं में जिन दिव्यास्त्रों की चर्चा की गई है, मूल रूप में ये वे ही अस्त्र-शस्त्र हैं जो अपनी दिव्यता के बिना उस समय मौजूद थे जब ये पुराण कथाएँ गढ़ी गई थीं। धनुष, भाला, गदा, तलवार, आदि हाथ में पकड़ कर चलाए जाने वाले और हाथ से दूर फेंक कर चलाए जाने वाले दोनों तरह के अस्त्र-शस्त्रों पर ही दिव्यता का आरोपण कर उन्हें चमत्कारिक बना दिया गया। वे बंदुक, तोप या पिस्तौल की कल्पना नहीं कर सकते थे। ठीक यही पद्धति आधुनिक विज्ञान कथाओं में देख सकते हैं। जहाँ आज की वैज्ञानिक उपलब्धियों को ही लेखक और बढ़ा-चढ़ाकर नवीन रूपों में अपनी रचनाओं में पेश करता है। लेकिन जिस तरह पुराण कथाएँ किसी भविष्योन्मुखी शासन व्यवस्था या समाज व्यवस्था की कल्पना करने में असमर्थ थीं उसी तरह आधुनिक विज्ञान कथाओं में भी हम किसी भविष्योन्मुखी शासन व्यवस्था और समाज व्यवस्था की कल्पना नहीं देखते। इस मामले में वे अतीत और वर्तमान का ही अनुकरण करने को बाध्य होते हैं। भविष्य का समाज कैसा होगा इसकी तस्वीर उसमें प्रयुक्त होने वाली प्रौद्योगिकी से नहीं बल्कि उन मानव संबंधों और व्यवहारों से तय होगी जो अतीत से भिन्न हो। जब तुलसीदास 'रामचरित मानस' में रामराज्य की कल्पना एक ऐसे राज्य के रूप में करते

हैं जहाँ किसी को किसी तरह का दैहिक, दैविक और भौतिक ताप (दुःख) न हो तो वह भिन्न की तरह की समाज व्यवस्था की बात कर रहे प्रतीत हो सकते हैं। लेकिन यह संकल्पना राज्य व्यवस्था का ही आदर्शिकरण है जो तुलसीदास के समय मौजूद थी और उनकी कल्पनाशीलता उससे आगे जाने में असमर्थ थी।

लेकिन उसी सामंती युग के बारे में आज का लेखक कोई उपन्यास लिखता है, जैसे हिंदी में ही हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा', यशपाल का 'दिव्या' या भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' तो यह बहुत स्वाभाविक है कि वह अपनी रचना में सामंती युग की व्यवस्था की ही पुनर्चना करेगा। लेकिन क्या ऐसा करते हुए उसमें आधुनिक युग पूरी तरह अनुपस्थित रहेगा? 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उस रचनाकाल (उपन्यास का प्रकाशन 1946 में हुआ था) के सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को देखा जा सकता है जो इस उपन्यास की रचना के पीछे प्रेरणा के रूप में मौजूद रहे होंगे। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के महत्त्व और प्रासंगिकता को समझा ही नहीं जा सकता जब तक कि हम दूसरे विश्वयुद्ध और स्वतंत्रता संघर्ष के अंतिम चरण की परिस्थितियों को ध्यान में नहीं रखते। यहाँ उपन्यास के विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं है, सिर्फ बाणभट्ट के एक कथन को उद्धृत करना पर्याप्त होगा। गरीबों, दलितों और स्त्रियों के शोषण और उत्पीड़न तथा अपने स्वार्थों के लिए युद्धों का आयोजन, इन सब से विचलित होकर बाणभट्ट अपने आप से पूछता है, "क्या यह कभी बंद नहीं होगा? क्या संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु इसी प्रकार अपमानित होती रहेगी? मेरा मन कहता था कि जब तक राज्य रहेंगे, सैन्य संगठन रहेंगे, पौरुष-दर्प का प्राचुर्य रहेगा, तब तक यह होता ही रहेगा। परंतु क्या कभी संभव है कि मानव-समाज में राज्य न हों, सैन्य संगठन न हों, संपत्ति मोह न हो? (हजारी प्रसाद द्विवेदी, खंड-1, दूसरा संस्करण: 1998, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, पृ. 102)। भविष्य की ऐसा यूटोपिया सातवीं सदी का कोई लेखक-कवि नहीं कर सकता था। बाणभट्ट का कोई ग्रंथ इस बात का प्रमाण नहीं देता। लेकिन बीसवीं सदी के पाँचवें दशक का लेखक ऐसा यूटोपिया देख सकता है। वह लेखक देख सकता है। जिसके समय में दूसरे विश्वयुद्ध की विभीषिका घटित हुई हो जो विभाजन के मुहाने पर पहुँचे देश को दावानल में जलते देख रहा हो। वह इसलिए भी देख सकता है कि उन्नीसवीं सदी में ही ऐसे कई विचारक हो चुके थे जिन्होंने भविष्य की एक ऐसी कल्पना पेश की थी जो उस समय की पूँजीवादी व्यवस्था का विकल्प बन सके। स्वयं कार्ल मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में मानव इतिहास की जो व्याख्या पेश की थी, उस व्याख्या में पूँजीवाद के मौजूदा चरण के बाद वह समाजवाद से होते हुए जिस साम्यवादी शासन व्यवस्था की कल्पना की थी, वह एक राज्य विहीन शासन व्यवस्था थी। भले ही साम्यवाद अब भी किसी देश में फलीभूत न हुआ हो, लेकिन भविष्य की एक संभावना के रूप में वह विचार की दुनिया में अस्तित्वमान हो चुका था। ठीक इसी वजह से किसी भी लेखक के लिए ऐसी इच्छा प्रकट करना पूरी तरह मुमकिन था। यह और बात है कि हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे लगभग तेरह सौ साल पीछे ले जाते हैं। ठीक उसी तरह जिस तरह वे अपने उपन्यास में रवींद्र की एक कविता के भावार्थ को बाण के उद्गार के रूप में इस्तेमाल करते हैं।

उपन्यास अपनी विधागत विशिष्टता के कारण ही प्रवाहमान काल को इस तरह प्रतिबिंबित कर सकता है कि पाठक उसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों को एक साथ ग्रहण कर पाता है। लेकिन क्या यह बात दिक् या देश के संदर्भ में भी कही जा सकती है? क्या उपन्यास उस दिक् के परे जाने की क्षमता रखता है, या काल सापेक्ष है। मसलन चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि कलाएँ दिक् सापेक्ष होती हैं। इसी तरह संगीत, साहित्य आदि काल सापेक्ष होती हैं। हालाँकि अब फिल्म जैसी कला भी है जो एक साथ दिक् और काल दोनों में समान रूप से

अवस्थित होती है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जो कला काल सापेक्ष होती है, वहाँ दिक् पूरी तरह अनुपस्थित रहता है और न ही जो कला दिक् सापेक्ष होती है, वहाँ काल अनुपस्थित होता है। इसे इस तरह समझा जा सकता है कि काल सापेक्ष कला बिना दिक् के वजूद में नहीं आ सकती। उपन्यास में जीवन का प्रवाह होता है लेकिन वह प्रवाह दिक् के बिना नहीं हो सकता। होरी की गाय पालने की इच्छा से शुरू हुआ उपन्यास होरी की मौत पर गोदान के साथ समाप्त होता है। यहाँ समय बीतता हुआ महसूस होता है। लेकिन ये सारी घटनाएँ दिक् के एक खास विस्तार में घटती हैं। यहाँ समय बीतता हुआ महसूस होता है ठीक उसी तरह जिस तरह समय अपना चरित्र है। काल और दिक् का यह चरित्र भी उपन्यास के साथ-साथ बदलता हुआ अपने को अभिव्यक्त करता हुआ चलता है। 'गोदान' के शुरुआत में जिस बेलारी गाँव से हमारा परिचय होता है, उपन्यास के खत्म होते-होते वह गाँव वही नहीं रहता। एक पूरी त्रासदी वहाँ घटित हो चुकी है। उस गाँव में ऊपरी तौर पर कुछ खास नहीं बदलता। होरी की मौत ने कथा के अंदर व्यवस्था के किसी भी रूप को न तो चुनौती दी थी और न ही उससे उन पर हल्की सी खरोंच भी आई थी। सब कुछ वैसा ही बना रहता है। अंग्रेजों की औपनिवेशिक सत्ता, रायसाहब की जमींदारी, दातादीन का ब्राह्मणवाद, दुलारी सहुआइन का महाजनी शोषणफिर भी होरी का मरना जिस महाकाव्यात्मक त्रासदी की सृष्टि करता है, वह महाभारत युद्ध के अंतिम दिन सा भव्य और भयावह दृश्य भले ही उपस्थित न करता हो, लेकिन पाठक के लिए वह उस त्रासदी से कम असरकारक नहीं होता। यह त्रासदी एक व्यक्ति की मृत्यु के रूप में हमारे सामने नहीं आती बल्कि एक पूरे वर्ग की त्रासदी के रूप में हमारे सामने आती है। वह उन सभी व्यवस्थाओं के होने को प्रश्नांकित कर देती है। पाठक एक ही बात ग्रहण करता है कि जब तक ये व्यवस्थाएँ मौजूद हैं तब तक होरी को ऐसी ही मौत मरना होगा। यह महज संयोग नहीं है कि उपन्यास लिखे जाने के लगभग 75 साल बाद एक नितान्त भिन्न दिक्-काल में होरी नाम का किसान उसी तरह मजदूरी करते हुए मर जाता है। मेरा तात्पर्य फिल्म 'पीपली लाइव' से है, जो 2010 में प्रदर्शित हुई थी। लेकिन यह 2010 का पूरा सच नहीं है। पूरा सच रोज होने वाली किसानों की आत्महत्याएँ हैं जो 1936 में पूरी तरह अनुपस्थित थी लेकिन इन आत्महत्याओं ने अभी तक ऐसी कोई महाकाव्यात्मक रचना नहीं दी है, जो 'गोदान' की परंपरा को आगे बढ़ाती हो। क्या इसका कारण उस यूटोपिया की गैरमौजूदगी है। जो आजादी से पहले के लेखकों को सहज ही प्राप्त था और जो आजादी के दो दशकों बाद तक ही बंकिमचंद के लेखन में राष्ट्रवाद की इस संकीर्ण व्यवस्था के सूत्र मिल जाते हैं। इसी तरह स्त्री शिक्षा, स्त्री उत्थान और जातिवाद के विरोध के कार्यक्रमों में ऐसा बहुत कुछ था जो भारत की बहुसांस्कृतिक परंपरा का निषेध करता था। हिन्दी के नवजागरणकालीन लेखन में भी राष्ट्रवाद के इस अंतर्विरोधों को देखा जा सकता है। इस दृष्टि से प्रेमचंद पहले लेखक थे जिन्होंने इन अंतर्विरोधों से संघर्ष करते हुए राष्ट्रवाद की बहुलतावादी और समावेशी व्याख्या को अपनी रचनाओं का आधार बनाया था।

लेकिन इसके साथ ही प्रेमचंद का महत्त्व इस बात में था कि उन्होंने मध्यवर्ग की सीमा रेखा से उपन्यास को निकालकर उस पर मेहनतकश जनता से जोड़ा जिसके बिना उपन्यास भारतीय समाज के यथार्थ की प्रतिनिधि विधा नहीं बन सकता था। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि यह काम अकेले प्रेमचंद कर रहे थे। उड़िया के महान कथाकार फकीर मोहन सेनापति (1843-1918) प्रेमचंद से बहुत पहले उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में 'छह माण अट्ट गुंठ' उपन्यास के माध्यम से किसान जीवन को पेश कर चुके थे। किसान जीवन के यथार्थ को पेश करने की कोशिशें अन्य भाषाओं और अन्य विधाओं में भी हो रही थी।

लेकिन यह भी सही है कि उपन्यास में केंद्रीयता मध्यवर्ग की ही बनी रही। मध्यवर्ग के जीवन के बहुआयामी अंतर्विरोधों के साथ ही इस विधा ने अपने को विकसित किया।

प्रेमचंद के बाद के प्रगतिशील आंदोलन ने भी इस परंपरा को और पुष्ट किया। यह अवश्य है कि उस दौर में कथा साहित्य के क्षेत्र में कई तरह की परस्पर विरोधी धारों को देखा जा सकता है। निश्चय ही यशपाल, नागार्जुन, उपेंद्रनाथ अशक आदि को प्रगतिशील धारा के रूप में और जैनंद्र, अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी को व्यक्तिवादी या मनोविज्ञानवादी धारा के रूप में पेश किया जाता रहा है। लेकिन इस बात को प्रायः भुला दिया जाता है कि राष्ट्रवाद की बहुलतावादी और समावेशी व्यवस्था से इन कथाकारों का भी कोई मतभेद नहीं था।

दरअसल, प्रेमचंद ने राष्ट्रवाद को आजादी के संघर्ष के संदर्भ में ही नहीं आजादी के बाद बनने वाले भारत के संदर्भ में भी देखना जरूरी समझा। इसलिए उनके यहाँ यह प्रश्न केंद्रीय महत्त्व का बन जाता है कि अगर आजादी मिलती है, तो वह किस तरह की आजादी होगी। क्या यह जॉन को हटाकर गोविंद को बैठाना होगा। प्रेमचंद का महत्त्व यह है कि आजादी के सवाल को मध्यवर्गीय चिंताओं से निकालकर उस विशाल जनता का सवाल बना देते हैं जो बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक आजादी के संघर्ष के हाशिये पर ही बना हुआ था। लेकिन दूसरे दशक में पहली बार भारतीय राजनीति में किसान और मजदूर हितों का सवाल हाशिए से खिसककर केंद्र में आने लगता है। तीसरे दशक के आते-आते स्त्री का प्रश्न केवल उत्पीड़न से मुक्ति तक सीमित नहीं रह कर उसकी स्वतंत्रता का प्रश्न भी बन जाता है। रवींद्रनाथ 'योगायोग' (1927-28) उपन्यास में स्त्री के प्रश्न को स्त्री की स्वतंत्रत पहचान के प्रश्न में बदल देते हैं। उन्होंने इस उपन्यास की नायिका कुमुदनी के मुख से कहलाया है कि स्त्री अपनी स्वतंत्र पहचान खोकर कुछ भी हासिल कर ले उसका कोई अर्थ नहीं रह जाता। वह कहती है, "मैं उनकी बहू हूँ, इस बात का क्या अर्थ शेष रह जाता है यदि मैं कुमुदिनी बनकर न रह पाऊँ" (योगायोग, अनुवाद: इलाचंद्र जोशी; द्वितीय संस्करण: 1967; साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, पृ. 246) वह यहाँ तक कहती है कि "कुछ ऐसा भी इस संसार में है, जिसे संतान के लिए भी नहीं खोया जा सकता" (वही, पृ. 245) और यह भी कि "मनुष्य जब मुक्ति चाहता है तब कोई भी चीज उसे नहीं रोक सकती।" (वही, पृ. 245)

बीसवीं सदी के इन शुरुआती दशकों से जब साहित्य का आंदोलन आधुनिक वैचारिकता को और मजबूती से ग्रहण करता हुआ आगे बढ़ता है, तो स्त्री-पुरुष संबंध के कई और जटिल आयाम खुलने लगते हैं। जैनंद्र, यशपाल, अज्ञेय आदि के आरंभिक उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंधों की अभिव्यक्ति को परिवार और समाज के दायरे से बाहर निकालकर ऐसे व्यक्तियों के रूप में पेश किया जो अपने जीवन के बारे में स्वयं निर्णय ले सकते थे, उसके लिए हर तरह का खतरा उठा सकते थे। यौन संबंधों को लेकर जो कुंठाएँ उन्हें विरासत में मिली थी, उन्होंने अपने को उससे मुक्त करने की कोशिश भी की थी। उनकी इस आधुनिक चेतना को न समझ पाने के कारण ही रामविलास शर्मा जैसे आर्यसमाजी मानसिकता वाले कथित प्रगतिशील आलोचकों ने इस लेखन पर अश्लीलता का आरोप लगाया था और उसे प्रेमचंद के लेखन से विचलन मानकर खारिज कर दिया था।

हिंदी के रचनात्मक लेखन में विशेष रूप से उपन्यास साहित्य में भारतीय समाज की विविधताओं और उनमें निहित अंतर्विरोधों से जूझने और टकराने का साहस ज्यादा दिखाई देता रहा है। यह और बात है कि हिंदी की आलोचना उसके साथ कदम मिलाती हुई चलने में प्रायः असमर्थ नजर आई है।

(‘कथालोचना : दृश्य-परिदृश्य’ नामक पुस्तक से)



## हिन्दी उपन्यास की अल्पता पर कुछ ऊहापोह

मदन सोनी

क्या हमारे पास साहित्य की कोई ऐसी विधा है जिसके माध्यम से हम 'आधुनिक' भारतीय मनुष्यता की अवस्था को, समूची जटिलता, संश्लिष्ट ओर रंगतों में, सम्यक और मूर्त ढंग से अनुभव कर सकें? जिसके माध्यम से हम 'आधुनिक' भारतीय मनुष्य की अस्तित्वपरक अवस्थिति का, अपने ओर अपनों से इतर सत्ताओं के साथ उसके रिश्तों का, उसकी जीवनदृष्टि और विश्वदृष्टि का पता पा सकें? ऐसी विधा तो इतिहास, प्रकृति या स्वयं इस मनुष्य द्वारा निर्मित परिस्थितियों और आकस्मिक संयोगों के बीच, जीवन के रणस्थल के ठीक, बीचोंबीच, इस मनुष्य की साँसत या धर्मसंकट, उसकी दुविधाओं, अन्तर्विरोधों और विरोधाभासों का, संकेत दे सकती हो? जिसके भीतर हम इस मनुष्य के चेतन और अवचेतन मानस तथा उसके दुर्निवार सांसारिक आकर्षणों और नैतिक अन्तश्चेतना के बीच के द्वन्द्वों का, उसके संकल्पों और कृत्यों के बीच की दूरी का, उसकी सामर्थ्य और लाचारियों का, उसी अनन्त सम्भावनाओं और विफलताओं का, उसकी सत्यनिष्ठा, प्रेम और करुणा का, उसके झूठ, घृणा और हिंसा का, उसकी न्यायप्रियता और उसके अन्याय का, उसकी अकिंचनता और दम्भ का जायजा ले सकें? ऐसी विधा जिसमें यह सब सूक्ष्म विवरणों से भरी एक ऐसी विश्वसनीय जीवन-लीला में चरितार्थ हो जो सिर्फ हमारी तर्कबुद्धि को नहीं बल्कि उससे पहले हमारे ऐन्द्रिक संवेदनों का स्पर्श करती हो? ऐसी विधा जो, इस सब के साथ, इस मनुष्य की आत्मकल्पना की सामर्थ्य का भी परिचय देती हो?

ये सारी अपेक्षाएँ अपनी समग्रता में जिस एक विधा की ओर इशारा करते हैं, वह जाहिर है, उपन्यास है। कम से कम पश्चिमी संस्कृति के भीतर तो निश्चय ही इन सवालों का एकमात्र तत्काल और सकारात्मक जवाब उपन्यास ही होगा। और यह जवाब यहाँ न सिर्फ पिछले कम से कम सौ वर्षों से निरन्तर कायम है बल्कि वह अपनी अद्वितीयता में उत्तरोत्तर दृढ़ और पैना होता गया है। उपन्यास, साहित्य की एक विधा है लेकिन पश्चिम की संस्कृति के साथ उसके

तादात्म्य का अहसास पश्चिम के मानस में कितना गहरा है, इसे हम वहाँ के लेखक (ई. एम. सिसोरन) के उस रूपकात्मक कथन में लक्ष्य कर सकते हैं जहाँ वह यूरोपीय समाज को “उपन्यास का समाज” और यूरोपीय मनुष्य को “उपन्यास की सन्तान” कहता है (मिलान कुन्देरा द्वारा टेस्टामेण्ट ब्रिट्रेड में उद्धरित)। पश्चिम के आधुनिक मानस के बारे में हमें जो अर्न्तदृष्टि उसके चिन्तकों के माध्यम से मिलती है वह निश्चित ही असाधारण है, लेकिन इससे कहीं अधिक असाधारण इस मानस के साथ हमारा वह बौद्धिक और संवेदनात्मक तादात्म्य है जो हमें पश्चिम का उपन्यास उपलब्ध कराता है। इसकी वजह निश्चय ही यह नहीं कि इस मानस में चिन्तकों के मुकाबले उपन्यासकारों की पैठ अधिक है, वजह शायद दोनों की विधाओं के स्वभाव और सामर्थ्य के फर्क में है उस जीवन-लीला का रिप्ले, जाहिर है, उपन्यास के विन्यास में ही सम्भव था जिसमें यह मानस अपनी तद्रूपता में और अपनी चरम सम्भावनाओं के साथ प्रगट हो सकता था; जिसमें यह मानस स्वयं उस दार्शनिक विमर्श में शिरकत कर सकता था जिसका वह, अन्यथा, महज एक विषय बनकर रह जा सकता था।

पश्चिम की आधुनिक सभ्यता के साथ उपन्यास का यह सम्बन्ध आकस्मिक नहीं है; उसमें एक सहज अनिवार्यता है। वह इस सभ्यता का निरूपण या प्रतिबिम्बन नहीं बल्कि उसका ही एक विशेष लक्षण है; उसकी सम्यक् आत्मकल्पना। स्वयं इस सभ्यता द्वारा रची गयी उसकी अपनी एक एक लीलामय मीमांसा। सृष्टि के केन्द्र से ईश्वर के विस्थापन की ओर उसके स्थान पर नृतत्व के सबसे प्रामाणिक रूप में व्यक्ति की प्राणप्रतिष्ठा की जो मूलगामी विस्फोटक घटना पश्चिम में हुई, पिछले कोई दो सौ वर्षों से उस विस्फोट की शृंखलाबद्ध प्रतिक्रियाओं का सबसे प्रामाणिक दृश्य पश्चिम के उपन्यास में ही उभरता है। इस विस्फोट के पहले तक पश्चिम की दुनिया दिव्य और इहलौकिक, पवित्र और अपवित्र, शुभ और अशुभ, उदात्त और अनुदात्त, न्याय और अन्याय, नायक और प्रतिनायक, साहस और कायरता आदि के जिन सफेद और स्याह रंगों में विभाजित थी, इस विस्फोट में वे रंग आपस में घुलकर एक धूसर रंगत में उभरते हैं, और वह रंगत ही मानो पश्चिम के उपन्यास का अन्तःकरण है; यह रंगत ही उपन्यास के स्वत्व, उसके चरितनायक या उसमें निरूपित व्यक्ति की पहचान है।

और इस सिलसिले में जो चीज सबसे महत्वपूर्ण प्रतीत होती है वह स्वयं इस विधा में हुए सृजनात्मक विस्फोट की विलक्षण घटना है। पश्चिम की सृजनात्मकता मानो अपने उत्कर्ष की एक नयी पराकाष्ठा के लिए इस विधा के अवतरण की प्रतीक्षा कर रही थी। पिछली दो सदियों के दौरान इस विधा में योरोप की लगभग तमाम भाषाओं में जो लेखन हुआ है (और जो आज भी जारी है), वह मानो ईश्वरीय सृष्टि-कल्पना के साथ बराबरी की टक्कर लेती मानवीय कल्पना का, या शायद स्वयं ईश्वरीय कल्पना के मनुष्यकृत विस्तार का लोमहर्षक दृष्टान्त है। इस भेद के साथ कि यह विस्तार ईश्वरीय सृष्टि की महज एक छोटी-सी इकाई, यानी मनुष्य और उसकी रची भौतिक दुनिया की अप्रमेय प्रतीत होती गहराइयों में घटित होता है। वह धार्मिक प्रज्ञा के लोप से रिक्त हुई जगह को भरती एक नयी प्रज्ञा का आविष्कार है : औपन्यासिक प्रज्ञा।

आधुनिकता और उपन्यास के इस परस्पर अंगादि-भाव-सम्बन्ध को दृष्टि में रखते हुए अगर वापस अपने शुरुआती सवाल पर लौटें, तो हमें, बजाय इसके कि ‘क्या हमारे पास कोई ऐसी विधा है...’ जैसा सवाल पूछने के, सीधे-सीधे पश्चिम की आधुनिकता में अपनी साझेदारी से इंकार नहीं कर सकते, जो कि, जाहिर है हम नहीं कर सकते, तो हमें अपने उपन्यास की तुलनात्मक सामर्थ्य के प्रश्न का सामना इस स्वीकारोक्ति के साथ करना ही होगा कि उपन्यास हमारे लिए भी, अपनी आधुनिकता के संदर्भ में, स्वाभाविक ही, उतनी ही अनिवार्य विधा रही

है। आखिर यह निरा संयोग नहीं है कि हमारे यहाँ भी आधुनिकता के आगमन और उपन्यास-लेखन की शुरुआत, दोनों समक्रमिक घटनाएँ रही हैं। इस विधा को अपनाने में हमने वैसी ही स्पृहा और त्वरा का परिचय दिया था जैसी आधुनिकता को अपनाने में दिया था। यह इसी अनिवार्यता, स्पृहा, और त्वरा का एक लक्षण है कि उस आरम्भिक दौर में हमने उपन्यास-लेखन में सिद्धि हासिल कर मौलिक कृतियाँ रचने तक प्रतीक्षा करने के बजाय पर्याप्त तेजी से पश्चिमी उपन्यासों के अनुवाद पर उस अन्तराल को भरने की कोशिश की थी। और तब से अब तक इस विधा में हमने विपुल लेखन किया है।

लेकिन तब क्या कारण है कि तब से अब तक, यानी उपन्यास-लेखन की लगभग एक समूची सदी के बीत जाने के बावजूद और उपन्यासकारों तथा उपन्यासों की एक खासी बड़ी संख्या के बावजूद हमारा उपन्यास उन अपेक्षाओं को पूरा नहीं सका जिनका जिक्र हमने आरम्भ में किया है। वे अपेक्षाएँ जो यह विधा अपने उस स्वरूप और स्वभाव से ही हमारे मन में, जगाती है जिनको हम इस विधा के मूल पश्चिमी अवतार में चरितार्थ होते देखते हैं? पश्चिम का उपन्यास हमें मनुष्य-भाव और मानवीय सृष्टि की, आत्म और अन्य के साथ मनुष्य के सम्बन्धों की जिन अप्रमेय, अननुमेय, अप्रत्याशित गहराईयों में ले जाता है, उनमें जैसे हमारी कोई गति ही नहीं है। मनुष्य और मनुष्य-भाव, मनुष्य की मानसिक तथा भौतिक सृष्टि हमारे उपन्यास में ज्यादातर या तो अमूर्त बने रहते हैं या बहुत इकहरे ढंग से मूर्त होते हैं। हम पश्चिम के उपन्यास के सरोकारों के मुकाबले अपने उपन्यास के सरोकारों पर सवाल नहीं उठा रहे हैं, हमारा संशय इन सरोकारों को उनकी संश्लिष्ट और सूक्ष्मता में न उभार पाने को लेकर है; उनको निवैयक्तिक, प्रामाणिक और मर्मस्पर्शी न बना पाने को लेकर। उपन्यास हमारे पास तमाम मसलों पर हैं : गरीबी, मजदूरों-किसानों का शोषण और उनकी सहायता, हिंसक स्तर की जातीय-उपजातीय तथा साम्प्रदायिक असहिष्णुता, अन्यान्य किस्म के पाखण्ड, कार्डियाँपन, षडयन्त्र, प्रेम, स्त्री-पुरुष तथा अन्य सामाजिक सम्बन्ध आदि। लेकिन इनमें से शायद ही कोई चीज अपनी अन्दरूनी बारीक बुनावट में और वृहत्तर मानवीय अस्तित्व के कोऑर्डिनेट के रूप में किसी उपन्यास में उभर सकी होगी। शायद इसीलिए उसमें सृजनात्मक उत्कर्ष की वैसी कोई स्थिति नहीं बन सकी जैसी वह पश्चिम में बनी, जिसका साक्ष्य हमें फ्लावे, जेम्स जॉयस, प्रूस्त, काफ़्का, टॉमस मान, विलियम फॉकनर, हेमिंग्वे आदि तथा, उधर, तॉल्सतॉय और दौस्तोएव्स्की के साथ आरम्भ हुए महानतम रचनात्मकता के उस सिलसिले को देखकर मिलता है जो पिछली दो सदियों से आज तक निरन्तर जारी है। स्पष्ट ही इस विफलता का कारण उपन्यास की विधा के साथ हमारे सम्बन्ध की प्रकृति में कहीं निहित है, जिसका अनुमान शायद इस बात से भी हो कसता है कि यह विफलता हमारी श्रेष्ठतम उपन्यासकार प्रतिभाओं (प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, रेणु, हजारी प्रसाद द्विवेदी, कृष्ण बल्देव वैद, निर्मल वर्मा आदि) के कृतित्व के बावजूद उजागर नहीं होती है, वह इस तथ्य से उजागर होती है कि अपने कवित्व में असाधारण उत्कर्ष हासिल करने वाली प्रतिभाएँ, जैसे कि मसलन प्रसाद और निराला, जब उपन्यास लिखने की कोशिश करते हैं, तो उनकी ये कृतियाँ स्वयं उनकी कविता के समक्ष भी निहायत कमजोर ही ठहरती हैं। ये 'आधुनिक' प्रतिभाएँ हैं, लेकिन ये कृतियाँ स्वयं उनकी कविता के समक्ष भी निहायत ही कमजोर ठहरती हैं। ये 'आधुनिक' प्रतिभाएँ हैं, लेकिन जिस आधुनिकता को ये लेखक अपनी कविता में इतनी सहजता और लाघव के साथ साधते प्रतीत होते हैं, वही आधुनिकता जब एक सम्पूर्ण विधा (उपन्यास) की शक्ल में उनके सामने आती है, तो वे असहज और बोझिल साबित होते हैं।

क्या कारण है?

एक कारण तो, सम्भवतः, हमारे साहित्य में स्वयं इस प्रश्न का अभाव ही है। हमने इस प्रश्न को पूछना लगभग कभी भी जरूरी ही नहीं समझा। और शायद इसलिए कि उस विफलता को ही कभी महसूस नहीं किया। उलटे हम चिन्ताजनक स्तर पर आत्मतुष्ट और आत्मस्फीति के शिकार बने रहे। मैनेजर पाण्डेय की पुस्तक उपन्यास और लोकतंत्र ऐसी ही समस्याहीन, निस्संशय, आत्मतुष्ट और आत्मस्फीत 'आलोचना' का एक ताजा उदाहरण है। (हालाँकि वह अकेला उदाहरण नहीं है; रमेशचन्द्र शाह और नामवर सिंह जैसे गम्भीर आलोचकों समेत कई लेखकों ने भारतीय उपन्यास पर लिखा है लेकिन किसी ने भी सृजनात्मकता के स्तर पर उसकी शिथिलता को लक्ष्य नहीं किया।) इस मामले में निर्मल वर्मा अकेले ऐसे अपवाद हैं जिन्होंने न सिर्फ इस विफलता को बहुत शिद्दत के साथ अनुभव किया बल्कि उसके एक बहुत महत्वपूर्ण कारण को भी रेखांकित किया : उपन्यास के जातीय फॉर्म के अन्वेषण का अभाव :

हम भारतीय लेखक उस विधा के बारे में बहुत कम सोचते हैं, जिसे स्वयं अपने सृजन के लिए चुनते हैं। हमारे लिए 'विधा' महज माध्यम है, लक्ष्य कुछ और है; साहित्य, समाज दर्शन।

× × ×

हमने अपने कथात्मक गद्य के लिए 'उपन्यास' जैसी विधा को चुना, जो नितान्त भिन्न सांस्कृतिक अनुभव क्षेत्र में पनपी और विकसित हुई थी। यह कुछ ऐसा था कि हम ऐसे बने-बनाये मकान में रहने लगे जो दूसरों ने अपनी जरूरतों, संस्कारों स्मृतियों एक शब्द में कहे तो अपनी 'जलवायु' के अनुसार बनवाया था। हम न केवल उसमें रहने लगे, बल्कि उसमें अपने अनुकूल परिवर्तन करने की जरूरत महसूस नहीं की। प्रेमचन्द से लेकर अधुनातन उपन्यासकारों ने कभी 'उपन्यास' की विधा पर शंका प्रगट नहीं की, अपने अनुभव के सन्दर्भ में उसका पुनर्परीक्षण तो दूर की बात थी।

× × ×

भारत में अनेक उपन्यास लिखे गये हैं; हर साल लिखे जाते हैं मनोवैज्ञानिक उपन्यास, यथार्थवादी उपन्यास, आँचलिक उपन्यास लेकिन स्वयं उपन्यास की 'समस्या' पर विचार, उसके जातीय फॉर्म का अन्वेषण हमने नहीं के बराबर किया है। इस तरह उपन्यास की समस्या हमारे समूची संस्कृति के विश्लेषण से जुड़ी है।

(‘संस्कृति, समय और भारतीय उपन्यास’, शब्द और स्मृति, 1976)

जहाँ तक विधा का अविचार का प्रश्न है, इसे हम अपनी आलोचना में सहज ही लक्ष्य कर सकते हैं जहाँ न सिर्फ उपन्यास की विधा पर बल्कि किसी भी विधा पर, और उससे भी पहले स्वयं साहित्य पर, सत्तामीमांसात्मक किस्म में किसी भी सतर के विमर्श का सर्वथा अभाव है। और यह अभाव सिर्फ आलोचना तक सीमित नहीं है, इसको स्वयं इन विधाओं में किये जाने वाले लेखन में लक्ष्य किया जा सकता है। इसके बावजूद कि पिछले दस-पन्द्रह वर्षों के कुछ लेखन में, विशेष रूप से कविताओं और कहानियों में, इन विधाओं को जब-जब विषय बनाया जाता रहा है, ऐसा लगभग नहीं हुआ है जहाँ किसी रचना का अनुभव उस अनुभव

को विन्यास प्रदान करती विधा के साथ जिरह, तनाव या संवाद का कोई रिश्ता बनता हो। हम इन विधाओं को जैसे प्रदत्त मानकर चलते हैं, और अपने विमर्श को इन पर नहीं बल्कि इनमें केन्द्रित करते हैं।

विधा और कृति के सम्बन्ध में, सामान्य तौर पर, एक सहज सम्बन्ध कहा जा सकता है जिसके लिए निर्मल वर्मा 'मकान' के जिस सुन्दर और आत्मीय रूपक का स्मरण करते हैं वह एकदम सटीक रूपक प्रतीत होता है; मकान जिसे व्यक्ति "अपनी जरूरतों, संस्कारों, स्मृतियों एक शब्द में कहें तो अपनी 'जलवायु' के अनुसार" बनाता है। इसीलिए उस व्यक्ति का मकान के साथ इस सहज, समंजस, संगत और ऐसा आत्मीय सम्बन्ध बनता है कि हम उस मकान को 'घर' कहते हैं। उसका इण्टीरियर और एक्सटीरियर स्वयं उसमें रहने वाले व्यक्ति के अंतरंग और बहिरंग को प्रतिबिम्बित करते हैं; उसके स्वभाव, संस्कारों, स्मृतियों, अभिरुचियों को, बल्कि शायद उसकी जीवन-दृष्टि और विश्वदृष्टि को, नैतिक दृष्टि और कल्पना-दृष्टि को भी। राम और रावण के या कौरवों और पाण्डवों के व्यक्तित्वों का जो रूप, मसलन, रामायण या महाभारत के भीतर उभरता है, इसकी कल्पना इन कृतियों के महाकाव्यात्मक विन्यास के बाहर नहीं जा सकती। यह इन महाकाव्यों के विधात्मक स्वरूप में अनुकूलित वह 'जलवायु' ही है जिसके भीतर इन पात्रों की दिव्य या अपौरुषेय प्रतीति होती अन्तर्बाह्य निर्मिति और आचरण अवकाश और संगति पाते हैं। हम इन पात्रों को इनकी तद्गत निर्मिति और आचरण के साथ, मसलन, किसी उपन्यास का पात्र नहीं बना सकते। यहाँ तक कि हम इन कृतियों को इनके गद्यात्मक अनुवादों में पढ़ते हुए भी उस अनुभव को अक्षुण्ण नहीं रख पाते जो इनके मूल छन्दों में निहित है।

विधा और कृति के इस सहज सम्बन्ध के चलते किसी विधा के बारे में अतिरिक्त रूप से सजग होना, या लिखने की प्रक्रिया को वस्तुनिष्ठ बनाते हुए, स्वयं उसको लेखन में शामिल करना, उन विधाओं के सन्दर्भ में शायद बहुत अनिवार्य न रह जाता हो जिनकी एक सुदीर्घ परिपाटी विकसित है, और जो हमें परम्परागत तौर पर मिली हुई हैं, जैसे कि, मसलन, कविता की विधा हममें मिली हुई है। यद्यपि यहाँ भी, हर कृति अपना वैशिष्ट्य महज अपने अनुभव की विशिष्टता के आधार पर ही नहीं अर्जित करती, बल्कि अपने उक्त अनुभव के अनुरूप सम्बन्धित विधा को भी वैशिष्ट्य प्रदान करते हुए अर्जित करती है; हर कवि, कविता की प्रदत्त सामान्य विधा में लिखने के बावजूद, उस विधा को भी उतना ही अद्वितीय बनाता चलता है जिना अद्वितीय उसका अनुभव होता है। रचना की अद्वितीयता में उसकी विधागत अद्वितीयता शामिल है।

लेकिन यही अतिरिक्त सजगता उन विधाओं के सन्दर्भ में बहुत अनिवार्य हो उठती है जो हमें उस तरह परम्परागत रूप से मिली हुई नहीं है, या जिनकी हमारी कोई परिपाटी नहीं है, बल्कि जो एक सर्वथा अलग दुनिया में, अनुभव के नितान्त भिन्न ढाँचे की अनुरूपता में विकसित हुई हैं, जैसे कि उपन्यास की विधा है। पश्चिमी संस्कृति के भीतर पिछली दो सदियों से भी ज्यादा समय की अवधि में यह विधा जिस जलवायु में ढलकर विकसित हुई है उसमें एक साथ कई तत्त्व शामिल हैं : ईसाई नैतिकी ओर इस नैतिकी के अवचेतन में दमित और इसलिए उसको जब-तब त्रस्त करती ग्रीक पेगन अन्तश्चेतना; धर्मयुद्धों, विश्वयुद्धों, फासीवाद, नस्लवाद, साम्राज्याद और उपनिवेशवाद की प्रक्रियाओं में हुए नरसंहार; रेनेसाँ एनलाइटमेण्ट और आधुनिकता और इन आन्दोलनों की प्रक्रिया में विकसित सेक्युलरिज्म, लोकतंत्र, स्वतन्त्रता, समानता और व्यक्तिवैशिष्ट्य जैसे मूल्य। उपन्यास के सन्दर्भ में यह अतिरिक्त आत्मचेतना

हमें इसलिए और भी अनिवार्य हो जाती है कि जिस दुनिया, यानी योरोप में यह विधा विकसित हुई है स्वयं वहाँ भी वह न सिर्फ परम्परागत रूप से प्रदत्त विधा नहीं है, बल्कि अनुभव के जिस विशिष्ट ढाँचे, यानी आधुनिकता के भीतर वह वहाँ विकसित हुई है, वह ढाँचा स्वयं पश्चिमी संस्कृति के पारम्परिक आधारों के प्रति एक विद्रोह की प्रक्रिया में निर्मित हुआ है। और इस अर्थ में एक खास तरह की अतिरिक्त आत्मचेतना स्वयं इस अनुभव के ढाँचे में निहित है। कुछ ऐसे प्रभावशाली ढंग से कि उसको इस अनुभव के एक पारिभाषिक पद के रूप में भी देखा जा सकता है। इस तरह, उपन्यास की विधा अपने मूल रूप में, हमारे लिए कम से कम दो स्तरों पर विजातीय ठहरती है : एक, उस सांस्कृतिक स्तर पर जहाँ वह अपने संस्कारों में, अपने जीन्स में, सर्वथा विजातीय संस्कृति के तत्त्व लिये हुए है और दूसरे, इसी सांस्कृतिक परम्परा के प्रति अपने उस विद्रोह के स्तर पर जो स्वयं भी इसलिए विजातीय है क्योंकि उसका औचित्य इस सांस्कृतिक परम्परा के तत्त्वों विशेष रूप से उसकी धर्म-दृष्टि के बरक्स परिभाषित है।

लेकिन हमारे उपन्यास की समस्या सिर्फ इस विधा पर विचार न करने, या कि उसके 'जातीय फार्म का अन्वेषण' न करने तक ही सीमित नहीं है। उसकी जड़ें कहीं अधिक गहरी प्रतीत होती हैं। मुश्किल सिर्फ यह नहीं है कि "हम भारतीय लेखक उस विधा के बारे में बहुत कम सोचते हैं, जिसे स्वयं अपने सृजन के लिए चुनते हैं।" हमारे उपन्यास की समस्या, विशेष रूप से, जीवन-विधा के बारे में विचार न करने की हमारी प्रवृत्ति का शायद सबसे अचूक, सबसे सटीक संकेतक है। विशेष रूप से इसलिए कि ये दोनों चीजें एक उभयनिष्ठ सन्दर्भ से जुड़ी हुई हैं, और वह सन्दर्भ है 'आधुनिकता'। उपन्यास की जिस विधा को हमने अपने सृजन के लिए चुना। इसलिए एक बने-बनाये मकान में रहने की जो बात उपन्यास के सन्दर्भ में हम पर लागू होती है।

संसार के इतिहास के सांस्कृतिक-सांस्कृतिक वरण की इससे बड़ी और विलक्षण शायद ही दूसरी कोई घटना होगी, जो हिन्दुस्तान के सन्दर्भ में घटित हुई, जहाँ सभ्यता और संस्कृति के एक समूचे विजातीय मॉडल को अपनाते हुए उसमें करोड़ों की संख्या वाले एक विराट जनसमूह के राजनैतिक, सामाजिक (साम्प्रदायिक, जातीय और वर्णपरक) और सांस्कृतिक स्तर के असंख्य विभाजनों, भेदों और विविधताओं को तथा विकेन्द्रित, स्वायत्त और जब-तब अन्तर्विरोधी और विरोधाभासी प्रतीत होती इकाईयों को, एक समरूप राष्ट्र-राज्य के रूप में संहत करने का प्रयत्न किया गया; उसका निबन्धन, संस्थापन, संचालन और संवर्धन करने का प्रयत्न किया गया। यह मानों एक विराट एकल आख्यान के भीतर अपने में स्वायत्त और अलग-अलग आख्याताओं द्वारा बयान की जाती असंख्य छोटी-छोटी कहानियों विनियोग था। 'पेगन' शब्द का प्रयोग हम प्रायः धार्मिक सन्दर्भ में इस शब्द का अर्धविस्तार करते हुए उसके माध्यम से उपर्युक्त तमाम राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक बहुलताओं, को संकेतित करने की कोशिश करें, जो कि बहुदेववादी धर्मचेतना से ही अनुप्रणित हैं, तो आधुनिकता के उक्त एकल महाख्यान में इन बहुलताओं का विनियोजन एक मानी में हिन्दुस्तान के डि-पेगनाइजेशन का विराट प्रयत्न साबित होता है। डि-पेनाइजेशन दोहरे अर्थ में : उसको एक ईश्वर उन्मुख बनाने के अर्थ में भी और ईश्वर निरपेक्ष या इहलौकिक (सेक्यूलर) बनाने के अर्थ में भी पश्चिमी आधुनिकता के विकास के दो क्रमिक सोपान : पहला सोपान ईसाइयत है, जो एक परम शक्तिशाली अस्मिता के अधीन तमाम भेदपरक पहचानों का उन्मूलन कर उनको समरूप बनाती है और दूसरा सोपान आधुनिकतावाद है, जो इस ईसाई नैतिकी को प्रश्नांकित करने के बावजूद अपने शक्तिशाली और देवीकृत तन्त्रों

की स्थापना के लिए अनिवार्य समरूपताओं की खातिर उसी ईसाइयत की ऋणी है। प्रसंगवश, यह आकस्मिक नहीं कि जिन औपनिवेशिक वर्षों में हिन्दुस्तान के आधुनिकीकरण की उक्त परियोजना जारी थी, उन्हीं वर्षों के दौरान हिन्दुस्तान में धर्मप्रचार की अपनी कार्यसूची के साथ ईसाई मिशनरियाँ भी सक्रिय थीं। ऊपरी तौर पर विरोधाभासी प्रतीत होते ये दो सोपान, इस अर्थ में, आधुनिकता का ही एक ऐसा अन्तर्विरोध रचते हैं जिसके चलते यह आधुनिकता हमेशा ईसाई आधुनिकता बनी रहने के लिए अभिशप्त प्रतीत होती है।

हमने जिसे 'वरण' की संज्ञा दी है, उसको 'आरोपण' के रूप में भी देखा जाता है। एक स्तर पर यह निश्चय ही आरोपण था, क्योंकि आधुनिकीकरण की यह परियोजना औपनिवेशिक व्यवस्था द्वारा आरोपित थी, और इसका औचित्य अंग्रेज शासकों, बौद्धिकों तथा मिशनरियों द्वारा पश्चिमी सभ्यता के अपने मानकों के आधार पर गढ़ी गयी भारत की तथा एक सर्वथा नकारात्मक स्याह छवि के परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादित किया गया था। लेकिन इस सन्दर्भ में जब हम तत्कालीन भारतीय बौद्धिकों की भूमिका पर गौर करते हैं तो यह एक उत्सुक स्वीकार ही ज्यादा ठहरता है। क्योंकि यह भूमिका (पश्चिमी सभ्यता के विरोध के मामले में गाँधी और विशेष रूप से राष्ट्रवाद तथा नेशन-स्टेट के विचार के विरोध के मामले में, टैगोर के अपवादों को छोड़कर) प्रतिरोध के अभाव तक ही सीमित नहीं है, बल्कि हम अगर अपने पुनर्जागरणवादी रेहटॉरिक पर, और सावरकर जैसे लोगों द्वारा सिद्धान्तीकृत उस 'नस्लपरक राष्ट्रवाद' पर ध्यान दें जिसे आशीष नन्दी ने 'आधुनिक योरोप की अवैध सन्तान' कहा है, तो हम पाएँगे कि हमारे बौद्धिकों ने उपर्युक्त छवि की गढ़न में, या कम से कम, उसको उभारने वाली एक स्पष्ट पृष्ठभूमि देने में पर्याप्त योगदान किया था। (इस मामले पर मैंने किंचित विस्तार से अपने एक अन्य निबन्ध, 'अनुवाद से पहले', समास-5 में लिखा है।)

लेकिन यह परिघटना इतनी दीर्घकालिक, धीमी और उलझी हुई है कि उसको वरण या आरोपण में से किसी एक प्रक्रिया से जोड़कर देखना न तो सम्भव है और न ही शायद उचित भी। और न ही उसके लिए पूरी तरह से सिर्फ इन भारतीय बौद्धिकों को ही जिम्मेदार ठहराना उचित प्रतीत होता है। दरअसल वरण बनाम आरोपण की यह पदावली इस तथ्य के समक्ष अर्थहीन ठहरती है कि ब्रिटिश हुकूमत की मार्फत प्रक्षेपित सभ्यता और संस्कृति के मामले में हमने न सिर्फ वैसा कोई जनप्रतिरोध नहीं बरता बल्कि उलटे उस सभ्यता-संस्कृति, उसकी संस्थाओं और प्रतीकों को अपनाने में कुछ-कुछ देश की व्यापकता ओर उत्कटता का परिचय दिया। इस विरोधाभासी परिघटना में, जाहिर है, इस सभ्यता-संस्कृति की शक्ति और आकर्षण के साथ-साथ उसके प्रति हमारी बेधयता की, उसके प्रति अपने लोभ या सम्मोहन का संवरण न कर पाने की, हमारे प्रतिरोधक तन्त्र के कमजोर या उदार या ग्रहणशील होने की, सम्भावनाओं के तत्त्व किसी-न-किसी अनुपात में शामिल हैं।

पर फिलहाल हमारा मुद्दा वह नहीं है। मुद्दा यह है कि, वरण या आरोपण, जिस किसी भी प्रक्रिया में आयी इस आधुनिकता के साथ हमारा सम्बन्ध किस तरह का बना। जाहिर है, परायी 'जलवायु' के अनुकूल निर्मित इस 'बने बनाये मकान' में एक सदी से ज्यादा का समय बिताने के दौरान हमने इसमें अपने अनुकूल भरपूर परिवर्तन किये गये हैं। जिस तरह इस आधुनिक निर्मिति के इस बहुत बड़े और महत्त्वपूर्ण हिस्से, संसदीय लोकतन्त्र, के बारे में राजनैतिक विश्लेषकों का मानना है कि हमने इसमें अपने अनुकूल भरपूर परिवर्तन किये हैं। जिस तरह इस आधुनिक निर्मिति के एक बहुत और महत्त्वपूर्ण हिस्से, संसदीय लोकतंत्र, के बारे में राजनैतिक विश्लेषकों का मानना है कि हमने अन्ततः इसको ठोक-पीट कर कुछ इस

तरह अपने अनुरूप ढाल लिया है कि हम इसे खास “भारतीय लोकतंत्र” की तरह पहचानते सकते हैं, उसी तरह शायद दूसरी संस्थाओं, प्रशासन, न्यायप्रणाली, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि आदि के बारे में भी कहा जा सकता होगा। इसी तरह, इस अनुकूलन की प्रक्रिया में हमने स्वयं अपने परम्परिक स्वत्व को भी भरपूर तजा या बदला है। लेकिन इन परिवर्तनों और अनुकूलन के सन्दर्भ में दो चीजें बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं। पहली : ये परिवर्तन और अनुकूलन ज्यादातर हमारी तात्कालिक जरूरतों से ही उत्प्रेरित रहे हैं; अपनी परम्परा के किन्हीं तत्त्वों के साथ आधुनिकता का सामंजस्य स्थापित करने या उसके किन्हीं सर्वथा असमंजसीय तत्त्वों को प्रतिरोध देने से नहीं। और दूसरी : जिस आधुनिकता के आकर्षण में हमने अपने पारम्परिक स्वत्व को लगभग पूरी तरह तज दिया स्वयं उस आधुनिकता के मूलभूत तत्त्व इस आत्मवंचना के अनुपात में हमारी संवेदना का अंग नहीं बन सके। हमारी वास्तविक अवस्थिति दरअसल इसी दोहरे अलगाव से चिह्नित है, जिसमें हम एक ओर परम्परा से उन्मूलित हैं और दूसरी ओर आधुनिकता से असमंजस।

लेकिन हमारी इस अवस्थिति की असल विडम्बना उसका विरोधाभास और अन्तर्विरोध हमारे अलगाव के उपर्युक्त दोहरेपन में उतनी नहीं है जितनी वह दोनों ही अलगावों के कुछ इस कदर प्रारूपित ढंग से भ्रामक होने में है कि अपने प्रगटन में ये अलगाव अपनी वास्तविकता के लगभग विपरीत दिखायी देते हैं; अलगाव की बजाय वे हमारे उत्कट लगाव के अभिप्रायों में खुद को व्यक्त करते हैं। मसलन, मानवीय और मानवेतर जगत के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ता गया हमारा स्वार्थ-प्रेरित अलगाव, भ्रष्टाचार, लूट और हिंसा की प्रवृत्तियाँ, वस्तुतः लगभग नास्तिकता के स्तर की हमारी आध्यात्मिक रिक्ति को दर्शाती है। ये प्रवृत्तियाँ दर्शाती हैं कि हमारे निर्णयों या कर्मों को मर्यादित करने वाला ईश्वर की सर्वव्यापी निगाह या अन्तर्यामी स्थिति में हमारा भरोसा नहीं रह गया है। लेकिन हमारी धार्मिकता-आध्यात्मिकता का प्रगट रूप अपनी आवेगमय, उग्र और आक्रामक प्रदर्शनधर्मिता से न सिर्फ इस रिक्ति को झुठलाने की कोशिश करता है बल्कि हमें अभूतपूर्व और कुछ मामलों में तो उग्रतम धार्मिक सम्प्रदायों के मुकाबले में भी कहीं ज्यादा, धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में प्रस्तुत करता है। धार्मिक उत्सवों और झाँकियों का कुरुचिपूर्ण तमाशा और पागल कर देने वाला शोर, नित नये उदित होते धर्मगुरु (जिनमें से कुछ के अकल्पनीय दुराचरण के भण्डाफोड़ के बावजूद इनमें हमारी आस्था नीरन्ध्र बने रहती है), मशरूम की तरह हर कहीं (जिसमें सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्रों के परिसर शामिल हैं) उग आते मन्दिर और पाण्डाल, तथा इस धार्मिकता को उत्तरोत्तर प्राप्त होता नगर, बाजार मीडिया और मध्यवर्ग का तथा हिन्दू राष्ट्रवाद की संगठित और हिंसक राजनीति का संरक्षण और संवर्धन इसी के उदाहरण हैं। हमारी धार्मिकता कहीं अधिक तर्कपरक, संगठनधर्मी, संस्थानोन्मुख और एकोन्मुखी होती गयी है। लेकिन इससे कहीं अधिक वह पाखण्डपूर्ण होती गयी है। जब हमारा भू-माफिया, खनिज-माफिया और स्वयं सरकारें स्वयं जमीनों और खनिजों को हड़पतीं, उनका दुर्विनियोजन करती हैं तथा आदिवासियों को उनके परम्परागत परिवेश से बेदखल करते हैं तब धर्म या ईश्वर का भय उनके इन कर्मों में आड़े नहीं आता, लेकिन यही लोग निर्माणों की शुरुआत करते हुए भूमिपूजन, वास्तु-विचार, वास्तु-पूजन और दीप-प्रज्वलन करना कभी नहीं भूलते। पारम्परिक आयुर्विज्ञान और उसके दर्शन की गहरी विस्मृति या उसमें अन्दरूनी अविश्वास की नींव पर खड़े, और मनुष्य के जैविक अस्तित्व तथा स्वास्थ्य को पण्यवस्तु-बाजार की वस्तु की तरह बरतते, आधुनिक आयुर्विज्ञान के बड़े बड़े स्थापत्यों के परिसर में छोटे-मोटे देवालय अनिवार्यतः मौजूद होते हैं। इस लोक में हमारे कुकर्मों पर पर्दा डालती यह तथाकथित धर्मचर्या



दरअसल हमारे आर्थिक, सामाजिक निवेशों की ही तरह एक किस्म के आध्यात्मिक निवेश की भी भूमिका निभाती है: कौन जाने ईश्वर सचमुच कहीं हो, तब यह जमा पूँजी शायद परलोक के हिसाब-किताब के दौरान हमारे कुकर्मों की क्षतिपूर्ति कर सके!

ऐसा ही एक विराट पाखण्ड लोकतन्त्र के साथ हमारे रिश्ते के सन्दर्भ में प्रगट होता है। सामान्यतः हम और हमारे बारे में अन्य लोग यह दावा करते हैं कि हम 'लोकतंत्र' नामक एक सर्वथा विजातीय पद्धति को पचा लेने वाली दुनिया की अनूठी सभ्यता हैं। लेकिन क्या हम सचमुच इसे पचा सके हैं? एक शासन-पद्धति या राजनैतिक व्यवस्था होने से पहले लोकतन्त्र मनुष्य के आचरण को एक विशिष्ट किस्म की लय-गति में निबद्ध करते छन्द की भूमिका निभाता है। दूसरे शब्दों में, एक लोकतान्त्रिक समाज ही सच्चे लोकतान्त्रिक राज्य की बुनियाद होता है। इस दृष्टि से देखें तो लोकतन्त्र आज भी हमारा सामाजिक संस्कार नहीं बन सका। वह हमारे स्वाभाविक आचरण का, अन्य के साथ, बल्कि स्वयं अपने साथ, सम्बन्ध बनाने का ढंग नहीं बन सका। यहाँ तक कि हमारे राजनैतिक दलों और स्वयं लोकतान्त्रिक संस्थाओं की अनदरूनी डायनॉमिक्स में उसका घोर अभाव है। हमारे वंशपरक, जातीय, साम्प्रदायिक, लैंगिक, वर्गीय, भाषिक, और क्षेत्रीय अहं में व्यक्त होता एक किस्म का सूक्ष्म फासीवाद और नस्लवाद अभी भी हमारे इन सम्बन्धों का, अक्सर आक्रामक ढंग से, निर्धारण करता है, जो हमारे विमर्श तक में संक्रमित है जिसकी संरचना में अन्य के मत के लिए अवकाश या उसकी पूर्वापेक्षा के तत्त्व बमुश्किल ही दिखायी देते हैं। वह निश्चयात्मक और निर्णयात्मक है; आत्मसंशय और अनिश्चय से रहित और अन्तर्विरोधों तथा विरोधाभासों की भीति से ग्रस्त, उनके प्रति भीरु। लेकिन लोकतन्त्र का हमारा प्रगट राजनैतिक ढाँचा और हर आम चुनाव के साथ लोकतान्त्रिक प्रक्रिया में हमारी भागीदारी का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रतिशत आधारभूत और सूक्ष्म लोकतन्त्र के उपर्युक्त अभाव को ढँगता हुआ हमें दुनिया के सबसे बड़े लोकतान्त्रिक राष्ट्र के रूप में पेश करता है।

न ही हमें आधुनिकता की सबसे बड़ी देन वह आत्मनिर्भर, आत्मनियन्ता व्यक्ति ही कहीं दिखायी देता है। जिसने ईश्वर की मध्यस्थता से साफ इंकार करते हुए, शुद्ध अपने विवेक के बूते पर अपनी नियति के फैसले करने का दुस्साहस किया था। हमारा स्वत्व भी वस्तुतः निर्मला वर्मा के शब्दों में, एक 'कम्पोजिव सेल्फ' है; कुल, कुटुम्ब, जाति, सम्प्रदाय आदि की सामुदायिकता में स्पन्दित होता एक संश्लिष्ट स्वत्व। लेकिन पारम्परिक सामुदायिकता से भिन्न इस पहचान का विद्रूप इस बात में है कि यह संश्लिष्ट स्वत्व खुद को 'व्यक्ति' के छद्मवेश में प्रस्तुत करता है। हमारी व्यक्तिमत्ता हमारे बहिरंग में, हमारे प्रगटन में, हमारी प्रस्तुति, हमारे संज्ञापन में व्यक्त होती है, और अक्सर बहुत आक्रामक ढंग से व्यक्त होती है, लेकिन हमारे स्वतंत्र के अन्तरंग में उसकी उपस्थिति उतनी ही शिथिल, उतनी ही कुण्ठित है। या फिर वह हमारी स्वार्थपरता में व्यक्त होती है। इसीलिए अपनी नियति के बारे में फैसला लेने वाला चाहे स्वयं वह तथाकथित 'व्यक्ति' की क्यों न हो, उसके ये फैसले प्रायः उसके अंतरंग में पैठी इसी सामुदायिकता सा स्वार्थपरकता से नियन्त्रित होते हैं, उसके निहत्थे विवेक से नहीं। और अगर सचमुच कोई 'व्यक्ति' इस सामुदायिकता के 'सुरक्षा-कवच' को तोड़कर बाहर आ जाता है तो वह अक्सर हमारी हिंसा का शिकार होता है।

'व्यक्ति' से भी पहले, दरअसल मनुष्य या मानव तत्त्व के प्रति हमारा दृष्टिकोण आधुनिक प्रतीत नहीं होता। हम मनुष्य को उसके तथाकथित सद्गुणों और दुर्गुणों के आधार पर नायक या प्रतिनायक के रूप में परखने, सराहने और तिरस्कृत करने के कुछ इस तरह अभ्यस्त हैं

कि इस चौखटे से बाहर और वास्तविक मनुष्य का, विरोधाभासों और अन्तर्विरोधों से युक्त अन्तःकरण हमारी सहिष्णुता और सहानुभूति का, बल्कि हमारे संज्ञान तक का विषय नहीं बन पाता। ये नायकत्व के प्रति हमारे अतिरंजित पूजा-भाव और संरक्षणवादी रवैये के, उसको नीरन्ध्र मनाने के, ही दृष्टान्त हैं कि जब कभी हमारे नायकों (वे चाहे मिथकीय हों या ऐतिहासिक हों या एमदम समकालीन हों) के बारे में ऐसे किन्हीं मानवीय विरोधाभासों, अन्तर्विरोधों या कमजोरियों को सामने लाने की कोशिश की जाती है, तो हम उनके बचाव में आक्रामक रूप से असहिष्णु हो उठते हैं। ऐसी ही असहिष्णुता और आक्रामकता का परिचय हम स्वयं अपने द्वारा गढ़े गये नायकों के खिलाफ भी उस वक्त देते हैं जब उनके नायकत्व की दिव्यता-मण्डित धीरोदात्त छवि को तोड़कर उनका कमजोर मनुष्य बाहर आ जाता है बहुत सम्भव है कि अन्य में प्रक्षिप्त ये नीरन्ध्र और दिव्य नायकत्व स्वयं हमारी आत्मदवि के प्रतिक्षेप हों : हमारी अपनी नैसर्गिक मनुष्यता को, उसके अन्तर्विरोधों आदि को, समझने, सहने की हमारी अनिच्छा और अक्षमता के परिणाम। विडम्बना, एक बार पुनः, यह है कि हमारा यह आचरण एक ऐसी सांस्कृतिक विरासत के बरक्स है जिसमें ऐसे अनन्त मानवीय और अतिमानवीय मिथकीय चरित्र मौजूद और समादृत हैं जो इस तरह के अन्तर्विरोधों-विरोधाभासों का संज्ञान लेने, उनको समझने, सहने की हमारी अनिच्छा और अक्षमता के परिणाम। विडम्बना, एक बार पुनः, यह है कि हमारा यह आचरण एक ऐसे सांस्कृतिक विरासत के बरक्स है जिससे ऐसे अनन्त मानवीय और अतिमानवीय मिथकीय चरित्र मौजूद और समादृत हैं जो इस तरह के अन्तर्विरोधों विरोधाभासों के पुंज हैं। अन्तर्विरोधों-विरोधाभासों का संज्ञान लेने, उनको समझने, सहने और उसके परिणामों की जिम्मेदारी लेने के लिए जो असाधारण धैर्य और विवेक अनिवार्य है वह शायद उस व्यक्ति-चेतना के लिए ही सम्भव है जिसका, जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है, हममें गम्भीर अभाव है। हमारा यह अधीर आचरण, एक विचित्र किस्म की कर्म-शिथिल आस्था से परिचालित प्रतीत होता है, उस विवेक या तर्क-बुद्धि से नहीं जो आधुनिकता का तो एक प्रमुख लक्षण ही है, पर जो हमारी परम्परा की भी एक अन्तर्धारा रही है।

एक और चीज है जो हमारी आधुनिकता को शायद सबसे ज्यादा चिह्नित करती है, जो सम्भवतः आधुनिकता के भारतीय संस्करण की ही एक सबसे बड़ी विशेषता है : राजनीति। राजनीति का, जीवन-दृष्टियों के वैविध्य को विस्थापित कर एकमात्र जीवन-दृष्टि, और विविध जीवन-दृष्टियों को वैधीकृत करने वाली सम्प्रभु जीवन-दृष्टि बन समझने, विश्लेषित करने की लगभग एक मात्र विधि बन जाना। जीवन के केन्द्र में राज्य की, और उसी तर्क से राजनीति की, प्राण-प्रतिष्ठा दरअसल उस अटल और नित नवीकृत होते रहे राष्ट्रवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव है। जो विशेष रूप से हमारे यहाँ उस समरूप राष्ट्र-राज्य की सबसे निष्ठावान सन्तान साबित हुई। जिसकी स्थापना के समानान्तर हमारी आधुनिकता विकसित हुई थी।

आधुनिकता के साथ इस रिश्ते के सन्दर्भ में जब हम अपने उपन्यास की विफलता की वजहों पर विचार करते हैं, तो समस्या यह नहीं प्रतीत होती कि हमने अपने देसी या स्वजातीय यथार्थ को एक विजातीय विधा में निबद्ध करने की कोशिश करते हुए उस विधा की उपयुक्तता पर शंका प्रगट नहीं की यानि उसको अपने इस यथार्थ से अनुकूलित नहीं किया, जैसा कि निर्मल वर्मा की उपर्युक्त शिकायत से ध्वनित होता लगता है। समस्या स्वजातीय यथार्थ और विजातीय विधा के बीच की असंगति की नहीं बल्कि वह, मुख्तसर तौर पर, एक ओर विजातीय जीवन-विधि के साथ हमारे असंगत सम्बन्ध की, और दूसरी ओर उपन्यास की विजातीय विधा के स्तर पर इस असंगति के प्रतिक्षेप या संक्रमण की प्रतीत होती है। शायद विजातीयता दोनों

ही स्तरों पर है और दोनों ही स्तरों पर वह अशुद्ध विजातीयता है। यह नहीं कि हमने उपन्यास की विधा का अपने यथार्थ के साथ अनुकूलन नहीं किया, बल्कि यह कि यह विधा स्वयं ही आधुनिकता के साथ हमारे उक्त असंगत रिश्ते के समानान्तर उस असंगति से अनुकूलित होकर हम तक पहुँची है।

इस परिघटना को स्पष्ट करने के लिए हमें दरअसल अभिव्यक्ति के अपने उस अभिनव माध्यम, यानी गद्य, और अभिनय भाषा-रूप यानी खड़ी बोली के निरुक्त पर ध्यान देना जरूरी होगा जिनमें हमारा उपन्यास सम्भव हुआ। हम ध्यान दें कि ये दोनों ही चीजें, यानी हिन्दी गद्य और खड़ी बोली, जिनके साथ बल्कि जिनमें, हमारे 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' की शुरुआत हुई, हमें पहले से मिली हुई नहीं थी, बल्कि ये खुद भी उसी आधुनिकता की सन्तानें हैं जिसका हमने स्वयंवर किया था। बेशक, ये हिन्दी साहित्य के इतिहास की महान घटनाएँ थीं, क्योंकि इनके परिणामस्वरूप हमारे साहित्य को कहानी, उपन्यास, निबन्ध और आलोचना जैसी नयी विधाएँ प्राप्त हुईं और स्वयं हिन्दी कविता में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का ही एक अंग था। इस गद्य में न सिर्फ हिन्दी की पूर्वज भाषा संस्कृत के गद्य की कोई हजार वर्ष लम्बी परंपरा की कोई स्मृति नहीं थी, बल्कि इसका विकास भी तथाकथित भारतीय पुनर्जागरण के उसी दौर में पश्चिमी सभ्यता के मानकों के आधार पर गढ़ी गयी भारत की उसी नकारात्मक स्याह छवि को प्रतिरोध की प्रक्रिया में आभ्यान्तरीकृत करने के विडम्बनापूर्ण तर्कों से हुआ था। भारत के आधुनिकीकरण की परियोजना के निष्पादन में जो भूमिका हमारे ज्ञानोदित बौद्धकों ने निभायी थी, लगभग वही भूमिका तत्कालीन लेखकों द्वारा हिन्दी साहित्य के आधुनिकीकरण के निष्पादन में निभायी गयी थी जिसका प्रमुख अधिकरण यह गद्य था। बहुत थोड़े से अपवादों को छोड़ दें, तो हमारा अब तक का गद्य हमारी जातीय स्मृति या परम्परा की विस्मृति से उत्तरोत्तर कुछ इस कदर चिह्नित होता चल गया है कि यह विस्मृति उसकी पहचान का एक महत्वपूर्ण लक्षण बन चुकी है। इसकी आधुनिकता के मूलाधार, कम से कम अपनी महत्वाकांक्षा में, ईश्वर बनाम मनुष्य के कॅन्ट्रास्ट की कोई तात्त्विक हैसियत नहीं है; उसे ज्यादा से ज्यादा एक लीला के रूप में ही गुंजाइश मिलती रही है। (अपने पूर्वोद्धरित निबन्ध में मैंने इस मसले पर भी अपेक्षाकृत विस्तार से लिखा है।)

लेकिन जब हम परम्परा की विस्मृति की कीमत चुकाते इस गद्य की आधुनिकता पर गौर करते हैं, तो दृश्य हमारी सांभ्यतिक-सांस्कृतिक आधुनिकता से भिन्न प्रतीत नहीं होता। यहाँ भी विडम्बना वही है कि आधुनिकता के साथ प्रदीर्घ अन्तक्रिया के बावजूद वह आधुनिक संवेदना इस गद्य का संस्कार नहीं बन सकी। यहाँ भी वह ज्यादातर इस गद्य के बहिरंग को अलंकृत-शोभित करने वाला अंगराग ही है। आधुनिकता के मूल्यों के साथ उसका सम्बन्ध आधुनिक संस्थाओं के साथ भारतीय समाज के वैसे ही असंगत सम्बन्ध से भिन्न नहीं है। इस गद्य की विषयिता (सब्जेक्टिविटी) स्वयं को जिस सहजता के साथ सामुदायिक चेतना या सामुदायिक अहं की पदावली में अभिव्यक्त कर पाती है वैसी सहजता वैयक्तिक चेतना या वैयक्तिक अहं की पदावली में व्यक्त उसकी आत्माभिव्यक्ति में नहीं है। इस गद्य की वाक्य-रचना में 'मैं' अक्सर बोलने से बचता है, और 'उस' के बारे में बोलने से बचता है; इसकी बजाय वहाँ अक्सर 'हम' होते हैं जो 'उन' के बारे में बात करते हुए ज्यादा सहज अनुभव करते हैं। यह अकारण नहीं कि इस गद्य में व्यक्ति के अण्डरग्राउण्ड अँधेरे को अभिगम्य बनाती, उसको निरावरण आत्मसाक्षात्कार और सर्वजनिक पाप स्वीकार का अवकाश उपलब्ध कराती डायरी, व्यक्तिव्यंजक निबन्ध, जीवनी, आत्मकथा और पत्र जैसी विधाओं का लेखन अब्बल तो बहुत

कम है और जो है उसमें वैसी आत्मपरकता या निजता का अभाव है जो पश्चिम में इन विधाओं की वास्तविक पहचान और समृद्धि की वजहें रही हैं। दूसरी ओर और यह उसका एक और पत्र जैसी विधाओं क वास्तविक पहचान और समृद्धि की वजहें रही हैं। दूसरी ओर यह उसका एक और विरोधाभास है उसमें वस्तुनिष्ठता की, वस्तुजगत को उसकी विविधता, और व्यापकता में, सूक्ष्मता और जटिलता में, उसके क्षैतिज और अनुलम्ब आयामों में ग्रहण करने की, वस्तु के मर्म में पैठने की, वह सामर्थ्य या अभिरुचि भी नहीं है जो दार्शनिक, भौतिकवाद और मानवीय लेखन के लिए अनिवार्य है। हमारे गद्य में इस तरह के लेखन का गम्भीर अभाव ही नहीं है, बल्कि उसमें दूसरी पश्चिमी भाषाओं के लेखन का, उसके मुहावरे और पदावली का अनुवाद बहुत असहज रूप में उभरता है। यह गद्य अपनी प्रकृति में वाचिक (ओरल) अधिक है, अपने लिखित रूप में भी (यहाँ तक कि आलोचना या साहित्यचिन्तन के क्षणों में भी) वह वाचिक का लिप्यन्तरण प्रतीत होता है। वह बौद्धिक सूक्ष्मता, जटिलता, विधिकित्त, विश्लेषण और तर्कणा से नहीं, बल्कि अनुरोधपरक वाक्चातुर्य से या, अपने सबसे बेहतर क्षणों, काव्यात्मकता से अपनी शक्ति हासिल करता है। और जिस राजनीति को हमने आधुनिकता के भारतीय संस्करण की सबसे बड़ी विशेषता कहा है, क्या वह राजनीति भी इस गद्य का मूलभूत संस्कार उसका जैनेटिक लक्षण नहीं है?

हिन्दी को यह गद्य-कथा हमारे उपन्यास की दशा को समझने के लिए इसलिए अनिवार्य है, क्योंकि उपन्यास इस कथा का सबसे महत्त्वपूर्ण, सम्भवतः सबसे लोकप्रिय चरित्र है। यह उपन्यास की विधा ही है। जिसमें गद्य के गुण-धर्म अपना अधिकतम विस्तार पाते हैं। वाणी का कर्म (एक्ट ऑफ स्पीच) इस विधा में इस कदर परिग्रही, इस कदर समावेशी होता है कि वह जीवनी, आत्मकथा, डायरी और पत्र जैसी आख्यानपरक विधाओं को ही नहीं बल्कि निबन्ध और गद्य को निश्चय ही संगत है कि हमारे उपन्यास की समस्या की जड़ें दरअसल आधुनिक संवेदना के साथ असंगत हमारे गद्य और खड़ी बोली में ही कहीं मौजूद हैं। इस नुकते पर हमारी शिकायत कुछ और व्यापक होकर इस रूप में उभरती है कि हमने महज उपन्यास की विधा पर ही नहीं बल्कि दरअसल अपने गद्य और खड़ी बोली के उत्स पर ही मूलगामी ढंग से विचार नहीं किया। उतना भी नहीं जितना, अँग्रेजी में ही सही, राष्ट्रवाद और सेक्युलरिज्म, संसदीय लोकतंत्र, नौकरशाही, न्यायपालिका, शिक्षा और चिकित्सा आदि की आधुनिक संस्थाओं के बारे में किया गया है। स्वयं इन विमर्शों में भी आधुनिक हिन्दी साहित्य का दृष्टान्तपरक उपयोग करते हुए इसको 'साहित्य' की तरह, भाषा कला की तरह, पढ़ने की बजाय, सूचनाओं के संचय की तरह बरता जाता रहा है। यह अविचार, एक बार फिर, इन अभिव्यक्ति-और भाषा रूपों (गद्य और खड़ी बोली) की (आत्म-) विमर्शात्मक सामर्थ्य की कमी, और इनके बारे में हमारी उदासीनता को, इनको गैरमहत्त्वपूर्ण मानने में हमारी प्रवृत्ति को ही दर्शाता है।

लेकिन उपनिवेशवाद और आधुनिकता के प्रभाव के तर्क से ही सही, अगर इन अभिव्यक्ति और भाषा-रूपों के आविष्कार और विकास में हमारे उन्हीं विवेकवान, प्रतिभाशाली लेखकों का ही सबसे प्रमुख योगदान है। जिनमें से कुछ ने उपन्यास की विधा का स्वेच्छापूर्वक वरण किया, तो क्या हम इस समूची परिघटना की जिम्मेदारी महज उपनिवेशवाद या आधुनिकता के आरोपण पर डालते हुए लेखकों के संस्कार और विवेक की भूमिका को, इनके सामर्थ्य की सीमा को, अलक्षित नहीं कर रहे होंगे? आखिर क्या वजह है यही 'दूषित' गद्य जब हमारी आधुनिक कविता की निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, विजयदेव नारायण साही, रघुवीर सहाय आदि तमाम महत्त्वपूर्ण कवियों की कविता की लय का स्पर्श करता है, तो एक नये सृजनात्मक उन्मेष का कारण

बनता है? एक ऐसी सृजनात्मकता जिसके पर्यावरण में हमें पहली बार अपनी एक अनूठी संवेदनात्मक अवस्थिति का बोध होता है। स्पष्ट है कि हम गद्य को उसकी अपनी शर्तों पर साध पाने में विफल रहे हैं, जो दरअसल, जैसा कि हमने ऊपर संकेत किया, आधुनिकता को न साध पाने का या उसके साथ हमारे विडम्बनात्मक, असमंजस, विरोधाभासी, अन्तर्विरोधी, पाखण्डपूर्ण रिश्ते का ही एक प्रभाव है। लेकिन यहाँ जो चीज ध्यान देने और चौंकाने वाली है, वह यह है कि यहाँ यह रिश्ता उन लेखकों के सन्दर्भ में उभरता है जिनसे न सिर्फ इससे ऊपर उठने की बल्कि इसकी सम्यक् आलोचना विकसित करने की उम्मीद की जानी चाहिए थी।

क्या आधुनिकता या गद्य या अन्ततः उपन्यास की हमारी अधूरी और असंगत साधना के मूल में हमारे सौन्दर्यबोध की, हमारे लेखकीय संस्कार में पैठी सौन्दर्य-सम्बन्धी विशिष्ट धारणा की भूमिका हो सकती है? दर्शन और काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ मुकुन्द लाठ इस अटकल की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं उनके समक्ष प्रश्न यद्यपि उपन्यास का नहीं बल्कि आत्मकथा का है। (“भारत में आत्मकथा क्यों नहीं लिखी गयी?”), लेकिन उनका जवाब उपन्यास (या, उन्हीं के शब्दों में ‘परकथा’) पर भी उतना ही लागू होता है। वे कहते हैं कि इस प्रश्न का “उत्तर हमारे यहाँ की आत्मा की अवधारणाओं में नहीं, कथा की धारणा और परम्परा में ढूँढना चाहिए” जिससे “अलंकारशास्त्र के विधि-विधान, बन्धन, मर्यादाओं की शृंखला” को महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। उपन्यास (और सिर्फ ‘यथार्थवादी’ उपन्यास ही नहीं उपन्यास-मात्र) लोक या सामान्य जीवन की ‘लोकधर्मी’ या ‘वास्तविक’ अनुकृति में चरितार्थ होता है। यह अनुकृति न सिर्फ किसी औचित्य-विचार से मर्यादित नहीं होती, वह न सिर्फ इस जीवन में निहित विधि-विधानों, बन्धनों, मर्यादाओं या आदर्शों से बँधी नहीं होती बल्कि भावना और कर्म दोनों ही सतरों पर इन मर्यादाओं आदि के उल्लंघन, और इस उल्लंघन के नतीजे में होने वाले संघर्षों और त्रासदियों में रूपायित होती है। इस ‘लोकधर्मी’ अनुकृति के बरक्स लोक की वह ‘नाट्यधर्मी’ अनुकृति है जिसका प्रतिपादन कथा विषयक अलंकारशास्त्र की हमारी परंपरा के मूल नाट्यशास्त्र में किया गया है जो मुकुन्द लाठ के अनुसार हमारी कथा का संस्कार बना हुआ है। ‘नाट्यधर्मी’ अनुकृति रसनिष्पत्ति और धर्मशिक्षा के दोहरे उद्देश्यों तथा इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्धारित औचित्य की मर्यादाओं में बँधी हुई है। रसनिष्पत्ति के सन्दर्भ में एक मर्यादा तो इसी रूप में उभरती है कि चूँकि रसों की संख्या सीमित है और प्रत्येक रस के मूल में एक स्थायी भाव तथा कुछ निश्चित संचारी भाव होते हैं, अतः इस अनुकृति में मनुष्य का व्यापक भावलोक कुछ निश्चित भावों में ही सिमटकर रह जाता है। दूसरी मर्यादा, औचित्य के रूप में, उस भाव-संयोजन में उभरती है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक स्थायी भाव के साथ कुछ निश्चित संचारी भाव होते हैं, अतः इस अनुकृति में मनुष्य का व्यापक भावलोक कुछ निश्चित भावों में ही सिमटकर रह जाता है। दूसरी मर्यादा, औचित्य के रूप में, उस भाव-संयोजन में उभरती है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक स्थायी भाव के साथ कुछ निश्चित संचारी भाव ही संगत हो सकते हैं, उनसे इतर संचारियों के आने से ‘रसाभास का भयंकर दोष’ पैदा हो सकता है। सामंजस्य के इस विधान के चलते नाट्यधर्मी अनुकृति में भावों के उन असमंजस, अप्रत्याशित, परस्पर विरोधी संयोजनों के लिए कोई गुंजाइश नहीं रह जाती जो वास्तविक भावव्यापार के महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं।

दूसरा औचित्य-बन्धन आचार-व्यवहार या धर्म का है, जो ‘और भी वास्तव-विद्वेषी है। मुकुन्द लाठ के ही शब्दों में, “करनी, कथनी, मनुष्य से मनुष्य का पारस्परिक सम्बन्ध, यहाँ

तक कि कौन क्या सोचता है इन सबका एक आदर्श था, जो धर्मशास्त्रों, से मर्यादा-ग्रंथों से लिया गया था। नाटक या कथा के पात्रों का इन आदर्शों की परिधि में ही विचरण कराया जाता था। इन आदर्शों का जाल जीवन ही हर छोटी-से-छोटी बात को भी अपनी बाँहों में घेरे हुए था। पिता का पुत्र से, पति का पत्नी से, माँ का बेटे से, बड़े का छोटे से, नीच का ऊँच से सम्बन्ध कैसा हो, इसकी मर्यादा थी; कौन क्या करे, कैसे करे, क्या सोचे, क्या कहे, कैसे कहे, इसकी मर्यादा थी। “चरित्र चाहे काल्पनिक हो या वास्तविक, चरित्र लिखने का आदर्श यही था।” “नाटककार या कथाकार मर्यादा तोड़े तो रसभंग करने का दोषी हो जाता था।” “कहना नहीं होगा कि कथा लिखने में नाट्यधर्मों का ऐसा दोहरा औचित्य-प्रधान आदर्श कथा को यथार्थ से दूर ले जाता है।” मुकुन्द लाठ का मानना है कि इन ‘लक्ष्मण रेखाओं’ के “व्यूहवत् वलय ने एक ऐसी परिधि बना दी जिसके अन्दर रहना कथा लिखते समय हमारा स्वभाव-सा बन गया।”

यह अटकल किंचित् दूरारूढ़ प्रतीत हो सकती है कि नाट्यधर्मों अनुकृति की यह परम्परा हमारे आधुनिक उपन्यासकार का संस्कार और स्वभाव बन गयी हो, लेकिन हमारी औपन्यासिक कल्पना में इस परंपरा के उक्त विधि-निषेधों की प्रच्छन्न और संभवतः आधुनिकीकृत मौजूदगी से शायद ही इंकार किया जा सके। इसी क्रम में एक अटकल और। मुकुन्द लाठ अपने इसी निबंध में कथा के संदर्भ में भावना और कर्म की भूमिकाओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहते हैं कि “हालाँकि कथा के लिए भावना और कर्म दोनों का गुन्थन आवश्यक होता है। पर सच पूछा जाये तो भावना से कर्म का पलड़ा भारी पड़ता है। केवल भावना की अभिव्यक्ति के लिए हम संगीत का, या कविता का, या नृत्य का सहारा ले सकते हैं, जरूरी नहीं कि कोई कहानी ही हो। पर कर्म के, चरित्र के बिना कथा नहीं बन सकती। और कर्म से अभिप्राय यहाँ मानव-परिस्थितियों में किये गये कर्म से है जिसमें आत्म और पर के सम्बन्ध का बड़ा स्थान रहता है, विशेषकर आत्म और पर के सम्बन्ध का बड़ा स्थान रहता है; विशेषकर आत्म के अन्य आत्मों के साथ सम्बन्धों का। इन्हीं के माध्यम से इन्हीं की अभिव्यक्ति से भावना प्रस्फुटित की जाती है। भावना कर्म का अंग बनकर आती है।” इस विवेक के परिप्रेक्ष्य में अगर हम एक बार फिर इस तथ्य पर ध्यान दें कि आधुनिक समय में हमारी सृजनात्मकता का जैसा उत्कर्ष कविता में सम्भव हुआ, या जारी रहा। वैसा उपन्यास में सम्भव नहीं हो सका। तो क्या इसकी वजह के तौर पर यह अटकल भी लगायी जा सकती है कि भावना के जगत के मुकाबले कर्म (एक्शन) के जगत में हमारी गति, स्वभावतः ही प्रायः शिथिल रही है? क्या यह कर्म-शिथिलता ही महाभारत के रचयिता को अपने ग्रन्थ के बीचों-बीच कर्म की महिमा के एक समूचे दर्शन के प्रतिपादन के लिए प्रेरित नहीं करती? वह महाभारत जिसमें कर्म अपनी पराकाष्ठा पर है, और जो, जैसा कि लाठ ने संकेत किया है, हमारी नाट्यधर्मों परम्परा का एक महान अपवाद है; जिसमें धर्म बराबर दाँव पर लगता है और मर्यादाओं की तोड़ फोड़, भावों के अन्तर्विरोधों और विरोधाभासी संयोजन हिंसा की पराकाष्ठा पर घटित होते हैं। और क्या यह विडम्बना भी हमारे इसी कर्म-शिथिल स्वभाव या संस्कार का ही एक प्रभाव नहीं है कि, एक बार फिर मुकुन्द लाठ के ही शब्दों में, “महाभारत के आख्यानो को लेकर जो नाटक, चम्पू, चरित्र, महाकाव्य कथाएँ लिखी गयीं सबने महाभारत की जगह भरतकथा बना दिया : नितान्त नाट्यधर्मों”?

इसी क्रम में, अन्त में, एक अटकल और, जो शायद औचित्य और मर्यादा के उपर्युक्त तर्क के विपरीत जाती लगे। इस निबन्ध में हम लगातार योरोप के उपन्यास के परिप्रेक्ष्य में

बात करते रहे हैं। लेकिन अगर हम कुछ दूसरी गैरयूरोपीय सभ्यताओं, जिनकी स्थिति भी पश्चिम के सन्दर्भ में कमोबेश हमारे जैसी रही है, के उपन्यासों को यूरोपीय उपन्यास के बरक्स रखकर देखें, तो स्थिति काफी भिन्न दिखायी देगी। बल्कि यहाँ के लेखकों ने औपन्यासिक दोहरी भूमिका निभाते हैं : वे एक ओर उपन्यास को उस संश्लिष्ट वास्तविकता के प्रति समावेशी बनाते हैं जिसे हम रूसी, लातीन अमेरिकी या ऐशियाई वास्तविकता कह सकते हैं, जो यूरोप के आक्रान्तकारी प्रभाव के बावजूद अब भी एक अनूठी वास्तविकता है, और, दूसरी ओर ऐसा करते हुए वे स्वयं उपन्यास का उतना ही अनूठा संस्करण भी पेश करते हैं। इन गैरयूरोपीय उपन्यासों में सबसे पहला तो रूसी उपन्यास ही है जिसके बारे में अर्नोल्ड ट्वायनबी का हवाला देते हुए रमेशचन्द्र शाह ने लिखा है कि “उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में जब यूरोपीय संस्कृति का जबर्दस्त दबाव रूसी चेतना पर पड़ा, तो उस ‘कल्चरल शॉक’ को पचाने और उससे उबरने के सिलसिले में ही रूसी चेतना ने यह नायाब रास्ता खोज निकाला जिसका नाम रूसी उपन्यास है और जो स्वयं इस विधा के आविष्कार की पहल करने वाले देश इंग्लैण्ड के उपन्यासकारों को इतना नया और विस्फोटक लगा कि उन्हें विक्टोरियन उपन्यास की लीक को त्यागकर सर्वथा नये प्रयोग करने की प्रेरणा उससे मिली। ट्वायनबी का कहना है कि उपन्यास-रूपी यह ‘सेफ्टी वॉल्व’ रूसी चेतना के लिए उसकी आत्मरक्षा और आत्मविकास दोनों दृष्टियों से बड़ा उपकारक सिद्ध हुआ। तभी तो, फिर पलटकर रूसी चेतना की मौलिक प्रतिक्रियास्वरूप यह आविष्कार यूरोपीय उपन्यास को भी फला ।”

स्पष्ट ही, यूरोपीय उपनिवेशीकरण के सन्दर्भ में ऐसी किसी भूमिका की बात हम भारतीय उपन्यास के सन्दर्भ में नहीं कर सकते। उल्टे, जैसा कि हम पहले भी संकेत कर चुके हैं, शायद यही कहा जाएगा कि यूरोपीय उपन्यास के ढाँचे के माध्यम से हमारी वास्तविकता का उपनिवेशीकरण, या वह ‘कल्चरल शॉक’ ही जारी रहा है। बहरहाल। ऐसे ही गैर यूरोपीय उपन्यासों के अन्य उदाहरणों के तौर पर हम कोलम्बियाई उपन्यासकार गैब्रियल गार्सिया मार्क्वेज, तुर्की उपन्यासकार ओरहान पामुक और जापानी लेखक हारुकी मुराकामी की कृतियाँ देख सकते हैं। यूरोपीय ‘कल्चरल शॉक’ को कोलम्बिया और तुर्की ने भी झेला है एक ने हमारी ही तरह यूरोपीय (स्पहानी) उपनिवेशीकरण के रूप में (जिसकी इन्तिहा यह है कि मार्क्वेज को अपना उपन्यास अपनी भाषा में नहीं बल्कि स्पहानी भाषा में लिखना पड़ता है), तो दूसरे ने यूरोप के सांस्कृतिक सम्पर्क के नतीजे में उसके आधुनिक मूल्यों के स्वतः वरण के रूप में। और जहाँ तक जापान का सवाल है, वह यद्यपि उपनिवेशीकृत नहीं हुआ (उल्टे स्वयं एह औपनिवेशिक शक्ति के रूप में उभरा) लेकिन वह पश्चिमी सभ्यता में एशिया के किसी भी अन्य देश के मुकाबले सबसे ज्यादा रचाबसा और दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान आधुनिक प्रौद्योगिकी के अभिशाप का सबसे बड़ा शिकार होने के बावजूद इस प्रौद्योगिकी का दुनिया का एक महान उत्पादक और उपभोक्ता है तथा भौतिक समृद्धि और उसके उपभोग में अमेरिका और यूरोप से बढ़चढ़कर आगे है। कमोबेश भिन्न होते हुए भी ये परिस्थितियाँ अपनी जटिलता और यूरोप के साथ अपने उलझे हुए रिश्ते में भारत के साथ साझा करती हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन परिस्थितियों से ताल्लुक रखने वाले उपर्युक्त तीनों ही लेखकों के उपन्यास इस बात का अद्भुत उदाहरण हैं कि किस तरह इस जटिलता और उलझाव के प्रति एक संश्लिष्ट प्रतिश्रुति अनूठी कला को जन्म दे सकती है। यह प्रतिश्रुति इस अर्थ में संश्लिष्ट है कि ये लेखक एक ओर अपने समय के सन्दर्भ में, अपनी सांस्कृतिक साभ्यतिक परिस्थित के संदर्भ में, उपन्यास नामक विधा की अनिवार्यता से प्रतिश्रुत हैं, तो दूसरी ओर वे इन्हीं सन्दर्भों में इस विधा की अनिवार्यता से

प्रतिश्रुत हैं, तो दूसरी ओर वे इन्हीं सन्दर्भों में इस विधा की विजातीयता और औपनिवेशिकता के तथ्य के प्रति तथा अपनी विशिष्ट मानवीय स्थिति के साथ उसकी असमंजसियता के तथ्य के प्रति भी प्रतिश्रुत हैं। इसलिए ये लेखक जब अपना उपन्यास लिखते हैं, तो उसको जितना स्वीकार करते हैं, उतना ही उसको प्रश्नांकित भी करते हैं; जितना उसको 'लिखते' हैं, उतना ही उसकी योरोपीय रक्तशुद्धता के अर्थ में, उसको मिटाते भी हैं। उसमें इन संस्कृतियों के विजातीय तत्त्वों का समावेश करते हुए : क्लासिक के साथ लोकप्रिय का, यथार्थ के साथ अयाथार्थ, जादू, रहस्य, फन्तासी और पहेली का, जागृति के साथ स्वप्न का, तर्क के साथ तर्कातीत का, मानवीय स्वयं के साथ अमानवीय स्वयं का, त्रास के साथ विनोद का, आक्रान्तकारी भौतिकता, सेक्स और हिंसा के साथ उतनी ही गहरी अधिभौतिकता और दार्शनिकता आदि का सान्निधान और अन्तर्गुम्फन करते हुए। और इसी क्रम में हम भारतीय मूल के लेखक सलमान रशदी के उपन्यासों को भी शामिल कर सकते हैं।

लेकिन इन वैकल्पिक उपन्यासों का जिक्र हमने एक विशेष अटकल के नाते किया है। अगर फिलहाल मुराकामी के उदाहरण को छोड़ दिया जाए, तो इन वैकल्पिक उपन्यासों के सन्दर्भ में यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है कि योरोपीय उपन्यास से अपनी अनूठी भिन्नता के बावजूद ये उपन्यास जिन संस्कृतियों से ताल्लुक रखते हैं वे योरोपीय संस्कृति के साथ धर्म के मामले में एक विशेष और गहरे अर्थ में साझा करती हैं; इस अर्थ में कि भले ही वे ईसाई या यहूदी या इस्लामी संस्कृतियाँ हैं, और भले ही वे आपस में कितने ही विरोध और संघर्ष के रिश्ते में हैं, लेकिन उन तीनों का गोत्र एक ही है। वे तीनों सामी संस्कृतियाँ हैं; एकेश्वरवादी, और उस एक ईश्वर को सृष्टि का केन्द्रीय नियन्ता मानने वाली। उस धर्म के सन्दर्भ में, जो कि सेक्युलर आधुनिकता का और उसी के तर्क से अन्ततः उपन्यास का भी सबसे बड़ा प्रतिपक्ष रहा है, उसका यह सामी स्वरूप, उसमें निहित 'सेक्रेड' और 'प्रोफेन' के बीच का दोटूक विभाजन बहुत मानी रखता है। यह धर्म का सामी स्वरूप ही है जिसके सन्दर्भ में सिर्फ रशदी का सैटेनिक वर्सेस नहीं बल्कि, एक अर्थ में, उपन्यास मात्र ही धर्मद्रोह (ब्लसफेमी) ठहरता है। उपन्यास अपने सम्भवन, अपनी ऊर्जा के लिए, एक काउण्टरप्वाइण्ट के रूप में, मानों इस सामीत्व की अनिवार्यता पूर्वापेक्षा करता है।

अटकल यह है कि क्या भारतीय धर्म और संस्कृति की पेगन अन्तश्चेतना हमारे यहाँ उपन्यास को इस अनिवार्य काउण्टरप्वाइण्ट से वंचित करती है? कि क्या हमारे संस्कार से पहले ही मूलबद्ध मनुष्य और ईश्वर, इहलौकिक और पारलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक आदि के बीच विषमता या स्पष्ट विभाजन का अभाव, और उसकी परस्पर व्याप्ति के सम्बन्ध से निर्मित गोधूलि हमें मनुष्य-भाव पर अतिरिक्त बलाघात देने वाली किसी नयी कल्पसृष्टि के लिए उत्प्रेरित ही नहीं करते, याकि ऐसी किसी कल्पसृष्टि की परिरेखाओं को धुँधला देते हैं?

जो भी हो, लेकिन इस बात से शायद ही इंकार किया जा सके कि यह गोधूलि ही हमारा यथार्थ है। कि विशुद्ध मनुष्य-भाव पर अतिरिक्त बलाघात दरअसल इस गोधूलि को नष्ट करने या उसको मर्यादित करने की कोशिश है; उसकी नाट्यधर्मी अनुकृति की कोशिश। भारतीय उपन्यास की सम्भावना शायद इस गोधूलि की लोकधर्मी अनुकृति में है। लेकिन इसी के साथ-साथ हमारे उपन्यास का उन दोहरे तथा परस्पर उद्बोधक, परस्पर प्रबोधक स्तरों पर आलोचनात्मक होना भी अनिवार्य प्रतीत होता है, जिनमें एक ओर आधुनिकता और हमारी अपनी परम्पराओं के साथ के हमारे रिश्ते की विडम्बनाओं को, उनकी समूची कारुणिकता और



विद्वेषता में चरितार्थ किया जाए, और दूसरी ओर, उसी के साथ-साथ, क्योंकि उपन्यास का हमारा वरण भी आधुनिकता के साथ हमारे इसी रिश्ते का एक पक्ष है, अतः औपन्यासिक आख्यान के ढाँचे के स्तर पर यह रिश्ता चरितार्थ हो; कुछ इस तरह कि यह आख्यान, एक साथ, उपन्यास के पश्चिम के इतिहास और हमारी देशज आख्यान-परम्पराओं से प्रतिश्रुत होने की प्रक्रिया में विकसित हो इस समक्रमिक प्रतिश्रुति की विडम्बनाओं के साथ। एक ऐसा आत्मविमर्शात्मक उपन्यास जिसमें स्वयं आख्यान भी उपन्यास के मुख्य पात्रों की अन्तर्दशाओं को प्रतिबिम्बित करता हुआ, एक अर्थ में, इन पात्रों में शामिल हो। तभी शायद हमारे आख्यान और उसके आख्यात के बीच एक सहज, जीवन्त और विश्वसनीय समबन्ध बन सकेगा।

(‘कथालोचना : दृश्य-परिदृश्य’ नामक पुस्तक से)

## कथा का समाजेतिहास और उपन्यास

विनोद शाही

समाजेतिहास के अवचेतन की रचनात्मक अभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम है कथा। परन्तु जब एक लम्बे अर्से तक जातीय स्मृतियों में चली आती कथा की समाजेतिहासिक जमीन खोने लगती है, तो वह अवचेतन की सपनों जैसी संरचनाओं से मेल खाने लगती है ऐसी कथाओं को मिथक कहा जाता है। एक छोर पर इतिहास की, और दूसरे छोर पर स्वप्नों को छूती यह कथा नामक विधा, मानवजाति के अन्त तक के रचनात्मक इतिहास में, तीन रूपों में सामने आयी है ये तीन रूप हैं चरित कथा, उपन्यास और आत्मकथा। रचनात्मक विधाएँ, समाज में यों ही प्रकट नहीं हुआ करती हैं। वे मानवजाति के वास्तविक समाजेतिहास का ही रचनात्मक आयाम होती हैं, इसलिए, विधा-रूपों में तथा उनके खास भेदों-उपभेदों के, किसी काल-विशेष में नुमायाँ होने के कारण भी, इतिहास में मौजूद देखे जा सकते हैं।

समाजेतिहास को पढ़ने-जानने के दो तरीके हैं, एक वह है जिसे इतिहासकार अपनाते हैं। इतिहासकार की नजर उन सब तथ्यों और ब्यौरों पर होती है, जिनके वस्तुनिष्ठ प्रमाण मिल सकते हैं। दूसरे, इस तरह का उपलब्ध इतिहास, बहुत सीमित होता है तथ्यों के रूप में घटनाएँ, बड़े सीमित रूप में ही दर्ज हो पाती हैं। बाकी सब लोगों की स्मृतियों में दर्ज पड़ा रह जाता है। तीसरे, इतिहास की, प्रतिनिधि या वर्चस्वी घटनाओं या तथ्यों में ही दिलचस्पी होती है। जीवन का सामान्य इतिहास, सिवाय लोगों की स्मृति के अन्यत्र कहीं बनता ही नहीं, इन स्मृतियों को, थोड़ा-बहुत लोक आख्यान जरूर दर्ज करते हैं, परन्तु बाकी सब, मानवजाति के सामूहिक अवचेतन में जाकर, न जाने कहाँ छिपा, पड़ा रहता है। तब उस तक पहुँचने का एक ही रास्ता बचता है स्वप्न। इतिहास के स्वप्न हो जाने की प्रक्रिया के समान्तर और उससे मिलती-जुलती रचना प्रक्रिया होती है कथा की। कथा, यों ही इस ओर इतिहास और उस ओर स्वप्न जैसा नहीं होती। इस दोनों के बीच एक रिश्ता होता है जो द्वन्द्वत्मक होता है।

जीवन में, इतिहास, स्वप्न तक की यात्रा करता है कथा में, स्वप्न, पुनः इतिहास होने तक, एक नवगठन और रूपायन हासिल करते हैं। परन्तु स्वप्नों के साथ एक बड़ी दिक्कत

होती है। वे बेहद तरल होते हैं इतिहास के सच को, अपने समय के घटित और पात्रों की शक्ति में ढाल लेते हैं और इतना ही नहीं, लगभग मनमाने तरीके से, भविष्य में घुसपैठ करते रहते हैं। स्वप्न, सभी कालों से असन्तुष्ट होते हैं, इसलिए वे हमेशा अपना एक वैकल्पिक लोक रचते रहते हैं। इस मामले में तो हमेशा ही यथार्थ के साथ, प्रतिरोध का और आत्म-स्वायत्त होने की भंगिमा का प्रदर्शन करने वाला, रिश्ता बनाते हैं। कथा, स्वप्नों की ऐसी तरलता को, यथार्थ के ठोस पर्दे के पीछे छिपाये रखती है।

कथा, सजग तौर पर समसामयिक होने और बने रहने की अनिवार्यता की वजह से, स्वप्न की इतिहास-भूमि पर पैर टिकाये रखने की कोशिश करती है। इसलिए कथा में, स्वप्न, बनावट की तरह रहता है, बुनावट की तरह नहीं। बुनावट में उतर आने वाला स्वप्न, कथा को कविता में बदल देता है, इससे कथा का कथापन बाधित होता है। अतः इससे बचने की जरूरत पड़ती है। पर कुछ लोग कथा की बुनावट में भी इसे कुछ दूर तक साधने में कामयाब हो जाते हैं, जैसे डी.एच. लॉरेंस या वर्जीनिया वुल्फ; या भारत में निर्मल वर्मा पर कथा की कथा के रूप में श्रेष्ठता तो इसके इतिहास-पक्ष में पाँव जमाये रखने वालों के हिस्से ही आती हैं।

समसमय के घटित से ही बावस्तगी रखने वाली कथा, उथली हो जाती है। और उसे स्वप्न जैसी संरचना बना देने से उसका समय और स्थान से रिश्ता टूट जाता है, जिससे वह कल्पना के लिए ही अर्थपूर्ण रह जाती है। अतः एक अच्छी कथा के लिए जरूरी है कि वह जहाँ तक हो सके, इतिहास को साधे, समसमय और स्वप्न के बीच, इतिहास एक पुल का काम करता है। इतिहास, स्वप्न की जमीन है और समसमय की गहराई इतिहास में, यथार्थ और कल्पित, समसमय और कालातीत-एक-दूसरे से गलबहियाँ करते हैं परन्तु यह इतिहास, इतिहासकार वाला ठोस संकीर्ण इतिहास न होकर, वह इतिहास होता है। जो वास्तविक हैयानी जो एक साथ समाज-इतिहास भी है और जीवनेतिहास भी।

तो, जैसा पीछे कहा गया, कथा की रचनाशीलता ने इस वास्तविक इतिहास को, अभी तक तीन रूपों में अभिव्यक्त किया है। ये तीन ही, अब तक के, मानवजाति के वास्तविक इतिहास के उत्तरोत्तर विकास करने की प्रक्रिया में प्रकट हुए, तीन चरण भी हैं।

गो कि, इसका एक आद्य-रूप भी है, जो कबीलायी दौर के वास्तविक इतिहास को दर्ज करता है, परन्तु जिसकी जमीन खो गयी है इसलिए उसकी संरचना, अब सपनों जैसी ही दिखायी देने लगी है इसे हम मिथक... कथा वाला आद्य-चरण कह सकते हैं। इन कथाओं में समाज के विविध स्तर भी हैं, परन्तु उनका विभाजन किसी एक स्तर या वर्ग के वर्चस्व को प्रमाणित-स्थापित नहीं करता। इसलिए 'व्यवस्था' के नाम पर बड़े तरल हालात सामने आते हैं। मनुष्य, उनके सामूहिक सामाजिक वर्गीय रूप या स्तर तथा व्यवस्था के रूप में प्रकट उनकी मंजिलें या सारये तीनों चीजें वहाँ बराबर की अहमीयत रखती हैं। इसलिए मिथक हैरान करते हैं। वे इसी वजह से सुदूर अतीत के ही नहीं, अनेक अर्थों में भविष्य की समाज-संरचनाओं का आभास देने वाले भी हो जाते हैं मसलन, आप वहाँ स्वर्ग को अगर श्रेष्ठ व्यवस्था के पर्याय की तरह देखें, तो यह पक्का नहीं कर सकते कि वहाँ कब देवों का अधिकार होगा और कब असुरों का? और अगर आपको इस सृष्टि की, प्रकृति की सार-सम्पत्ति को हासिल करना हो तो उसके लिए जरूरी समुद्र-मन्थन में दोनों की जरूरत पड़ेगी देवों की भी, असुरों की भी। और अद्भुत हैं ये मिथक कथाएँ जो समुद्र मन्थन के बाद अमृत के बँटवारे के मामले में देवों और यहाँ तक कि भगवान के पर्याय विष्णु के भी अन्यायपूर्ण नैतिक व्यवहार की

अभिव्यक्ति देती हैं। अच्छे-बुरे के प्रति पूर्वाग्रह और दुराग्रह के फर्क को तरल बनाती हैं। ज्यादा श्रम करके भी अमृत से वंचित रह जाने की वजह से असुरों के प्रति भी सहानुभूति का भाव पैदा करती हैं। यहाँ सब बराबर हैं। देव, असुर और सामान्य मनुष्य भीतीनों एक साथ ब्रह्मा के पास जाते हैं, तीनों को सत्य का भागीदार होने का समान मौका और हक मिलता है। तीनों अपनी-अपनी सामर्थ्य के मुताबिक, जो हासिल कर सकते थे, कर पाते हैं।

पर इन मिथक कथाओं की रचनाशीलता के पीछे चूँकि जातीय स्मृतियों की सामूहिकता काम करती है, इसलिए वे साहित्य की व्यवस्थित रचनाशीलता के ऊपर या पार खड़ी नजर आती हैं। तो, इस विवेचन से ही, एक तरह से यह बात साफ हो जाती है कि कथा के इसके बाद के चरण, इतिहास के भी व्यवस्था काल हैं वहाँ विकास की प्रक्रियाएँ, कुछ खास, पद्धतियों से बावस्तगी रखती हुई नजर आती हैं। और उन पद्धतियों पर जिनका अधिकार होता है, वे वर्चस्व में आ जाते हैं, तथा बाकी लोगों को उनकी उत्पादन सामर्थ्य की ही नहीं, उनकी रचनाशीलता को भी अपने साँचों में ढालने लगते हैं। आइये, इसे थोड़ा विस्तार में देखने-समझने की कोशिश करते हैं।

कथा के व्यवस्थित विकास का पहला चरण हैचरित-कथाओं का। इस तरह की कथा, सामन्तीय दौर के उभार काल में प्रकट हुई। उच्चवर्गीय कुलीन नायकों का भव्य चरित्र, उस काल में आदर्श और अनुकरणीय बनकर, इन कथाओं के केन्द्र में आया। ये नायक महान मानवीय गुणों से युक्त थे और संघर्ष करते हुए आत्मबलिदान, त्याग और धैर्यपूर्ण-विवेक के जरिये उस व्यवस्था को स्थापित कर रहे थे, जो कबीलायी दौर की पतनशीलता, हिंसामयता और अव्यवस्था का विकल्प हो सकती थी। इसके साथ ही ये कथाएँ, समाज के मातृसत्ता से पितृसत्ता में चले आने की कथाएँ भी हो गयीं। संयम, इन्द्रिय-निग्रह और काम पर विजय जैसे भव्य आचरण, इन नायकों को, सभी के हृदयों में जाकर, राज्य करने लायक बनाने लगे। इनके तमाम महान गुण, मूल्य व सम्बन्ध, इनके संघर्षशील आचरणों से उपजते थे। इनके कर्मठता या कर्मयोग, इनके जीवन-दर्शन का सार था। इस तरह आचरण-मूलक चरित्र, उस दौर की समाज कथा हो गये, परन्तु, फिर बाद में, यानी सामन्तकाल का जब उत्तरकाल आरम्भ हुआ, सामन्त विलासी और यथेष्ट आचरण से विहीन होते चले गये। तब इस तरह की कथाओं के भीतर से इनका विकल्प पैदा हुआ। इसे हम किस्सों या प्रेमाख्यानों के रूप में देख सकते हैं। इनके नायक दो तरह के हैं—एक वे जिन्हें अन्याय से या धोखे से, इनके पूर्वजों की सत्ता के बाहर कर दिया गया है और या फिर ऐसे नायक हैं, जो उस दौर के सामान्य या सामान्य से बेहतर वर्गों में पैदा होने के बावजूद श्रेष्ठ आचरण वाले या वीरता अथवा पुरुषार्थ करने वाले हैं। इनमें दूसरे देशों में जाकर दुस्साहसी कारनामे कर दिखाने वाले नायक भी जुड़ गये, जो समाज से बहिष्कृत दस्यु जैसी कोटियों के हैं, पर जिनमें धैर्य, प्रेम, साहस जैसे मानवीय गुण हैं।

तो, हम देख सकते हैं कि किस तरह, सामन्तीय व्यवस्था और सत्ता के बिखरने की प्रक्रिया, समाज के अन्य या सामान्य वर्गों में से चरित नायकों की वैकल्पिक खोज बन जाती है। हमारी सूफी कथाओं के नायक रतनसेन या रौझा-नाथ योगी होने के बाद, चरित नायकों की कोटि में ऊपर उठते हैं या दुल्ला भट्टी या अलीबाबा जैसे रॉबिनहुड, श्रेष्ठ मानवीय त्याग व दूसरों की प्राणरक्षा करते हुए, बहुत पीछे से बहुत ऊपर तक का सफर तय करते हैं—चरित कथाओं की ऐसी टूट-फूट व बिखराव की प्रक्रियाओं के भीतर से पैदा होता है—हमारे दौर का उपन्यास।

समाजतिहास का समसमय में खुलता अध्याय, साथ-साथ बदलाव या विकल्प के सपनों को गढ़ने की जरूरत से बँधा रहता हैकथा, इस इतिहास से स्वप्न तक के सफर को अपने समय के यथार्थ की जमीन पर तय करने की कोशिश करती है। इतनी बात तो हमें ऊपर के विवेचन के तहत फिर भी कुछ पकड़ में आती लग सकती है, परन्तु, इस पाया में हम, मिथकों या चरित कथाओं की बावत फिर भी कुछ सैद्धान्तिक समीकरणों (जो सरलीकरण भी कहे जा सकते हैं) तक पहुँचने में कामयाब हो सकते हैं, वे दौर बीत गये अब, यहाँ उनसे थोड़ी दूरी पर खड़े हम, उनके बारे में कुछ नतीजे तो पेश कर ही सकते हैं, परन्तु बात जब अपने समय के ज्यादा जटिल यथार्थ की आती है, तो उसकी कथामूलक रचनाशीलता की व्याख्या उतनी आसान मालूम नहीं पड़ती। फिर भी एक कोशिश करनी जरूरी लगती हैइस उम्मीद में कि शहसवार गिरा भी तो कम-से-कम अपनी भूल से कुछ सीख पाने का मौका तो वह पा ही लेगा।

सामन्तीय व्यवस्था में बिखराव की प्रक्रिया नौवीं शती के आस-पास आरम्भ हो जाती है। उसके नतीजे के तौर पर निम्न या सामान्य वर्गों के भीतर से ऐसे लोग उभरते नजर आने लगते हैं, जो चरित-नायकों का विकल्प हो सकते हों भारत में नाथों, योगियों व सिद्धों के रूप में ऐसे विकल्प उभरने लग पड़े थे, परन्तु तेरहवीं-चौदहवीं शती तक सिवाय गोरखनाथ के, दूसरा ऐसा व्यक्ति नजर नहीं आता, जो नये नायक के बिम्ब को गढ़ने या प्रेरित करने वाला मालूम पड़ता है, परन्तु कबीर, रैदास आदि के आ जाने के बाद, सामन्तीय चरित नायकों को, नयी शकल में पुनरुत्थान के जरिये स्थापित होने की जरूरत पड़ने लगती है। तुलसी या सूर के कथानायक इसी तरह के हैं। वे हरि के पर्याय या प्रतीक होकर वापसी करते हैं जबकि विकल्प के तौर पर जायसी के रतनसेन या वालिदशाह के हीर-राँझा या तो वैकल्पिक सामाजिक श्रेणियों के हैं या राजपाट त्याग कर साधक हो गये हैं यहाँ हमें हालात की तब्दीली के चिह्न साफ देखने-पढ़ने को मिलते हैं, पर भारत में एक और ही घटना घट गयी। मुगल साम्राज्य के जम जाने के बाद, यहाँ के कमजोर हो गये सामन्तों का उनसे गठजोड़ या समझौता हो गया, तो एक तरह से बिखरती सामन्ती व्यवस्था इससे सँभलकर, पुनः सत्ता में स्थापित हो गयी। पुराने चरित नायक, हरि के प्रतीक होकर, इस पुनरुत्थान को हकीकत में बदलने लगे। नतीजतन भारत में, कथा के नये रूपों का अग्रविकास रुक गया।

पर समान्तर रूप में, यूरोप उस समय पुनर्जागरण की ओर बढ़ गया था। जैसे भारत में निरगुणिये व सूफी इसी तरह की तब्दीली के पर्याय होकर उभर रहे थे। पर भारत में सामन्तीय पुनरुत्थान ने चरितकथा की वापसी पर मोहर लगा दी। भक्ति ने, आधुनिकता की ओर बढ़ सकने वाली प्रगति चेतना को, रोककर स्थगित कर दिया। फिर, जब यह पुनः स्थापित सामन्तीयता टूटी, तब तक भारत औपनिवेशिक गुलामी की गिरफ्त में आ चुका था। तो, यहाँ जो प्रगतिशील आधुनिकता आयी थी, वह गुलामी की कुंठाओं से ग्रस्त रूप में आयी और इसीलिए हमारे यहाँ कथा का नया रूप, उपन्यास भी, आते-आते आया यूरोप में, उनके किस्सा-नायक, जो ग्रामीण पेस्टोरल पृष्ठभूमि से उभर रहे थे और नये विकसित हो रहे नगरों-कस्बों में अपनी प्रतिभा और कर्मठता की तथा दुस्साहसी चरित्र की छाप छोड़ रहे थेनये नायक हो गये थेजैसे हेनरी फील्डिंग का टॉम जॉन्स, जो कायदे से दुनिया का पहला उपन्यास कहलाने लायक आख्यान भी है हमारे यहाँ भी कई ऐसे नायक थे, जैसे राँझा या दुल्ला भट्टी; परन्तु सामन्तीय जकड़बन्दियों से ग्रस्त व्यवस्था में वे काव्य की हदबन्दियों को तोड़कर, समाजतिहासिक यथार्थ की ठोस कथाओं में बदलने से रह गये। फिर भी जो नये नायक आये, जिन्होंने हिन्दी को उसके शुरुआती उपन्यास

दिये, वे तिलिस्मी अय्यार थे, परन्तु बड़ी सूझ-बूझ व साहस के पुतले होने के बावजूद, उस गहन सांस्कृतिक चेतना के नवविकास का वहन नहीं करते थे, जो हमें आधुनिक बनाने में कोई ठोस या सार्थक भूमिका निभा पाती। इस लिहाज से, हमारे पास, ले देकर अंग्रेजी शिक्षा के बावजूद सच्चरित्र बने रहने वाले पात्र ही आ पाये, जो इस अभाव की थोड़ी-बहुत पूर्ति कर सकते थे। इस लिहाज से शुरुआती उपन्यासों के तौर पर 'भाग्यवती' को ऐसे ही आधे-अधूरे विकल्प की तरह देखा जा सकता है।

परन्तु यहाँ यह सब देखने का हमारा मकसद यह नहीं है कि हम अंग्रेजी या हिन्दी उपन्यास के उद्भव और इतिहास का जायजा लेना चाहते हैं। यहाँ हमारा मकसद दूसरा है—इस सवाल की मदद से एक खोज पर निकलना है कि जब चरित नायक या चरितकथाएँ टूटती-बिखरती हैं, तो उनकी जगह लेने वाला उपन्यास, दरअसल होता क्या है? वह अब अगर श्रेष्ठ आचरण या चरित्र के आस-पास रची जाने वाली कृति नहीं रह गयी है, तो उसके केन्द्र में क्या है? क्या है उसकी आत्मा, जो उसे उपन्यास कहलाने लायक बनाती है?

कहा जाता है कि उपन्यास का ताल्लुक आधुनिक काल में प्रकट होने वाले मध्यवर्ग के इस रूप में सम्भावनापूर्ण होने के साथ है कि उसकी वजह से समाज के रूपान्तर के नये मॉडल गढ़े-रचे जा सके हैं, परन्तु यह बात जनतान्त्रिक व्यवस्था के नये मॉडलों पर जरूर एक हद तक लागू होती है, तथापि समाजवादी-साम्यवादी मॉडल से उसके प्रगतिशील नेतृत्व की भूमिका से, आगे की ओर देखते हैं और दलितों, वंचितों तथा हाशिये के लोगों के उभार तक आते हैं।

तथापि, जब तक ऐसे हालात पैदा नहीं हो जाते कि दलित, वंचित या हाशिये के लोग, समाज के नेतृत्व की भूमिका में आ सकें, तब तक मध्यवर्ग की ओर उम्मीद से देखने की स्थिति बनी रहेगी और तब तक, समाजवादी इन्कलाब होकर भी जैसे अपने साम्यवादी मुकाम तक पहुँचने से चूकते रहेंगे। इतना ही नहीं, इन समयों में या इनकी भूमिका बनाने वाले उत्तर मध्यकाल में, जहाँ हमें निम्नवर्गों से नये नायक उभरते दिखायी भी देते हैं, वे अपने मूल चरित्र में उतने निम्नवर्गीय नहीं लगते, जितने मध्यवर्ग की मानसिकता की ओर झुके हुए मसलन, आज दलित-विमर्श में कबीर और रैदास को लेकर एक सवाल बार-बार उठता दिखायी देता है कि ये नये नायक जातिविहीन सभा की परिकल्पना करते हुए भी अपनी तान यहाँ लाकर क्यों तोड़ते हैं कि 'साधु सन्त की कोई जाति नहीं होती।' ऐसा कह करके दरअसल प्रगतिशील मध्यवर्गीय मानसिकता की हिफाजत ही कर रहे मालूम पड़ते हैं। वे केवल साधु को जातियों के विषमतामूलक हठ चक्र से ऊपर उठा देखते हैं साधु हो जाने पर 'अब विप्रवर भी उन्हें दंडवत करते हैं तो यह जातिविहीन समतामूलक समाज की परिकल्पना नहीं है। बस एक 'बीच' के साधु-वर्ग की नेतृत्व करने की नयी सम्भावनाओं से उमीद लगाना भर है। पर भारत में यह मध्यवर्ग बहुत दूर तक विकास नहीं कर पाता।

केवल अंग्रेजों के आ जाने के बाद, पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान में दीक्षित होकर, औपनिवेशिक सत्ता की शाबाशी बटोरता हुआ ही वह समाज में सुधारवादी किस्म की प्रगतिशीलता के लिए कोई जगह बनती देख पाता है। नवजागरण वाले 19वीं सदी के समय में इस मध्यवर्ग के प्रेरणा-स्रोत भले ही वैदिक-वेदान्तिक दर्शनों में मौजूद रहते हैं, पर उसके पास कोई नयी समाजार्थिक तब्दीली से ताल्लुक रखने वाली 'अपनी' जमीन नहीं है स्रोत 'अपने' हैं, जमीन 'परायी' है। तो ऐसा मध्यवर्गीय नेतृत्व भी हमें नये कथानायक प्रदान करने से चूक जाता है। भारतीय या हिन्दी के उपन्यास के विकास के लिए इसी वजह से बहुत माकूल हालत पैदा नहीं हो पाते हैं।

एक बड़े चर्चित विश्व प्रसिद्ध भारतीय उपन्यास को लें। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'गोरा' क्यों एक 'बड़ा' उपन्यास होकर भी, 'महान' उपन्यास होता होता रह जाता है? वह दरअसल दो नायकों में विभाजित होकर खंडित कथा-संरचना का उदाहरण ही पेश करता है। ठीक से देखें तो उसके असल नायक हैं परेश बाबू तब्दीली और जागरण के लगाम सूत्र उन्हीं के आस-पास पहुँचकर अपनी अन्विति पाते हैं, पर कथा घूमती है गोरा के आस-पास और वह किस बात का सबूत या प्रतीक है? वह केवल एक प्रश्न है, जो उस दौर के संशय या अनिश्चय को सम्बोधित है। तो वह हमारे दौर का कथानायक नहीं बन पाता, पर मुकाबलतन 'काबुलीवाला' इस जगह को भरने के काफी करीब चला आया दिखायी देता है। वह नये बाजार की अमानवीय बनाने वाली नैतिकता के खिलाफ खड़ा एक 'देशी' चरित्र है, जो नये हालत में अपने 'परिवार' का पराये लोगों के साथ बनते नये रिश्तों तक विस्तार करता है। परिवार और उसके मूल्य, भारतीय परिवेश में, मध्यवर्ग की नयी जमीन के निर्माण की कच्ची सामग्री की तरह आते हैं। और इस तब्दीली के साथ-साथ हमारी कथा भी, एक अलग तरह के उपन्यास या कथावृत्त को खोजने लायक हो ही जाती है यह क्या मामला है?

दरअसल, ऐसा लगता है कि आधुनिक काल में ही उपन्यास तक ले जाने वाला वर्ग बेशक मध्यवर्ग है। परन्तु उसके भीतर से इस नयी तरह की कथा-संरचना के प्रकट होने का आधार है एक वैकल्पिक निजी दुनिया बनाने की सामर्थ्य हमारे यहाँ 13वीं-14वीं शती में कबीर, रैदास जैसे जो बड़े रचनाकार आये थे, वे भी इसी तरह की वैकल्पिक निजी दुनियाओं तक पहुँचे थे। उन्हें उन्होंने नाम दिये थे बेगमपुरा, प्रेमनगरी या प्रेमपुर वगैरह और यह कोई सांयोगिक बात नहीं है कि हिन्दी के उपन्यास सम्राट माने जाने वाले प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यासों के नाम भी कुछ इसी तरह के हैं जैसे, 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' या 'कर्मभूमि'।

यहाँ जो बात समझने की है और जिसकी अभी तक इतिहासकारों व आलोचकों के द्वारा लगभग पूरी तरह अनदेखी की गयी है वह यह है कि इस तरह के तमाम मध्यवर्गीय रूपान्तर-विकल्पों का क्षेत्र भले ही सामाजिक दिखायी देता है, परन्तु इनकी अन्तर्वस्तु (कंटेंट) 'निजी' है, इस पर हम आगे कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे, पर पहले इस बात को ध्यान में रखना यहाँ जरूरी लगता है कि इस मामले में हमारे इतिहासकार व आलोचक, अनेक दफा शंका जरूर जाहिर करते रहे हैं, उन्हें अक्सर यह लगता रहा है कि ऐसे रूपान्तर-विकल्प, हमारे यहाँ सामाजिक सुधारवादी आन्दोलन का स्रोत ही बनकर रह जाते हैं और इससे होता यह है कि हमारे समाज को जिस सामूहिक इन्कलाब की और उससे मिल सकने वाली गुणात्मक (क्वालिटेटिव) तब्दीली की जरूरत है वह इस वजह से स्थगित और विस्थापित तक हो जाती है मार्क्सवाद विमर्शकारों ने ऐसी फिक्र अक्सर प्रकट की है और वे अपनी इस दलील को उग्र रूप में यहाँ तक ले जाने से भी नहीं चूकते हैं कि ऐसे सुधारवादी रूपान्तर-हमारी सम्भावित क्रान्ति को टालने में भूमिका इसलिए निभाते हैं; क्योंकि वे सत्ता के पक्ष में खड़े दलालों की तरह के हैं। बेशक इतनी उग्रता बहुत तर्कसंगत मालूम नहीं पड़ती, परन्तु इस मामले में इस तरह की ये जो शंकाएँ पैदा होती रही हैं, वे एक अन्य अर्थ में अवश्य गौरतलब हैं।

मध्यवर्ग के उभार को मुमकिन बनाने वाली वस्तु है पूँजी और उससे मुमकिन होने वाले नगरीकरण में लोगों के निजी जीवन-क्षेत्र के लिए पैदा होने वाली ऐसी जगह, जिस पर दूसरों का अधिकार न हो, वहाँ लोग खुद को आजाद ही नहीं, मुक्त दशा में पाते हों। इस निजी क्षेत्र की आजादी की महिमा को भारत के निरगुणिये सन्तानें, राजसत्ता के विकल्प या प्रतिरोध तक में ले जाकर खड़ा कर लिया था। वे कह पाये थे 'सन्तन को कहा सीकरी सो काम?'

वे कह पाये थे कि 'गंगा उनकी कठौती में बहती है।' वे कह पाये थे कि राजा होगा बड़ा, पर उनका अपना 'राजा राम भरतार, उनके घर में आकर बैठा पाहुना है।' तो, यह जो घटना घट रही थी, वह इसलिए घट रही थी, क्योंकि सामान्य वर्ग के एक हिस्से के पास इतनी पूँजी का अधिकार पैदा हो पा रहा था, जो 'भूखे न रहने देने और अतिथि को भूखा न जीने देने' की सामर्थ्य दे रहा था। इससे वे सामाजिक रूपान्तर के निजी मॉडल पेश कर पा रहे थे, जो सामाजिक शान्ति में उतने उत्सुक नहीं थे, जितने 'चेतना' के तल पर निजी आजादी को मुक्ति के सपनों में बदल सकने लायक होने और बने रहने में। तो, यह जो खास तरह की मुक्ति-स्वप्न की चेतना थी, वह 13वीं-14वीं शती में 'निजी साधना' के बल से ज्यादा आगे नहीं बढ़ पायी थी, परन्तु 19वीं शती में पैदा हुए नये हालात में, उसे थोड़ा और क्षेत्र मिल पाया, जिस हमारे यहाँ एक नयी रचना शीलता, एक नयी कथा-संरचना की शकल ले पायी। यह निजी क्षेत्र का विस्तार हुआ 'परिवार' के तल पर जिसने सम्बन्धों की एक नयी जमीन तैयार की और इसीलिए, इस दौर में जो रूपान्तर-विकल्प भी आया, उसका केन्द्र भी 'परिवार' नामक संस्था ही थी। निरगुणियों ने सम्बन्धों का आदर्शीकरण किया था वह पितु-मात-सखा-बन्धु-भरतार आदि के साथ ऐसा निजी रिश्ता जोड़ने जैसा था जो 'यहाँ' की बजाय 'वहाँ' कहीं था। यहाँ था 'मायका' और वहाँ थी ससुराल। यहाँ था मरुस्थल और वहाँ था गोलोक। तो रिश्तों की इस निजी दुनिया में एक प्रतीकात्मकता थी, जो इसे काव्य का विषय बनाती थी। आधुनिक काल में, समाज के एक शिक्षित मध्यवर्ग के लिए यह निजी दुनिया, थोड़ी-बहुत यही उपलब्ध होने लायक हो पा रही थी। बस इसके रास्ते में अभी कुछ रुकावटें थीं। सामन्ती पितृसत्ता के पतनशील व्यवहार इस दुनिया को व्यावहारिक शकल लेने से रोकते हुए प्रतीत हो रहे थे। उनके इन विलासी व स्त्री-दमनकारी व्यवहारों के भीतर से समाज का ऐसा कुरूप चेहरा उभरता था, जो 'प्रेम' को एक व्यावहारिक मानवीय मूल्य और व्यवस्था की शकल लेने से रोक रहा था। इसलिए समाज बालविवाह, विधवाओं की दुर्दशा, वेश्याओं के अन्धकारमय नरक, स्त्रियों की शिक्षाविहीन स्थिति से उसे पिछड़ेपन जैसी बातों से अभिशप्त लगता था। फिर, यह जो आधुनिक मध्यवर्ग खड़ा हो रहा था, उसे रोजगार और व्यापार व उद्योगों के लिए ऐसे श्रमिकों की निष्ठापूर्ण मेहनत की जरूरत पड़ रही थी। जिन्हें सामन्ती मानसिकता छुआछूत व जातिवादी विभाजनों व मर्यादाओं में बाँधकर, उत्पादन प्रक्रियाओं व विकास में सीधे हिस्सेदार होने से रोकती थी। तो ऐसी रुकावटों को परे हटा देने से, प्रगतिशील मध्यवर्ग के लिए अपने परिवारों को 'निजी प्रेमाश्रयों' में तब्दील करने का रास्ता एक विकल्प की तरह खुलता नजर आ रहा था। वे जानते थे कि भारत के गाँवों में अभी सामन्ती वर्चस्व इतना गहरा था कि उनकी ऐसी निजी दुनियाओं का विकल्प, अभी शहरों में ही मुमकिन था।

तो, भारतीय उपन्यास, ऐसे हालात से प्रकट होता है और इसीलिए उसे देखने-समझने की कोशिश हमें 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' जैसी धारणाओं तक ले जाती हैं, आदर्श और यथार्थ जैसे शब्दों में जो अन्तर्विरोध है वह इस तरह की धारणाओं को उलटबाँसी जैसा बना देता है। यों भी, 'आदर्श शब्द' इस जटिल यथार्थ की समझ के लिहाज से, नाकामी ही नहीं, अटपटा भी है, पर वह प्रचलित हो गया है इसलिए उसका इस्तेमाल, बाद में यथार्थवादी धारा की अहमीयत के बढ़ जाने पर, यों होने लग पड़ा, जैसे वह कोई पिछड़ी हुई चीज हो। इतना ही नहीं, इस वजह से, प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकार के दो टुकड़े तक कर लिये गये, फिर फतवे जारी किये गये कि 'गोदान' आकर ही वे ठीक से 'यथार्थवादी' हो गये, नजर आते हैं अधिकांशतः प्रेमचन्द को खारिज करते हुए। यों, इस फतवेबाजी के चक्कर में, प्रसाद उपन्यासकारों की



सूची से ही बाहर ले जाकर बिठा दिये जाते हैं।

यह हिन्दी आलोचना की बदकिस्मती है कि यहाँ 'आलोचना की धारणाएँ' उपन्यासों की अन्तर्वस्तु और सामाजिक यथार्थ की कसौटी बना ली गयी है और फिर उन्हें ही परवर्ती आलोचना ने स्वीकार भी कर लिया है, जबकि होना इसके उलट चाहिए था, यानी हमारी आलोचना की धारणाएँ, हमारी उपन्यास और सामाजिक यथार्थ के बीच के रिश्तों की समझ से पैदा होती, तो लगता यह है कि हमारे यहाँ जो उपन्यास प्रकट हुआ, वह 'निजी विकल्पों' वाले यथार्थ का उपन्यास था। बेशक इसकी भूमिका बनी थीमध्यकाल के दौरान तब, जब यथार्थ के चेतनामूलक आदर्शीकरण वाले विकल्प, हमारी मदद के लिए आये थे, परन्तु उन आदर्शी किरणों को अब हम पीछे छोड़ चुके थे, जबकि इस दौर में सामाजिक विकल्प पैदा होने की ठोस गुंजाइश बन पा रही थी, परन्तु इससे सामाजिक रूपान्तर, सुधारवादी धरातल तक ही जा पा रहा था, इसकी वजह थीपूँजी के यथार्थ की जमीन जिसका मकसद ही होता हैसमाज को दो हिस्सों में बाँटना।

पूँजी के फैलाव के साथ, मानव-समाज दो हिस्सों में बाँटते हैंनिजी और सार्वजनिक में। सामन्ती दुनिया में निजी के लिए कोई जगह नहीं होती, इसलिए वहाँ परिवार के तमाम सदस्य, बाकी तमाम चीजों की तरह, मुखिया की सम्पत्ति हो जाते हैं। सभी के पास जीने के लिए, कोई निजी जगह या कोना होइसकी सम्भावना, पूँजी के आने से पायी आजादी के द्वारा निकलती है तो पूँजी, परिवार को भी, समाज के सह-समान्तर, निजी व सार्वजनिक में बाँटना शुरू कर देती है? इस विकास-प्रक्रिया को ठीक से समझना जरूरी है।

कबीलायी दौर में निजी कुछ नहीं होता, परन्तु वहाँ निजी और सार्वजनिक में विभाजन भी अभी पैदा नहीं हुआ होता तो, सब का निजी श्रम, एक सार्वजनिक समाज का निर्माण करता है। सामन्ती दौर में इस सार्वजनिक दुनिया पर राजा, मुखिया, पिता या ईश्वर का कब्जा हो जाता है, तो आजादी और मुक्ति के लिए, चेतना के तल पर एक निजी क्षेत्र खड़ा होता है, इसे आत्मा कहते हैं। बस आत्मा पर मनुष्य का अधिकार होता है। पर वह भी उसे ईश्वर वर्चस्वी लोगों की कृपा या प्रसाद से मिलती हैफिर पूँजी आती है तो कम-से-कम परिवार के तल पर, निजी तौर पर रिश्तों को जी सकने की आजादी मिलने लगती है, इस तरह निजता, पहली दफा ठोस व्यावहारिक या सामाजिक यथार्थ बनती है। तो, जाहिर है, विकल्प भी इसी सीमित दुनिया में पैदा होते हैं फिर वे पूरे समाज के रूपान्तर के बड़े सपने पैदा करते हैं। मनुष्य तब क्रान्ति की विचारधाराओं से जुड़ता है। इससे परिवार भी टूटते हैं, क्योंकि वे सामन्ती पितृसत्ता की रीढ़ हैं। यहाँ तक कि राज्य-व्यवस्था के नये रूप भी सामने आते हैं, क्योंकि तभी निजी सम्पत्ति की निजता को बढ़ाते हुए एक नयी उदार व्यवस्था तक पहुँचा जा सकता है। निजता को रद्द करने वाली विचारधाराएँ इसीलिए, क्रान्तिकारी होने के बावजूद, स्थायी विकल्प नहीं बन पाती है।

भारत में, परिवार देर तक, पितृसत्ता वाली सामन्ती व्यवस्था का केन्द्र बने रहे हैं, परन्तु भारतीय परिवारों की एक और खासियत यह रही है कि वे वंश-परम्पराओं या बिरादरियों वाली अपनी कबीलायी जमीन को भी बढ़ाये हुए चले आये हैंहमारे यहाँ जाति-व्यवस्था इसीलिए कमजोर पड़ने के बावजूद वर्ण-गोत्र-मूलक अवशेषों के सहारे बनी-बढ़ी रह जाती है और बाद में जब पूँजी आती है, तो वह भी औपनिवेशिक हालत की वजह से, विकसित देशों के मुकाबले बड़ी कमजोर पूँजी होती है और तब्दीली भी इसीलिए, बहुत तीव्र व इन्कलाबी नहीं हो पाती। नतीजतन हमारे परिवार, टूट-बिखरकर भी टूटते नहीं। निजता, हमें राहत देती हुई भी, खुद

बड़ा मूल्य नहीं बनती।

और इसीलिए प्यारे उपन्यास, परिवारों की कथाएँ होकर भी, उनके बिखराव के जरिये, पूरे समाजतिहास के वैकल्पिक यथार्थ की तस्वीर बनने लायक नहीं हो पातीं और इसीलिए विकल्प भी सीमित सुधारवाद या आधी-अधूरी निजता तक हमें पहुँचाकर, स्थगित हो जाता है। या वहीं रुका-थमा-ठिठका रह गया मालूम होता है। कुछ बेहद चर्चित-स्थापित उपन्यासों के उदाहरण लें।

‘गोदान’ में शहर और गाँव के दो कथानक हैं, तो अलग-अलग दिशाओं में जाते हुए, दो अलग अन्वितियों तक ले जाते हैं। मेहता और मालती जैसे शहरी चरित्र, परिवारों की बदलती संरचनाओं के बरअक्स खड़े हैं और उनकी निजताओं को सामाजिक अर्थवत्ता देकर, अपने-अपने होने के अर्थ तक पहुँचने की कोशिश कर रहे हैं। स्त्री-पुरुष के बीच बदलते रिश्तों की जमीन उन्हें सामाजिक व्यवहार के तल पर, सामूहिक रूप में अर्थपूर्ण होने की सम्भावनाओं की ओर धकेल रही है। पर इस परिवर्तन से, वे न सामाजिक रूपान्तर की किसी समस्या तक पहुँचते हैं, न अपनी निज-जैसा होने की आजादी को ही एक मूल्य बनाकर, उसमें अपनी अस्मिता या आत्मा को खोज पाते हैं। दूसरी ओर होरी और धनिया परम्परागत परिवार व्यवस्था पर आयत मर्यादाओं का पालन करते हुए पति और पत्नी की तरह, एक-दूसरे के लिए समर्पित-आहुत हो जाते हैं। बेटे के प्रसंग में या सिलिया के प्रसंग में वे, थोड़े प्रगतिशील होने, रिश्तों को लचीला बनाने से मिलने वाली निजता तक पहुँचने की समानताओं के पक्ष में खड़े होने के दुष्परिणाम भुगतते हैं। पूँजी के अभाव के चलते वे न अपने लायक रहते हैं और न तब्दीली के पक्ष में खड़े हो संघर्ष करने लायक अन्ततः ब्राह्मणवादी या सामन्तीय व्यवस्था की जकड़बन्दी के पर्याय की तरह प्रकट हुए ‘गोदान’ में सब जमा-पूँजी गलाकर, अपनी तबाही के लायक साक्षी होते हैं। तो ये दो दिशाएँ हैं। पूँजी के मामले में थोड़ी सुविधा है तो भी आधा-अधूरा विकल्प या आत्मशोधन (निजता की आजादी) है और निम्न या निम्नमध्य वर्ग के पास वह सुविधा नहीं है, तो भी परम्परा-मर्यादा के हाथों लुटना और तबाह होना तय है।

भारत में आधुनिकता और पूँजी का चलन, जिस तरह से औपनिवेशिक व परजीवी तरीका का रहा है, उससे एक ऐसे ही मध्यवर्ग का विकास हो सकता थाजिसका एक पैर परम्परा में और दूसरा नये विकास के आधे-अधूरे एजेंडों में था तो, उस वर्ग की रचनात्मक अभिव्यक्ति करने वाला उपन्यास भी तो, अलग तरह का ही हो सकता थाजिसे पश्चिम में प्रकट हुए उपन्यास से अलहदा मानकर और अलहदा कसौटियाँ बनाकर ही समझना और मूल्यांकित करना जरूरी लगता है।

अब जैसा, श्रीलाल शुक्ल के ‘राग दरबारी’ को देखें वहाँ एक गाँव है। आजाद भारत में पूँजी के विकास के एक खास स्तर से, यहाँ आधुनिकीकरण का आधार बन रहा हैसार्वजनिक क्षेत्र, सरकारी स्कूल और कॉलेज हैं, अस्पताल है, सहकारी संस्थाएँ हैं, पर सामान्यजन तक पूँजी में हिस्सेदारी का बहुत सीमित संसार ही मुमकिन हो पा रहा है। स्थानीय सियासत के चौतरफा जाल में ये तमाम सार्वजनिक संस्थाएँ भी फँसकर रह गयी हैं। इनका सारा लाभ, जाल फैलाने वालों को मिल रहा है। आप लोग इस बात के साक्षी भर होकर रह जाते हैं कि जो लाभ दरअसल उन्हें मिलना चाहिए था, उसका बहुत बड़ा भाग सियासत के दौंवपेचों की बलि चढ़ रहा है। सियासत, उन लोगों के हाथों का खिलौना है, जिनके पास पहले से ही बहुत कुछ है। ये लोग वो ही हैं, जो जी जान से, अपने पुश्तैनी सामन्तीय वर्चस्व को, किसी भी कीमत पर नष्ट होने देना नहीं चाहते हैं उन्हें पता है कि अब वे सत्ता के प्रतिनिधि नहीं हैं।

व्यवस्था के सामन्तीय स्रोत अब बचे नहीं रह गये हैं, पर वे अपनी सियासत से, इस नयी व्यवस्था व यथासम्भव सामन्तीकरण किये रखने में कामयाब दिखायी देते हैं। यहाँ जो बात इस सार्वजनिक यथार्थ की असल जमीन की तरह रेखांकित करने लायक है वह यह है कि यह नव-सामन्तीयकरण दरअसल अगर मुमकिन होता है तो एक खास तरह के, परिवारवाद के रूप में ही होता और फिर स्थापित-काबिज होता हैचन्द परिवार, सियासत की मदद से प्रजातान्त्रिक तौर तरीकों का पाखंड रचकर, सार्वजनिक पूँजी को बड़े पैमाने पर, निजी पूँजी में बदलते जाते हैं, इस तरह हम अब यह देख सकते हैं कि भारत में, 'निजता' के विकास के लिए जो जमीन और उसमें थोड़ी सी जगह बनती-निकलती है वह नव-वर्चस्वी लोगों के द्वारा सार्वजनिक पूँजी में सेंध लगा कर वहाँ से चुराये हुए रूप में, उन्हीं परिवारों के हाथ लगती है जो सामन्तीय संरचनाओं को आधुनिक व्यवस्था का सार बनाये रखने का हेतु है। भारत में इस परिवारवादी प्रान्तीयता को, सियासत के स्थानीय गढ़ या दुर्ग ही महफूज नहीं रखते, सार्वजनिक या सरकारी तन्त्र में काबिज होने वाले अफसरों-बाबुओं का परिवारवादी नेटवर्क भी वर्चस्व रखता है जिसे हम भ्रष्टाचार कहते हैं, वह इसी परिवारवादी वर्चस्व के चलते, एक स्वीकृत व्यवहार-व्यवस्था में बहल चुका है। ये परिवार, एक नेटवर्क की तरह काम करते हैं और अपने परिवार व बिरादरी के लोगों के भ्रष्ट आचरणों के बुरे नतीजों से उन्हें बनाते रहते हैं। इससे होता यह है कि जब इस तरह की भ्रष्ट या चुराई हुई निजताएँ, हमारी जीवन-शैली बनती है, तो वे हमें जीवन के गहरे अर्थबोध तक या आत्मचेतना तक नहीं ले जाती इसके उलट वे हमारे व्यंग्य का हेतु हो जाती हैं। यह बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण और विडम्बनामूलक स्थिति है, क्योंकि यह जीवन को जीना नहीं, जीने की सहूलियत के नाम पर खुदकुशी भर है हमारे हाथ सिवाय, इस व्यंग्य के, या इससे उपजी आत्मकरुणा के और कुछ नहीं लगता।

परन्तु, इसीलिए, हमारे उपन्यास, हमारा बहुत दूर तक साथ नहीं देते। हमें 'खुद' को पाने के लिए, अपनी ऐसी चुरायी हुई निजताओं पर भरोसा करना छोड़कर पीछे 'अस्मिताओं' पर छलॉग लगानी पड़ती है; और उनके साथ-साथ यह भी घटित होता है कि हम अचानक खुद को, उपन्यास जैसे आख्यानों के अगले चरण में यानी आत्मकथाओं के रुबरु खड़ा पाते हैं।

भारत में या हमारे विवेच्य हिन्दी के उपन्यास में निजता का वह रूप नहीं है, जो पश्चिम और उसके उपन्यास की खासियत ही नहीं, उसकी आत्मा भी है। वहाँ अपने पैरों पर खड़े होने लायक हालात ने, एक बड़े मध्यवर्ग को, अपने काम का क्षेत्र खुद चुनने की ओर हो सकें तो उसमें रचनात्मक या सृजनशील हो सकने की थोड़ी आजादी जरूर दी है। इसीलिए अस्तित्ववादियों को लगा था कि पश्चिमी समाज, चुनाव खुद कर पाने की वजह से, अस्तित्व या निजता के मामले में खुद जिम्मेदार होने का अभिशाप भुगतता है। यह आजादी मिलती है तो जिसे भी वह 'निज' की तरह खोजता-पाता है, वह उसकी 'अपनी' उपलब्धि जैसा हो जाता है। हमारे यहाँ हालात इतने ज्यादा हावी रहते हैं कि इस निज को जैसा ऊपर कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करने की कोशिश की गयी 'चुराना' पड़ता है। इसलिए हमारे यहाँ, खोज और उपलब्धि इस हद तक नहीं पहुँच पाती कि हम कह सकें कि हमने खुद अपने बूते, 'खुद' को या 'निज' को उपलब्ध किया है। हमारा 'निज', हमारे हालात में, हमारे परिवार या बिरादरी से, या सार्वजनिक क्षेत्र से, उलझा रहता है।

इसलिए हमारे उपन्यास हमें आत्मोपलब्धि तक न ले जाकर आत्म-व्यंग्य या आत्म-करुणा के भावों में धकेलकर ही अपनी परिणति को 'पा लिया' समझकर, एक तरह के 'स्थगित अन्त'

में टंगे हुए से नजर आते रहते हैं। और जहाँ ऐसे अन्त तक वाकई पहुँचाने की कोशिश की जाती हैजैसे निर्मल वर्मा के 'अन्तिम अरण्य' में वहाँ वर्तमान, सांस्कृतिक अतीत की भविष्य में खुलती सम्भावनाओं जैसा हो जाता है, उसकी 'सामाजिक यथार्थ' में जड़ें कहाँ हैंउसे लेकर अनिश्चय बना रह जाता है और हमारे हाथ लगता है, एक चेतना परिदृश्य; जो 'भारतीय' लगता है, परन्तु जिसकी जमीन 'समय' में, या 'चेतना' में तो जरूर होती है, पर जो 'स्थान' या 'भूगोल' में, ठोस रूप में पकड़ में आने से रह जाता है। हमारे इसी तरह के दूसरे बड़े उपन्यास भी इसी तरह के लगते हैंजैसे, हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' या 'अनामदास का पोथा' और या फिर अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' या 'नदी के द्वीप' या 'अपने-अपने अजनबी' एक जयशंकर प्रसाद जरूर हैं, जो इस मामले में थोड़े अपवाद लगते हैं। उनका 'कंकाल', सांस्कृतिक यथार्थ और उसके अन्तर्विरोधों से सीधे, सीधे जूझते-टकराते हुए भी, अपनी जमीनी चेतना के 'समय' के 'भूगोल' में भी उतर कर जड़ें जमाता नजर आ सकता है; परन्तु ऐसा करने के लिए उसे वनवासी कबीलों तक जाना पड़ता है। नये प्रकट हो रहे आधुनिक और औपनिवेशिक शहरीकरण में, यह सांस्कृतिक चेतना, अन्तर्विरोधग्रस्त चेतना जैसी मालूम पड़ती है और आत्मघाती होकर अपना 'कंकाल' पीछे छोड़ जाती है। पुनः इस उपन्यास की परिणति के लिए भी हमें 'व्यंग्य' की भूमि पर आना पड़ता है। व्यंग्य जो हमारे सांस्कृतिक परिदृश्य के अन्तर्विरोधों को ही खुरचता-छीलता नहीं है, अपितु औपनिवेशिक आधुनिकीकरण की भी बेरहमी से खबर लेता है।

तो इस तरह हमारे यहाँ मध्यवर्गीय निज की रचनात्मक अभिव्यक्ति करने वाली विधा उपन्यास, एक परिणति विहीन वृत्तान्त बनकर रह जाती है, परन्तु इसीलिए 'निज' के बिखराव में उपजने वाली अस्मिताओं का उभार, हमारे यहाँ आत्मकथा के विकास की कुछ काबिले-गौर सम्भावनाओं को जरूर उजागर करने लगता है। पहले, इस परिघटना के सामाजिक यथार्थ का विश्लेषण करते हैं।

'निज' का विकास एक वर्ग-आधारित चीज हैइसीलिए, उसका विचारधाराओं के साथ गहरा रिश्ता है तो, इस परिदृश्य में, मध्यवर्गीय निज को। जहाँ भी पनपने-विकसने का मौका मिला है, उसे इसके लिए विविध विचारधाराओं से उपजी प्रजातान्त्रिक या समाजवादी व्यवस्थाओं से मदद मिली है, परन्तु जैसे ही विचारधाराओं का सैद्धान्तिक 'निश्चयवाद' बिखरना शुरू होता है, उनके भीतर से 'विमर्श' प्रकट होने लगते हैं, ये विमर्श, वर्गों के बहुस्तरीय विखंडन और नये रूपों-समीकरणों में 'पुनर्गठन' की उपज है, यही पुनर्गठन, अस्मिताओं का और उनके उभार का, वैचारिक या सांस्कृतिक सार है वर्ग, पूरी धरती के मानव समाजों की समझ का आधार थे, परन्तु अस्मिताएँ, स्थानीय भूगोल से उपजती और काम चलाती हैं; परन्तु उनका 'नेटवर्क' उन्हें जरूर एक वैश्विक संरचना बनाता है। अब भारतीय परिदृश्य में इस नये यथार्थ का जो 'खास' रूप प्रकट हो रहा है। उसे समझने की कोशिश करते हैं।

भारत में नयी अस्मिताओं का उभार व उनके विमर्श, 'वैश्विक नेटवर्किंग' वाले आधार को मुकाबले, 'स्थानीय विशेषताओं' से अर्थपूर्ण होने का रास्ता ज्यादा पकड़ रहे हैंपश्चिम, इस नये परिदृश्य का इस्तेमाल अपने 'ग्लोबल' एजेंडे' के तहत कर रहा है इसके लिए उसे जमीन मिल रही हैबहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ तथा स्वयंसेवी संस्थाओं (एन.जी.ओ-स) से जैसे औपनिवेशिक-नवौपनिवेशिक समयों में हुआ था, वैसे ही कुछ इस नये 'औपनिवेशिकता-निरस्तन' (डी-कॉलोनियलाइजेशन) कहे जा रहे समय में भी हो रहा हैकि हमें 'बाहर' के स्रोतों की ओर ही परजीवी की तरह देखना पड़ रहा है। पर इतना फर्क जरूर पड़ा है कि हमारी 'स्थानीयता'

के निरस्त होने के हालात अब निष्प्रभावी होने लगे हैं। एक उदाहरण लें जैसे भूमि-अधिग्रहण के मामले में प्रतिरोध की ताकतें मजबूत हुई हैं। पहले चिपको-आन्दोलन या नर्मदा-बाँध को लेकर उठे प्रतिरोध के स्वर इसी दिशा को खोलने की भूमिका की तरह यहाँ दिखायी देते रहे हैं। परन्तु संगठित रूप में अस्मिताएँ हमारे यहाँ दलित व स्त्री की जमीन पर खड़ी ही ज्यादा नजर आयी हैं, यों, इधर बहुत-सी 'बिरादरियाँ' भी समान्तर रूप में सक्रिय हुई हैं। तथापि हमारे यहाँ, इस सन्दर्भ में जो विमर्श प्रकट हुआ है। वह सामाजिक यथार्थ में व्यवस्थागत तब्दीली के लिए जरूरी विकास के वैकल्पिक मॉडल खोजने और उनके लिए जद्दोजहद करने वाला दिखायी नहीं दे रहा है इसकी बजाय वह वही पुराना आजमाया हुआ रास्ता ही फिर से पकड़ रहा है। वह है सांस्कृतिक प्रतिक्षा को चुनौती देने का इसकी वजह यह है कि हमारे यहाँ सांस्कृतिक अथवा धार्मिक रूप में जिन लोगों या वर्गों का वर्चस्व है, वे किसी-न-किसी रूप में सामाजिक धरातल पर भी अपनी पकड़ मजबूत किये बैठे नजर आते हैं। इसलिए दलित विमर्श के निशाने पर ब्राह्मणवाद और नवब्राह्मणवाद सबसे ऊपर होता है और स्त्री-विमर्श, पितृसत्ता को स्थापित करने वाली सांस्कृतिक चेतना से जिरह करता है क्योंकि उसे हराये बिना स्त्री की अस्मिता की खोज, व्यावहारिक यथार्थ की शक्ति नहीं ले पाती।

इस तरह हमारे यहाँ दलित और स्त्री की अस्मिता की जो 'स्थानीय जमीन' है, वह विकास के नये वैकल्पिक मॉडल उभारती हुई वैश्विक चुनौतियों के बरअक्स खुद को गढ़ती दिखाई नहीं देती अपितु, दूसरी तरफ वह ज्यादा गहरे सवालियों में, इतिहास और संस्कृति में दूर तक जाती है और इसकी मदद से वह 'वैश्विक चेतना' के क्षेत्र में प्रवेश करती है, तथा इस अर्थ में 'समकालीन हो जाती है।

तो यह हमारे यहाँ का 'अपना' अस्मितामूलक परिदृश्य है, वह समाजार्थिक सवालियों को 'दैहिक' सवालियों में बदल देता है। दलित या स्त्री की अस्मिता की असल जमीन हो जाते हैं देह के तल पर भोगे-भुगते गये अनुभव-वृत्त देह का दोहन-शोषण, उसकी वंचना, अभाव-ममता, पीड़ाएँ, अतृप्तियाँ, दारुण वीभत्सता आदि बेशुमार अनुभव यों अचानक समाजवृत्त की शक्ति लेकर प्रकट हो जाते हैं जैसे कि उनका इस रूप में होना-घटना ही अपने-आप में पर्याप्त हो। इन दैहिक अनुभवों के होना-घटना, जैसे पूरे समाज की व्यवस्थागत प्रवंचनाओं और बिडम्बनाओं का भेद खोलने वाली वस्तु हो, और इतना ही नहीं; जैसे कि वह ऐतिहासिक-सांस्कृतिक तल पर भी अब तक के सुदूर काल-विस्तार के षड्यन्त्रों का पर्दाफाश करने वाला हो।

तो, अस्मिताओं के ऐसे देह-केन्द्रित आख्यान, हमारे यहाँ आत्मकथाओं की शक्ति में सामने आ रहे हैं। ऐसी आत्मकथाएँ, उपन्यास के विकासक्रम में प्रकट हुआ अगला चरण है यह कहना कठिन है, परन्तु रचनात्मक अभिव्यक्ति के नये रूप की तरह इसकी सम्भावनाएँ भी कम नहीं। जैसे पूरी मानवजाति के हमसे सम्बद्ध हो सकने के तीन ही तरीके हैं। कोई भी व्यक्ति हमारे लिए, या 'वह' हो सकता है, या 'तुम' या 'मैं' चरिताख्यान 'वह' या अन्यपुरुष को सम्बोधित लगते हैं। वहाँ नायक से उतनी ही दूरी है, जितनी हमारी 'वह लोग' से हो सकती है। 'तुम' मध्यम पुरुष में बराबरी है। वह मित्रों के बीच या भाई-बहनों या पति-पत्नी के बीच की सम्बोधन शैली है। 'तुम' सम्बोधन, प्रजातान्त्रिक है, 'वह' साम्राज्यशाही का पर्याय है, परन्तु सफर की मंजिल तो हमारे खुद तक आने पर ही तय होती है तो बात, पहले 'निज' तक आयी, फिर अब 'अस्मिता' तक आ रही है, लेकिन यही मंजिल नहीं है। क्योंकि बात को, दरअसल आखिरकार 'आत्म' तक आना होगा।

बहुराष्ट्रीय बातार-तन्त्र में वैश्विकता को स्थानीयताओं के नेटवर्क की तरह खोजा-पाया

है। इससे समाजों के उच्च-मध्य-निम्न वर्गों में विभाजित होने की सैद्धान्तिकी ढीली पड़ी है वजह यह है कि स्थानीय अर्थतन्त्र में जनसमूहों की सहूलियत, वहाँ के अपने भूगोल की या इतिहास की जरूरतों से निकली है। तो विविध वर्गों की आपसदारियों का जटिल ढाँचा बनता है। लोग स्थानीय इतिहास व संस्कृति से आती हुई पहचान की चेतना के साथ, समकालीन हालत के सब होते हैं इससे इतिहास व संस्कृति के अनेक तत्त्व, वर्गीय गठन के भीतर से, नये समीकरण बनाते हुए सक्रिय बने रहते हैं। बेशक, मोटे तौर पर, सामाजिक विकास की कसौटी, हाशिये के लोगों व निम्नवर्गों के हितों की पूर्ति से ही निर्धारित होती है। परन्तु उसे ठोस रूप में हासिल करने के लिए विविध जनसमूहों की अस्मिताएँ जब उभरती हैं, तो वे अपने साथ, एक खास 'दृष्टिकोण' वाले परम्परा के पुनर्पाठ व पुनर्सृजन तक भी पहुँचती हैं। तो, विचारधारा की जगह अस्मितामूलक विमर्शगत पुनर्पाठ, ज्यादा व्यावहारिक व जमीनी हो जाते हैं।

अस्मितामूलक विमर्शों का स्थानीय तौर पर ज्यादा प्रभावी होना, उन्हें उनकी 'निजता' की अब तक अर्जित की गयी दुनिया को भी ज्यादा ठोस बनाता है। परन्तु हमारे यहाँ के दलित या स्त्री-विमर्श की अस्मिताओं की ठोस जमीन, अपने पैरों पर खड़े अर्थतन्त्र की बजाय, देह में केन्द्रित है। स्त्री की परिवार या दफ्तर या श्रम सम्बन्धी उपलब्धियाँ उसे हमारे सामाजिक हालात में उतना मुक्त नहीं करतीं, जितनी उसकी दैहिक जमीन पर प्रकट होने वाली अनुभवों की नयी सम्भावनाएँ। ऐसा ही दलित-विमर्श की बावत भी कहा जा सकता है। तो इससे उपजने वाली आत्मकथाएँ भी देहाख्यान की शक्ति लेने लगती हैं। वह अभी, सही दिशा में उठ रहा, आधा-अधूरा कदम है, पर है सम्भावनापूर्ण।

निजता से, बरास्ते अस्मिता, जाना तो आत्म में है। आत्म पूरे समाज, पूरी मानव जाति की चेतना का सार है जो सामूहिक और निजी के बीच के फर्क के मिट जाने से हासिल होता है। परन्तु उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति किस रूप में होगी। कहना कठिन है। पर चूँकि वहाँ निजी और सामूहिक के बीच का फर्क गिर जाएगा, इसलिए यह तो कहा ही जा सकता है कि भविष्य का आख्यान मिथक और उपन्यास के बीच का, या चरित्राख्यान और आत्मकथा के बीच का फर्क मिटाता हुआ सामने आयेगा।

(संवेद-60 से)

## उपन्यास में स्त्रियाँ और स्त्रियों का उपन्यास

रोहिणी अग्रवाल

पिछले बीस वर्ष के हिन्दी उपन्यास और आलोचना परिदृश्य पर नजर दौड़ाएँ तो दो बातें अनायास दृष्टिगत होती हैं। एक, अपने ठोस रचनात्मक योगदान के कारण उपन्यास विधा को एक नयी ऊँचाई देकर स्त्री रचनाकारों का उपन्यास के केन्द्र में स्थित होना और दूसरे, साहित्य-मंडी में सर्वाधिक बिकने वाले उत्पाद के रूप में स्त्री-विमर्श पर जोरदार खण्डन-मण्डनात्मक बहसों का आयोजन। विडंबना यह रही कि चिल्ल-पों से भरे इस माहौल में स्त्री लेखन के सरोकारों का विधिवत मूल्यांकन करने की अपेक्षा सारी बहसों को इस बिन्दु के इर्दगिर्द समेट लिया गया कि सृजन के दौरान लेखक अपनी विशिष्ट धर्म, जाति, वर्ग, लिंगगत पहचान से परे मात्रा म्रष्टा है जो अन्तर्दृष्टि के सहारे समय को बुनने वाली सूक्ष्म सुगबुगाहटों को एक चुनौती और चेतावनी का रूप देकर मूर्त करता है। लेकिन यह सामान्यीकरण क्या अपने तर्ई इस बड़े सवाल को जानबूझ कर अनुत्तरित नहीं छोड़ता कि अपने व्यक्तित्व को प्रतिफलित करते हुए जिस अन्तर्दृष्टि के साथ लेखक रचनाशील है, वह लिंग-धर्म, वर्ग-वर्ण के अनुशासनों और दबावों के भीतर ही आकार ग्रहण करती है? भय, स्वप्न या राग की बात करते हुए स्त्री-पुरुष, अमीर-गरीब, सवर्ण-दलित के कोण एक ही बिन्दु से उठ कर अनायास इतनी तेजी से दूर होते चलते हैं कि अक्सर एक ही घर, एक ही समाज और एक ही समय में साथ रहने वाले भी अजनबी दीखने लगते हैं। इसलिए स्त्री एवं दलित रचनाकारों द्वारा रचा गया साहित्य अब तक के सुपरिभाषित साहित्य को कठघरे में खींच लाता है और जान लेना चाहता है कि स्त्रियों और दलितों की उपस्थिति में क्या वह अपनी उसी गर्वोन्नत मुद्रा में अखण्ड-अभंग साबुत 'मनुष्य' की गरिमा की रक्षा का दावा दोहरा सकता है? चूँकि साहित्य का सवर्ण-पुरुष चरित्र उसके रचयिता के अपने चरित्र का प्रतिबिम्ब है, अतः क्या अब जरूरी नहीं कि उस एकांगी-खण्डित अभिव्यक्ति को 'सम्पूर्ण' करने के लिए हाशिए पर धकेल दिए गए अंगों-उपांगों को भी अपना दाय निभाने दिया जाए? न, अनुमति या स्वीकृति देने का औदार्य नहीं, अपनी परम्परापोषित

धृष्टता पर क्षमाप्रार्थी होते हुए स्वयं पीछे खिसक कर दमित स्वयं को धीरज और संयम के साथ सुनने की परिपक्वता विकसित करनी होगी। लेकिन खाप पंचायतों के फतवों या दिल्ली एवं देश के कोने-कोने से आने वाली गैंगरेप की खबरों, घरेलू हिंसा के बढ़ते आंकड़ों या दहेज के साथ-साथ करवा चौथ-रक्षा बंधन जैसे त्योहारों के प्रति बढ़ती ललक से ऐसा तो नहीं लगता कि स्त्रियों के प्रति किसी भी तरह की संवेदनशीलता विकसित करने का संस्कार और आत्मानुशासन अर्जित कर पाए हैं हम? झंपती मुद्रा में आक्रामक भाव से दिये गये ये तर्क कि स्त्रियों को रात के समय घर के भीतर रहना चाहिए या कि हमारे विरोध के बावजूद स्त्रियाँ इन त्योहारों को चाव से मनाती हैं, क्या एक बार फिर स्त्रियों के साथ संवादहीन-संवेदनहीन सम्बन्ध की सृष्टि नहीं करते? बेशक उपन्यास क्षेत्र में स्त्री रचनाकारों के पदार्पण से भाग्यवती, धनिया, सुनीता, चित्रलेखा या निउनिया की आदर्श स्त्री की पुरुष-सर्जित रूढ़ छवियाँ छिन्न-भिन्न हुई हैं। पिंजरे के भीतर जरा सा फुदक कर अनंत व्योम के गीत गाती धनिया की परतंत्रता को वे महसूसने लगी हैं। इसलिए होरी की नजर से धनिया को देखने की बजाय धनिया को अपनी नजर से देखने की चेतना, आत्मविश्वास और निमन्त्रण देती हैं तो वह शाल्मली की तरह स्त्री की लाचारगी के शोकगीत में ढल जाती है; होरी पर शासन करती धनिया का मिथ रच कर समूची स्त्री जाति को ठग लेने की शाइस्तगी में ठहाके नहीं लगाती। बाणभट्ट के चश्मे को दूर फेंक जब निउनिया 'अपनी' नजर से अपने को बाँचने लगती है तो कामनाओं का गला घोट कर ओस की तरह घुलने को तैयार नहीं होती, मरजानी मित्रो बन कर एक नई टंकार के साथ दूसरी आधी दुनिया को स्त्री-हसरतों से परिचित कराने लगती है। दिव्या और चित्रलेखा की तरह यहाँ से वहाँ दौड़ कर अपने को प्रमाणित करने या दूसरों की कसौटियों पर कसे जाने के लिए स्वयं को प्रस्तुत नहीं करती, रत्ती (सूरजमुखी अँधेरे के), शकुन (आपका बंटी) और मनु (चितकोबरा) की तरह अपनी राहें आप बनाने लगती है।

मैं चकित हूँ कि स्त्री विमर्श जैसी किसी भी अवधारणा का विरोध कर स्वयं को 'स्त्री' नहीं, लेखक के रूप में चीन्हे जाने का आग्रह करती दो लेखिकाओं-कृष्णा सोबती और मृदुला गर्ग-में स्त्री-प्रश्नों से जूझने की जितनी उत्कट पक्षधरता है और रूढ़ छवियों के शिकंजे से मुक्त कर स्त्री को मनुष्य रूप में प्रतिष्ठित करने की जितनी व्यग्रता है, वही अपने मूलभूत रूप में स्त्री विमर्श की सैद्धांतिकी को गढ़ती है। तब विमर्शवादी चिंतन से परहेज क्यों? और क्यों 'स्त्री' पहचान से लेखक-बिरादरी को 'बाँट' दिए जाने का भय? मुझे यह स्वीकारने में कोई संकोच नहीं कि नब्बे के दशक का हिन्दी उपन्यास कृष्णा सोबती और मृदुला गर्ग की दो कृतियों 'दिलोदानिश' और 'कठगुलाब' के साथ द्वन्द्वग्रस्तता से मुक्त कर स्त्री अस्मिता को एक भास्वरता प्रदान करता है। शकुन से शाल्मली तक की यात्रा में महादेवी वर्मा की भंगिमा में स्त्री की स्थिति पर मुक्तिकामी सिद्धान्त-कथन के बरक्स एक निष्क्रिय द्वन्द्वग्रस्तता का चित्रण खूब हुआ है जहाँ पिंजरे में बंद 'मैनाओं' की पहचानलुप्त लम्बी कतार को देखा जा सकता है। 'दिलोदानिश' की विशेषता है कि पहली बार यह रचना अज्ञात हिन्दू महिला के प्रखर और निर्भीक तेवरों के साथ पूरी समाज व्यवस्था से टकराती दीखती है। व्यवस्था के पाखण्डों को उधेड़ने तक सीमित नहीं बल्कि खोए हुए सम्मान और अधिकारों को पाने के लिए आत्मविश्वास के साथ रणनीति बनाती व्यावहारिकता। महकबानो (वेश्या) हो या छुन्ना बुआ (विधवा)-दोनों घर-परिवार से अपदस्थ कर दी गयीं स्त्रियाँ हैं जिन्हें दूसरों को रिझा-लुभा कर अपना पेट पालना है। तो क्या स्त्री रेंगता हुआ कीड़ा बन कर अपनी भरी-पूरी शख्सियत को नष्ट हो जाने दे, सिर्फ इसलिए कि लक्ष्मण रेखाएँ उसकी 'शालीनता' का परिचय बुनती हैं? यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है कि भाषिक संयम और कलात्मक उत्कर्ष के साथ बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जन्म लेती स्त्री चेतना को क्रमशः उद्घाटित करता है (जो अनायास



सादृश्यता के कारण शिवरानी देवी और सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियों में उभरती स्त्री छवि का स्मरण कराती चलती है) और इक्कीसवीं सदी की देहरी पर खड़ी द्वन्द्वग्रस्त स्त्री की चेतना पर छाए कुहासे को एक तीखी फटकार के साथ चीरने का प्रयास करता है। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है यह सवाल कि कृष्णा सोबती की सारी रचनाओं में से यही उपन्यास सबसे कम चर्चित क्यों रहा? क्या इसलिए कि पूर्ववर्ती उपन्यासों से अलग यहाँ कृष्णा सोबती अपने भीतर के रचयिता को एक नयी पहचान दे रही थीं जो पुरुष से विद्वेष न रखने की विशिष्टता के बावजूद अपने को स्थापित करने की व्यग्रता में पुरुष के समक्ष प्रतिद्वन्द्वी रूप में खड़ी 'आधुनिका' स्त्री को रचने लगी है? महकवानो द्वारा पुरुष/स्वामी (कृपानारायण) के रूप में दी गयी नियति को अस्वीकार करना या छुन्ना द्वारा प्रेमविवाह और नौकरी करना-एक ऐसी स्वतंत्र निर्णय सम्पन्न स्त्री की छवि गढ़ते हैं जो प्रत्यक्षतया पुरुष/परिवार के चंगुल से मुक्त होती दीखती है, लेकिन असल में पुरुष/परिवार के निरंकुश चरित्र को बनाने वाली पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विश्लेषण करने की औचित्यपूर्ण जिद बन जाती है। मृदुला गर्ग के उपन्यास 'कठगुलाब' में इसी परम्परा का विकास हुआ है। वहाँ रिश्तों की जमीन से बेदखल कई-कई स्त्रियाँ हैं-स्मिता, मारियान, दर्जिन बीबी, नर्मदा। पति, प्रेमी, निकट सम्बन्धी द्वारा दिए गए भावनात्मक आघात जितने गहरे हैं, उतनी ही गहरी है उनकी जिजीविषा; जिन्दगी को रचने का आग्रह। इसलिए अकारण नहीं कि स्मिता की विशिष्टता-आत्ममुग्धता और अपराध बोध से मुक्ति-मृदुला गर्ग की इन चारों स्त्री पात्रों की निजी विशिष्टता बन जाती है। जिन्दगी से दो-दो हाथ करके मजबूती से उठ खड़ा होना और एक दूसरे का हाथ थाम कर भगिनीवाद विस्तार के सहारे एक सर्जनात्मक स्त्री-लोक की रचना करना इन स्त्रियों का ध्येय है। उल्लेखनीय है कि मृदुला गर्ग गोधड़ के बंजर प्रदेश को हरियाने के उपक्रम में जिस स्त्री लोक की रचना करती हैं, वह न फैंटेसी है, न परी लोक की तरह पुरुषों के लिए नो एंट्री जोन। 'स्त्री-लोक' एक ऐसी अवधारणा के रूप में उपन्यास में चित्रित हुआ है जहाँ परम्परा द्वारा निर्धारित स्त्री-मूल्य-त्याग, दया सहिष्णुता, संयम, क्षमा, सेवा, संवेदनशीलता और सृजनशीलता-तथा इन मूल्यों के साथ जीता स्त्री-मानस (भले ही उसकी लैंगिक पहचान नर अथवा मादा के रूप में कुछ भी क्यों न हो) बसने का अधिकारी है। यही वजह है कि इको फेमिनिज्म की अवधारणा पर रचे गये इस उपन्यास में मृदुला गर्ग अर्धनारीश्वर की अवधारण को भी स्पष्ट करती हैं और 'मादा' देह धारण करने के कारण स्त्री को सराहने तथा 'नर' देह धारण करने के कारण पुरुष को हरियाने के परम्परागत पूर्वग्रह से बच निकलती हैं। वरजीनिया, नमिता, नीरजा और गंगा जैसे पुरुष मानसिकता वाले स्त्री पात्रों के प्रति उनकी नापसन्दगी जितनी स्पष्ट और मुखर है, उतनी ही स्त्री मानसिकता वाले पुरुष पात्र विपिन के प्रति वे आश्वस्त हैं जिसे 'अर्धनारीश्वर' का रूप देकर वे स्त्रियों द्वारा काम्य पुरुष छवि की विशद प्रस्तावना भी प्रस्तुत कर सकी हैं। दरअसल यह उपन्यास स्त्री-संघर्ष की कथा ही नहीं कहता, एक वैकल्पिक समाज व्यवस्था को परिकल्पित करने की आवश्यकता पर भी बल देता है। तमाम संवेदनशीलता और कल्पनाशीलता से हीन सिर्फ तकनीक और जरूरतों के सहारे जिन्दगी जीने वाली नीरजा को यंत्र-मानवी में विघटित करके और पुरुषों को 'हरामी' का खिताब देकर उन्हें कराटे किक के सहारे धूल चटाने वाली असीमा में क्षमा और औदार्य का प्रसार करके लेखिका पाठक से अपनी अन्तःशक्तियों को चीन्हने और संयोजित करने का आग्रह करती हैं क्योंकि उनके तई 'मनुष्य' होने का अर्थ है 'विवेकशील सृजनात्मक क्षमता'-"संयुक्त स्मृति के उन अंशों को जो प्रासंगिक नहीं रहे, हम अस्वीकार नहीं करेंगे तो जड़ हो जाएँगे। सोचने-विचारने, निर्णय लेने लायक नहीं रहेंगे।... यानी मनुष्य ही नहीं रहेंगे। मनुष्य बने रहने के लिए संयुक्त स्मृति को सम्पूर्ण नहीं, चयन करके ग्रहण करना होता है।" मृदुला गर्ग का इको फेमिनिज्म प्रकृति को स्त्री की शरणस्थली भी बनाता है और कर्मस्थली भी, लेकिन

पितृसत्तात्मक व्यवस्था के शिकंजे से मनुष्य की मुक्ति का प्रयास नहीं करता। शायद इसलिए कि वे मानती हैं स्त्री और प्रकृति की मुक्ति तब तक सम्भव नहीं जब तक अधिनायकवादी मानसिकता से मुक्त होकर स्वयं पुरुष अपने भीतर के 'मनुष्य' का साक्षात्कार न कर ले। विपिन और स्मिता दोनों को प्रकृतिरूपा यानी सत्य, संवेदनपूर्ण, समर्पित चित्रित करती हैं मृदुला गर्ग। इसलिए दोनों की मुट्टी में कठगुलाब के बीज हैं-बंजर को हरियाने का सामर्थ्य लेकिन दोनों उन बीजों को मुट्टी में दबाए अपने-अपने तई अकेले हैं, रिक्त और अपूर्ण। मृदुला गर्ग इस स्थिति को उपन्यास के केन्द्रीय सवाल के रूप में प्रस्तुत करती हैं कि सहचर सहमना न हो तो क्या एक की संवेदहीनता अनिवार्यतः दूसरे के भीतर जड़ता का प्रसार नहीं करेगी? इको फेमिनिज्म में प्रकृति और स्त्री को समरूपा मानकर उन्हें पुरुष/वर्चस्ववादी ताकतों के शोषण के खिलाफ खड़ा करने की मान्यता को नहीं स्वीकारतीं मृदुला गर्ग। वे स्वीकारती हैं कि प्रकृति बेशक अन्याय का प्रतिकार करने हेतु पूरे समाज और समय से टक्कर ले, स्त्री अपने घावों के साथ-साथ प्रकृति के घावों को सहलाने का बीड़ा भी स्वयं उठाती है। यह मिल-बाँट कर अपने दर्द को कम करने लेने का नुस्खा भी है और अपने ही सहचर या कोख से उत्पन्न सन्तान की ज्यादातियों का प्रायश्चित भी। लेकिन एक टीस भरी गहरी गूँज के साथ वे पाठकों और समय के लिए इस सवाल को अनुत्तरित छोड़ देती हैं कि स्त्री के घावों पर मरहम लगाने के लिए सहचर पुरुष का संवेदनात्मक हाथ कब आगे आएगा? स्त्री कभी बंजर नहीं रह सकती, लेकिन यदि उसकी कोख बंजर रह गयी तो इस नुकसान की क्षतिपूर्ति आखिर कौन करेगा?

पिछले बीस वर्ष के हिन्दी उपन्यास ने पहली बार मैत्रेयी पुष्पा के रूप में ग्रामीण स्त्री को वाणी दी है तो राजनीति में स्त्री की सक्रिय भागीदारी की पैरवी भी की है। हालाँकि स्त्री-विमर्श को देह-विमर्श का पर्याय साबित कर और देह विमर्श के साथ मैत्रेयी पुष्पा का नाम नथी कर हिन्दी आलोचना स्त्री-विमर्श की सकारात्मक व्यंजनाओं और मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में उभरती नयी स्त्री चेतना की ओर से आँख मून्दने का बौद्धिक अभियान चला रही है, लेकिन इतना तय है कि ग्रामीण समाज व्यवस्था और राजनीति में स्त्री जिस खामोश मजबूती के साथ अपने पाँव धीरे-धीरे जमा रही है, मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास उसे ही एक अतिरंजित मुखरता के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं। मैत्रेयी पुष्पा जिस स्त्री को अपना प्रवक्ता बनाती हैं, वह मध्यवर्गीय शहरी समाज की वर्जनाओं से नितांत अनभिज्ञ है। परम्परा उसे घेरे में बाँध लेना चाहती है, लेकिन लोककथाओं और लोकगीतों के जरिए दिनरात वह जिस लोक-परम्परा के सम्पर्क में रहती है, वह उसे निर्भीक और उन्मुक्त कर नैतिकता के दोहरे मानदण्डों से टक्कर लेना सिखाती है। यह खेतिहर स्त्री अपने श्रम के मूल्य को जानती है और अपनी देह में छुपी उस रति-गन्ध को भी जो पुरुषों को दीवाना कर उन्हें 'भोग' का माल बना देती है। शहरी समाज की इस विडम्बना को वह अपने समाज में नहीं आने देना चाहती, इसलिए अपनी देह के स्वामित्व का दायित्व किसी और को न सौंप कर वह स्वयं उसका 'उपयोग' करना चाहती है। मैत्रेयी पुष्पा स्त्री की इस शांतिर मनोवृत्ति को 'कुट्टनी धर्म' की संज्ञा देकर बेशक सतीत्व के विलोमस्वरूप 'स्त्री धर्म' के रूप में महिमामण्डित करने का प्रयास करती दीखती हैं, लेकिन हकीकत यह है कि व्यक्तिगत सुख-लाभ के लिए अपनी या दूसरों की मानवीय गरिमा की बोली लगाना बेहद गह्रित कार्य है। शीलो (झूला नट) द्वारा देह को हथियार बना कर देवर बालकिशन की आड़ में पति सुमेर को पटकनी देने की कोशिश के मूल में बेशक पुरुष/पति की ज्यादातियों, पारिवारिक सम्पत्ति में स्त्री के हिस्से को हड़पने, और बिछुवा पहना कर स्त्री को गाय-बकरी की तरह हाँक ले जाने वाली सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति बगावत है, लेकिन देह सम्बन्ध का मकड़-जाल बुन कर वह पाठक के हृदय में जुगुप्सा उत्पन्न करने से ज्यादा कुछ नहीं कर

पाती। प्रेम और शृंगार जैसी अति सूक्ष्म और अलौकिक अनुभूतियाँ जब रीतिकालीन साहित्य में माँसलता के तलछट में दम तोड़ने लगती हैं, और स्त्री विलासी वर्चस्वशाली वर्ग के सस्ते मनोरंजन के लिए उपलब्ध 'माल' बन जाती है, तब संवेदनशील मनुष्य द्वारा इस साहित्य और मनोवृत्ति का तिरस्कार किया जाना जरा भी अनुचित नहीं लगता। मुक्ति की लड़ाई पुरुष-सा बन कर चित्त-पट के खेल में रम जाने की शांति बिसात नहीं है, गरिमा के साथ अपनी अस्मिता को पुनः पाने की लड़ाई है जिसका लक्ष्य है प्राणिमात्र के हृदय में स्त्री के प्रति सम्मान एवं संवेदना का प्रसार। यह ठीक वही माँग है जो 'इदन्नमम' में मंदा अपने आचरण द्वारा करती रही है-यौन हिंसा जैसी पुरुष-ज्यादतियों के दंश को पोंछने के लिए दूने उत्साह से स्त्री के घावों पर मरहम लगाने का अभियान ताकि अपने दर्द को दवा बना कर 'समाज' को संवेदनशील बना सके; और फिर आत्ममन्थन की इस वैचारिक प्रक्रिया में समझ सके कि कोई भी लड़ाई अकेले अपने बूते नहीं लड़ी जा सकती। पूरी व्यवस्था से टकराने के लिए विचार को जन-आन्दोलन का रूप देना ही होगा। सदियों से जमे पूर्वग्रह के आइसबर्ग एक चिराग जलाने से पिघलाए नहीं जा सकते, उन्हें धीरज, संगठन और विवेकशील नेतृत्व के साथ इस जनान्दोलन को वक्त की जरूरत और पहचान बनाना होगा। मंदा अपने भीतर रत्ती के वैचारिक औदार्य को भी समेटे है जो बलात्कारियों की बर्बरता का शिकार होकर भी पुरुष से घृणा नहीं करता। मंदा मनुष्य को बर्बर बनाने वाली व्यवस्था से जूझने के लिए स्त्री के साथ-साथ पुरुष के सहयोग की भी आकांक्षिणी है। प्रेम की टीस कलेजे में छिपा कर वह एक ऐसे समाज की रचना करना चाहती है जहाँ अपनी-अपनी पूर्वपरिभाषित रुग्ण भूमिकाओं से मुक्त होकर स्त्री-पुरुष 'मनुष्य' के रूप में स्वयं को और एक-दूसरे को चीन्ह सकें। संयम और औदात्य के छोरों में बँधी मंदा के विजन को मैत्रेयी पुष्पा अधिक देर तक बनाए नहीं रख पातीं। सब कुछ जल्दी पाने की हड़बड़ी में संयम शॉर्टकट में और औदात्य संकुचित दृष्टि में ढल जाता है जिस कारण सारंग शीलो और अल्मा में विघटित होकर स्त्री सशक्तीकरण की मुहिम को एक सस्ता फूहड़ नारा बना देती है। 'आवाँ' (चित्रा मुद्गल) की नमिता और अन्य महत्वाकांक्षिणी स्त्रियों में भी देह की नाव के सहारे समन्दर पार करने की यही कुटिलता है, फर्क यह है कि नागर समाज की इन स्त्रियों को पाखण्ड के सहारे अपने मन्तव्यों को छुपा कर आभिजात्य की चादर ओढ़ना खूब आता है। फिर भी, इन सारे विचलनों के बावजूद मैत्रेयी पुष्पा के अवदान को यदि 'इदन्नमम' उपन्यास तक ही केन्द्रित करें तो राजनीति में स्त्री की भागीदारी की वकालत कर वे इस तथ्य को रेखांकित करती हैं कि नीति-निर्धारण ताकत पाए बिना स्त्री सशक्तीकरण और मानव-मुक्ति सम्भव नहीं। राजनीति में महिला आरक्षण विधेयक के विरोध में सभी राजनीतिक दलों का एकजुट होकर लामबन्द होना संवाद और सृजन की सम्भावनाओं को सिरे से नकारने की कोशिश ही तो है।

यहाँ मैं इस तथ्य की ओर भी संकेत करना चाहूँगी कि स्त्री को लेकर पुरुष की दृष्टि में कोई गुणात्मक परिवर्तन पुरुष रचनाकारों के उपन्यासों में नहीं दीखता। पिछले बीस वर्षों में जितने भी नये-पुराने प्रमुख रचनाकार प्रकाश में आये हैं (इस सूची में कमलेश्वर, दूधनाथ सिंह, संजीव, अमरकान्त, काशीनाथ सिंह, उदयप्रकाश, अब्दुल बिस्मिल्लाह, असगर वजाहत, सुरेन्द्र वर्मा, प्रियंवद, वीरेन्द्र जैन, मंजूर एहतेशाम, तेजिंदर, पंकज सुबीर आदि शामिल हैं) स्त्री के संघर्ष के मुद्दे को लेकर खामोश हैं। जीवन और मनुष्य की अस्मिता की रक्षा में आकाश-पाताल और भूत-भविष्य की यात्राएँ कर डालने वाले कमलेश्वर ('कितने पाकिस्तान') हों या बाबरी मस्जिद ध्वंस के बहाने साम्प्रदायिक समस्या को परत दर परत विश्लेषित करने वाले दूधनाथ सिंह ('आखिरी कलाम'); इतिहास के घोड़े पर बैठ कर मनुष्य के मन की आदिम गुफाओं में उतर जाने और वहाँ फैले दूधिया आलोक में साँस लेते सामंजस्यपूर्ण समाज के सपनों को चुरा कर लाने

वाले प्रियंवद ('छुट्टी के दिन का कोरस' तथा 'धर्मस्थल') हों या प्रकृति को जीत कर क्लोनिंग के सहारे एक नये निज्ञान-युग का सपना देखती आँखों में प्रकृति के साथ समन्वयात्मक सम्बन्ध बनाने की अपील करते संजीव ('रह गई दिशाएँ इसी पार')-स्त्री इन भारी भरकम उपन्यासों में मनुष्य के रूप में प्रायः नहीं है। कहीं है भी तो स्त्री विमर्श का मजाक उड़ाने की मुद्रा में जहाँ स्त्री मुक्ति की सारी कवायदें अन्ततः उच्छृंखल अनैतिक आचरण में रिड्यूस होकर पाठकीय अभिमत को स्त्री मुक्ति संघर्ष के विरुद्ध करने लगती हैं। ('मुझे चाँद चाहिए' तथा 'बाबल तेरा देस में') विनोदकुमार शुक्ल के उपन्यास 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में अर्धनारीश्वर की परिकल्पना करते हुए परस्पर समर्पित युगल को एक 'सम्पूर्ण मनुष्य इकाई' के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास अवश्य मिलता है, लेकिन इसे दुरुह या बेसिरपैर की रचना मान कर खारिज भी कर दिया गया है। मैं सोचने लगती हूँ ऐसा क्यों है कि स्त्रियों के उपन्यासों में सारी बहसें, आकांक्षाएँ और सृजनधर्मी स्वप्न स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की पुनर्व्याख्या के इर्दगिर्द केन्द्रित हैं और पुरुष रचित उपन्यासों में यह मुद्दा इतना मामूली और उपेक्षणीय बन जाता है कि बगल, घर और पड़ोस में रहती स्त्री के आर्तनाद को सुन कर थमक जाना उसे समय की बर्बादी जान पड़ता है? क्या यह एक ही देशकाल में रहने वाली आबादी के सामाजिक सरोकार हैं? क्या फिर भी दर्पपूर्वक कहा जा सकता है कि सृजन के दौरान लेखक सिर्फ 'लेखक' होता है, स्त्री या पुरुष नहीं? हालाँकि लेखिकाओं की नयी पीढ़ी भी उसी तोतारटन्त भाव में लेखक के जेण्डर न्यूट्रल होने के तथ्य को दोहराती हैं, लेकिन काबिले-गौर है कि छुपाने की हरचन्द कोशिश के बावजूद स्त्री का अन्तःलोक उनकी रचनाओं में झलक जाता है। मैं यहाँ सिर्फ दो लेखिकाओं का जिक्र करूँगी-मधु कांकरिया और मनीषा कुलश्रेष्ठ। 'चूहे को चूहा रहने दो' तथा 'चिड़िया ऐसे मरती है' जैसी कहानियों में स्त्री के प्रति विद्वेषपूर्ण दृष्टि को खुल कर स्पष्ट करने के बावजूद मधु कांकरिया जब तमाम सजगता और पूर्वग्रहों से मुक्त होकर लिखती हैं, तब नक्सलियों, वेश्यावृत्ति बनाए रखने वाली व्यवस्था, नशाखोरों या धर्म के मठाधीशों की बात करते-करते वे अनायास स्त्री की टीस को भी शब्द देने लगती हैं जो एक जोड़ी सहानुभूतिपूर्ण 'कान' पाकर अपना दिल हल्का कर लेना चाहती है। कोई राजदार होगा, तभी तो मददगार बनाने की अपील सम्भव होगी। हकीकत यह है कि मधु कांकरिया के उपन्यासों के वही स्थल हार्दिकता से ओतप्रोत हैं जहाँ वे तल्लीन भाव से स्त्री के भीतर प्रविष्ट होती हैं, अन्यथा शोध द्वारा एकत्रित किये गये आंकड़े और तथ्य एक अनगढ़ कलात्मकता और अधीर व्यग्रता के साथ उपन्यास को अखबार, समाजशास्त्र और इतिहास का कोलाज बनाने लगते हैं। इसके विपरीत मनीषा कुलश्रेष्ठ (शिगाफ) के पास कलात्मक संयम भी है और अपने मन्तव्यों को यथासमय छुपाने-उघाड़ने का नाटकीय कौशल भी। इसलिए शोध से हस्तगत की गयी जानकारियाँ उनके यहाँ 'परदेसी' की हैसियत से ताउम्र अजनबी नहीं रहतीं, कथा में घुलमिल कर चरित्र और वक्त को गढ़ने लगती हैं। मसलन वे यास्मीन की डायरी में स्मृतियों की अमर तस्वीरें कैद कर स्मृतिविहीनता में भविष्यहीन होते/करते आतंकवादी वसीम कय्यूम खान को भी स्मृतियों की कमंद के सहारे भावनाओं और संवेदनाओं के इंसानी लोक में खींच लाती हैं। और दो नाजुक बच्चियों तथा बूढ़े माँ-बाप के साथ वहीं कृमीर की उसी जमीन पर अपने खौफ, शर्म, प्रायश्चित, सपनों और सृजन की साझी लड़ाई लड़ते जमान के रंग में रंग कर अमिता को एक नयी शिखितयत दे डालती हैं जहाँ प्रेम उत्सर्ग में अपने को अभिव्यंजित करने लगता है। थिर आँखें सपने नहीं देखतीं। झपकती डबडबाती नम आँखों में ही सपनों के फाहे तैरते हैं। मनीषा 'शिगाफ' में इन्हीं दरकते सपनों को सींच कर अँकुआ देना चाहती हैं -इंसान बनने की इंसानी जरूरत को बार-बार गा-बजा कर।

कश्मीर वादी में दिनोंदिन बढ़ते तबाही के आँकड़े और सुलगती खबरें रुन्धे गलों, बेबस

आँसुओं, उजड़ी गोदों, बाट जोहती वीरान आँखों पर एक बेबस चेहरा चस्पाँ कर जिस संत्रास, घुटन, आतंक और नाउम्मीदी की रचना करते हैं, उसी को अपने उपन्यास 'शिगाफ' का वर्ण्य विषय बनाती हैं मनीषा। "मैं समस्याओं पर नहीं लिखती। उन छोटी और महत्त्वहीन जिन्दगियों पर लिखती हूँ जो बड़ी-बड़ी जिन्दगियों के बनने-बिगड़ने, बड़ी समस्याओं के उलझने और सुलझने की जट्टोजहद में कुचली जाती हैं या पीछे छूट जाती हैं।" खबरों के जंगल के बीच से अपनी राह बनाती मनीषा/अमिता जब सीधे जिन्दगी से मुखातिब होती हैं तभी संवेदना से रची सर्जनात्मक ऊँचाई का स्पर्श कर पाती हैं। फौज का जमावड़ा, क्षेत्रीय राजनीति, विदेशी पत्रकारों, एन जी ओ और ह्यूमन राइट्स कमीशन की भूमिका, सीमा पार से आतंकवाद का प्रशिक्षण प्राप्त करते उन्मादी जाहिल कट्टरपंथी और खौफ और बेईमानी के बीच अपने को भरमाती स्थानीय पीढ़ी-कश्मीर समस्या को परखने के कई-कई कोण हैं, एक-दूसरे से उलझते-काटते, लेकिन फिर भी अधूरे-अपर्याप्त! उपन्यास की शक्ति इन कोणों के विश्लेषण में नहीं, इनसे दूर छिटक कर अपने उबलते दर्द को निथारने और फिर उसकी तड़प को महसूसने के संवेदनपरक विवेक में है। यहाँ त्रासदियों के तिलिस्म की किताबें नहीं, आत्मान्वेषण, आत्मसाक्षात्कार और आत्मोपलब्धि की ऊँची छलांगें हैं जो अज्ञेय की इस पंक्ति से वजूद पाकर-दुख सबको माँजता है और टॉलस्टाय के कथन "सभी सुखी परिवार एक जैसे हैं, और हर दुःखी परिवार अपने ढंग से दुःखी है" की शिनाख्त करता हुआ अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "कहाँ से इन (कश्मीरी मुसलमानों) के दुःख हमारे (विस्थापित कश्मीरी हिंदुओं के) दुःखों से जरा भी कम हैं?" यह प्रबोधन अपने कतरा भर दुःख को फैला कर पूरी कायनात को ढांप लेने की खुदगर्जी नहीं देता, अपने दुःख को समेट-सिकोड़ कर जमाने भर की तकलीफों को साझा करने की दानिशमन्दी देता है। तब अपनी जड़ों से उखड़ कर विस्थापन का दंश लिए हाय-हाय करते कश्मीरी हिन्दुओं के बरक्स अपनी उखड़ी जड़ों के साथ वहीं उसी सरजमीं पर धीमी मौत मरता कश्मीरी मुसलमान भी दीखने लगता है। अलक्षित सत्य के उद्घाटन का यह अन्तर्ज्ञान उपन्यास को विशिष्ट बना देता है।

पिछले दो दशकों के हिन्दी उपन्यास ने विगत दशकों में रचनारत पीढ़ीउषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, चन्द्रकान्ता, ममता कालिया, नासिरा शर्मा-को सृजनशील देखा है तो नयी पीढ़ी के प्रतिनिधि हस्ताक्षर के रूप में गीतांजलि श्री, अलका सरावगी, महुआ माजी और मनीषा कुलश्रेष्ठ को भी। कृष्णा सोबती और उषा प्रियंवदा उम्र के जिस दौर में हैं, उसी के अनुरूप अपनी चिन्ताओं का प्रसार करते हुए क्रमशः बुजुर्ग और कैंसर पीड़िता स्त्री के मनोविज्ञान, असुरक्षा और भय को चित्रित करती हैं। कृष्णा सोबती के 'समय सरगम' में जहाँ मृत्यु का साक्षात्कार करने के साथ-साथ मृत्यु को पछाड़ कर जीवन का राग गाती अपराजेय जिजीविषा प्रमुख है, वहीं 'भया कबीर उदास' में उषा प्रियंवदा 'नयी कहानी' के रोमान-भाव के साथ सतही तौर पर ही ब्रेस्ट कैंसर से पीड़ित स्त्री के मनोभावों को पकड़ पाती हैं। ममता कालिया ने अवश्य अपनी सीमाओं का विस्तार करते हुए नायिका के साथ-साथ पूरे युगीन परिदृश्य की खुर्दबीनी पड़ताल की है। 'दुःखम सुखम' यानी अमृतलाल नागर के उपन्यासों सरीखी अद्भुत किस्सागोई! चुपचाप करवट लेते वक्त को बेहद मुखर वाचालता के साथ प्रस्तुत करते पात्रों की गैलेक्सी! स्थानिक रंगत को बोली-बानी, लय-ताल, गन्ध-स्वाद में गूँधती भाषा! 'दुःखम सुखम' उपन्यास एक चिर-प्रतीक्षित आह्लाद की तरह रोमांचित कर जाता है। धूल-पूँछ जाता है स्त्री-लेखन के लिए गढ़ा यह द्वेषभरा उलाहना कि सीमित घेरों में कैद स्त्रियाँ समाज के बृहत्तर सत्य को क्या जानें। स्त्रियाँ प्रतिवाद नहीं करतीं, बस, मुस्करा कर रह जाती हैं कि जब सैंकड़ों योजन दूरियाँ तय कर मंजिल तक पहुँचने का लक्ष्य लेकर पाँव आगे बढ़ रहे हों, तब पेड़ की छाँव तले या चौपाल की सरदारी में अपने गाल बजाने या दूसरों की खाल नोचने में वक्त जाया क्यों करें वे? यूँ चाहे तो बढ़ते कदमों को रोक कर बहस में मुब्तिला

हो सकती हैं कि जो अपनी जड़ों को जान कर सींचने का विवेक अर्जित न कर सका हो, वह किस दम्भ से दूसरों के घेरों और घरों को 'प्रामाणिक' जानने का दावा कर सकता है? ममता कालिया भी बेवजह उलझती नहीं। हाँ, बेखौफ अपनी बात जरूर कहती चलती हैं-अपने औरत होने के सच और 'औरताना' सरोकारों के सच को डंके की चोट पर कहते-सुनाते कि "जने का वजह है, घर-दुआर और संसार से जितनी प्रीत औरतों को होय, उतनी आदमी को नहीं होय।" (पृष्ठ 143)

ममता कालिया की खासियत है कि वे तीन पीढ़ियों को आमने-सामने रख कूदते-फलांगते वक्त की कथा भी कहती हैं और तेज गति के बीच जड़ता के ठस्सपन के साथ अडोल खड़े वक्त की बारीकियाँ भी चुन लेती हैं। मनीषा उपन्यास की नैरेटर है। आजादी मिलने से छह-सात बरस पहले पैदा हुई यह लड़की लेखिका की अपनी स्मृति-मंजूषा से उत्पन्न पात्र है लेकिन उपन्यास की केन्द्रीय पात्र होने का गौरव उसकी दादी विद्यावती को मिला है। हर घर-परिवार में उपेक्षित-अलक्षित जीवन जीती इस दादी-नानी ने साँसों की लय में बँधा निरर्थक जीवन नहीं जीया, हालाँकि अपरिचय के कारण बड़ी दूरियों पर इठलाती नयी पीढ़ी दादी-नानी को मिट्टी के माधो की मूरत में गढ़ कर अपने आप को ज्ञानी और रिवोल्यूशनरी जाने क्या-क्या समझना-समझाना चाहती है। मनीषा में दादी को समझने की संवेदना, जिज्ञासा और रुचि है। बचपन में घटी घटनाओं के आलोक में वह दादी की प्रकृति, स्थिति और नियति को जानने के क्रम में उस पूरे परिवेश को खंगाल डालती है जो राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के नाम से इतिहास की पुस्तकों में दर्ज है। इस युग के महानायक महात्मा गाँधी ने राजनीतिक स्वतन्त्रता और आर्थिक आत्मनिर्भरता अर्जित करने के साथ-साथ हाशिये पर गुड़ीमुड़ी पड़ी अस्मिताओं की रक्षा के लिए भी अभियान चलाया था। बेशक यह करिश्माई व्यक्तित्व दलितों और स्त्रियों की स्थिति में सम्मानजनक परिवर्तन लाने में कोई करिश्मा नहीं कर सका, लेकिन अपने 'होने' और मनुष्य तथा नागरिक की हैसियत से समाज तथा राष्ट्र कल्याण के कार्यक्रमों में भाग लेने का दायित्व और उत्साह उनमें जरूर भर सका था। विद्यावती उर्फ दादी एक सक्रिय कार्यकर्ता की हैसियत से गाँधी जी के आन्दोलन से जुड़ी थीं, इसलिए अपनी जड़प्राय स्थितियों का अतिक्रमण कर सोच के दायरे को विस्तीर्ण करती चली गयीं। इन्दु उर्फ माँ इन समूची राजनीतिक-सामाजिक गतिविधियों से बेखबर बच्चों को पालने और 'परदेसी पिया' की बाट जोहने में व्यस्त रही, इसलिए डाह और चाहत की रागद्वेषी संकीर्णताओं में अपने को तिल-तिल धुलाती रही। हालाँकि मनीषा पूरे उपन्यास में माँ और दादी को तुलनात्मक दृष्टि से देखने का 'जोखिम' नहीं उठाती, लेकिन दोनों की दो भिन्न परिणतियाँ उनके सरोकारों के दायरे की सीमाओं का आरेखन तो कर ही देती हैं।

उपन्यास सहज और संगीतात्मक लय के साथ पृष्ठ दर पृष्ठ बढ़ता चलता है, लेकिन इसमें गुँथे पात्र एक खास उद्देश्य के साथ अपने होने को जीते हैं। विद्यावती और लाला नन्थीमल के बाद उनका पुत्र कविमोहन नयी पीढ़ी का प्रवक्ता बन कर नहीं उभरता बल्कि पुरानी पीढ़ी की पुरातनपन्थी सोच के दुष्परिणामों का भोक्ता बन कर एक द्वन्द्वग्रस्त परेशानहाल व्यक्ति की ग्रन्थियों को भी दर्शाता है जिसकी राहें अनावश्यक पारिवारिक हस्तक्षेपों द्वारा कील दी गयी हैं।

तीसरी पीढ़ीकवि-इन्दु की बेटी प्रतिभा-के सन्दर्भ में ममता कालिया ग्लैमर वर्ल्ड के प्रति युवा पीढ़ी के बढ़ते आकर्षण का आकलन करती हैं। जाहिर है यह आकर्षण कविमोहन की उपर्युक्त टीस भरी टिप्पणी का ही आंशिक विस्तार है कि "आने वाले वर्षों के लिए हम मूर्खों की पीढ़ी तैयार कर रहे हैं।" अंधानुकरण मूर्खता का ही उत्पाद है जहाँ तर्क नहीं, आवेश और आक्रोश ही महत्वाकांक्षा को निर्णय और जिद में बदलते हैं। नृत्य और संगीत में प्रवीण

प्रतिभा के पास हुनर भी है और सौन्दर्य भी। भारत के थके-ठिठके रूढ़िबद्ध मध्यवर्गीय समाज में टी. वी., फिल्म और विज्ञापन की घुसपैठ ने मॉडलिंग जैसे कैरियर की सम्भावनाओं को भरपूर खोला है। पैसा, शोहरत, सुख-मानो मॉडलिंग न हुई, 'मीडिअस टच' हो गयी कि जिसे भी छुओ, वही सोना बन जाए। प्रतिभा बहती गंगा में हाथ धोना चाहती है, लेकिन माता-पिता इसे 'शक्ल का धंधा' और 'छिछला कैरियर' कह कर दुरदुरा रहे हैं। प्रतिभा का घर से भाग कर तबला मास्टर के साथ मुंबई के मॉडलिंग जगत में प्रवेश करना एक बार फिर पीढ़ियों के टकराव को सामने लाता है। प्रश्न-प्रतिप्रश्न वही सनातन कि क्या प्रतिभा का निर्णय गलत नहीं? कि मनवांछित राहों की तलाश में भूत और वर्तमान की उँगली छोड़ कर अकेले चलना क्यों गलत है? कि पीढ़ी दर पीढ़ी इस तरह के पलायन क्या परिवार और विवाह जैसी संस्थाओं को क्रमशः क्षरित नहीं करते चलेंगे? कि क्षरण की क्रमिक प्रक्रिया में टूटन तो बहुतेरी दीख रही है, लेकिन चिन्तन-मन्थन करने वाले कवि मोहन और मनीषा जैसे संवेदनशील बुद्धिजीवी किन रचनात्मक अध्यायों को सामाजिक व्यवस्था में जोड़ रहे हैं? कहना न होगा कि प्रतिभा देह बन कर आजादी खरीदती आधुनिकता की पतनशील अन्तर्कथा बन कर रह जाती है जिसके समानान्तर एक बार फिर दादी विद्यावती की वैचारिक आधुनिकता पूरे रचनात्मक विधान के साथ आ खड़ी होती है। उपन्यास मानो बार-बार इसी तथ्य को रेखांकित करना चाहता है कि आधुनिकता एक प्रगतिशील ऊर्ध्व दृष्टि है जिसे विवेक, संवेदना और उदारता के साथ अपने भीतर से अर्जित करना पड़ता है। बाहर से लाद कर वह व्यक्ति को हास्यास्पद और बौना ही बनाती है। लेखिका मनीषा के जरिए ओजस्वी दादी की याद में कथा के ताने-बाने से बुना स्मारक बनाना चाहती है, दादी के संघर्ष को आगे ले जाकर 'दुःखम सुखम' के रूप में स्मारक बना भी डालती है, लेकिन यह उनकी संघर्ष-यात्रा का अन्त नहीं, प्रस्थान बिन्दु है क्योंकि लाला नत्थीमल के वजूद और विद्यावती के अन्तर्विरोधों के रूप में स्त्री का दमन करने का सामन्ती संस्कार आज भी व्यक्ति-मानस में किसी न किसी रूप में विद्यमान है। स्त्री की ओर से स्त्री के मानस को पढ़ कर उसकी मानवीय गरिमा की गुहार लगाना ही स्त्री विमर्श है। 'दुःखम सुखम' इस मायने में स्त्री विमर्शकारी आंदोलन में एक सूक्त हस्तक्षेप है।

गीतांजलि श्री, अलका सरावगी और महुआ माजी का अभ्युदय हिन्दी साहित्य में स्टार की हैसियत से हुआ है। 'माई' उपन्यास और 'बेलपत्र' कहानी के साथ गीतांजलि श्री ने कथा साहित्य को अपने आस पास के चरित्रों और घटनाओं के भीतर प्रविष्ट करा कर उन्हें एक नये आलोक में विश्लेषित करने की गहरी समझ दी है जिसे 'हमारा शहर उस बरस' में खास तौर पर लक्षित किया जा सकता है। हालाँकि हिन्दी आलोचना को शिकायत है कि टुकड़ों-टुकड़ों में पिरोई गयी इस उपन्यास की कथा में न साम्प्रदायिकता के उभार का समग्र चित्राण है, न साम्प्रदायिक ताकतों के मनोविज्ञान की पकड़ जो 'आखिरी कलाम' में अपने सभी आयामों और कोणों के साथ विन्यस्त हुए हैं। लेकिन मुझे लगता है कि लेखिका का नैरेटर के साथ टुकड़ों-टुकड़ों में घट रही घटनाओं पर प्रतिक्रिया व्यक्त करना आम आदमी की उस स्तब्ध-स्तम्भित भूमिका को स्पष्ट करता है जहाँ वह समझ ही नहीं पाता कि एकाएक सारे समीकरण गड़गड़ क्यों गए हैं? और फिर रुक-रुक कर जब एक-दूसरे से असम्बद्ध श्रृंखला में घट रही घटनाओं पर विचार करता है तो उन्हें परस्पर असम्बद्ध करने वाले कारणों की तार्किक श्रृंखला को ही नहीं ढूँढ पाता है। यह उपन्यास सत्ता, ब्यूरोक्रेसी, राजनीति, धर्म, शिक्षा और पूँजी के कम्यूनल चरित्रा को उधाड़ कर साम्प्रदायिक समस्या पर विचार नहीं करता, बल्कि सेक्यूलर कहे जाने वाले बुद्धिजीवियों के भीतर छिपी साम्प्रदायिक मनोवृत्ति को सतह पर लाता है।

गीतांजलि श्री की दृष्टि में सेक्युलरिज़्म 'तीसरी जमात' या 'माइनॉरिटी' हैं, 'बरसों से

घर में घूँघट काढ़े बैठी दुल्हन” की ‘दोगली सन्तान’। इस क्रम में वे बौद्धिक तेवरों से सुसज्जित शरद-हनीफ जैसे सेकुलरों के भीतर छिपे फंडामेंटलिस्ट शरद-हनीफ की झाँकियाँ प्रस्तुत करना भी नहीं भूलतीं। इसे उन्होंने दो स्तरों पर उभारा है। एक, प्रतीक के सांकेतिक स्तर पर जहाँ बात-बात में लतीफे सुनाने वाला हनीफ साम्प्रदायिक दंगों के गहराते चले जाने पर उतना ही चुप्पा हो गया है और अपनी उपस्थिति को लेकर आतंकित तो दोस्ती तथा सौमनस्य की प्रतिमूर्ति शरद आरोपित अपराध बोध के दबाव तले बौखलाते हुए इतना अकेला और रिक्त हो गया है कि हनीफ-श्रुति द्वारा लगाई गयी मधुमालती की लतर को काट कर अपने अन्तर्मन में छिपी कितनी ही अर्थव्यंजनाओं को अभिव्यक्त कर बैठता है। दूसरे स्तर पर लेखिका ने घटनाओं की घात-प्रतिघात में हनीफ-शरद सम्बन्धों के छीजने की विश्वसनीय शृंखला को पिरोया है जहाँ दोषी न होते हुए भी दोनों एक-दूसरे से आँख चुराने लगे हैं। हनीफ इसलिए कि जब उसकी मानवीय गरिमा पर चोट करते हुए उसे ‘नाम-जात का ऐलान करता हुआ पट्टा पहना दिया गया है’ तो क्यों न वह अंजुमन-ए-इस्लाम के सदर मकबूल हक के गिरोह में शामिल हो जाए और शरद इस कड़वी प्रतीति के कारण कि धार्मिक दुष्प्रचार को गलत तथा षड्यंत्रपूर्ण मानते हुए भी कहीं वह उन्हीं के नियमों और परिभाषाओं से संचालित होने लगा है। इसलिए मठवालों के विरुद्ध बोलते-बोलते अचानक मन्दिरों के ध्वंस पर उनके दुख में अपना दुख भी साझा करने लगा है। गीतांजलि श्री की विशेषता है कि आम जीवन में धर्म के बढ़ते प्रभाव का चित्रण करने के लिए वे एक प्रतीकात्मक युक्ति का सहारा लेती हैं। यह युक्ति है मठ के लाउडस्पीकर से छन-छन कर आते आक्रोश भरे जुमलों का यूनिवर्सिटी की कक्षाओं में बेधड़क प्रवेश यानी जनून का बुद्धि को आक्रान्त कर देना। यही कारण है कि यूनिवर्सिटी के उदार जनतान्त्रिक माहौल में धीरे-धीरे तीन चीजों की घुसपैठ शुरू होती है-‘रूलबाजी, डिसिप्लिन और कंट्रोल’-धार्मिक महासभाओं के मूल तत्त्व जिनके चलते अध्यापक लाउडस्पीकर के प्रयोग के खिलाफ शिकयतपत्र पर हस्ताक्षर तो कर देते हैं लेकिन भावनात्मक सहमति देने में चूकते नहीं-‘मठवालों के डेमोक्रेटिक हक नहीं क्या?... आपके मजाक, इन गुड टेस्ट, आपके कानून-कायदे की माँग इन गुड टेस्ट एंड लार्ज इंटरैस्ट, और हम बैड टेस्ट वाले, पुलिस रेजिमेंटवाले।’ आश्चर्य नहीं कि युवा पीढ़ी का दिशानिर्देश करने वालों की ये भावनात्मक सहमतियाँ विद्यार्थियों के राजनीतिक एजेंडे को स्पष्ट कर देती हैं जिसके तहत कल तक के सर्वाधिक लोकप्रिय और काबिल प्रो. हनीफ के ‘दीवाने’ छात्र आज उसके सेक्शन में पढ़ने को तैयार नहीं। यही राजनीति फैल-फूल कर मदरसे जैसी धर्म-शिक्षा संस्थाओं को प्रेत्साहन देकर अपरिपक्व बाल-मस्तिष्क पर शिकंजा कसना चाहती है। तब हनीफ का यह सवाल बेहद मानीखेज हो जाता है कि “जब यह जूझने का दौर पूरा होगा तो क्या शरद मठ में होगा और मैं अंजुमन-ए-इस्लाम में?”

गीतांजलि श्री मानती हैं कि इतिहास जब-तब होने वाले कौमी दंगों का साक्षी है, लेकिन उन्हें ही अन्तिम सच के रूप में क्यों स्वीकारें? “झगड़े थे तो उन्हें मानेंगे, पर उन्हें बढ़ाएँ क्यों? खत्म क्यों न करें? मोहब्बत थी और रह सकती है तो क्यों न उसे उजागर करें, झगड़े को घातक मानें” हर तथ्य और निष्कर्ष को तोल कर व्यावहारिक ज़िन्दगी में उतार लेने की पक्षधरता लेखिका के इतिहास-विवेक की मिसाल है। अतः इतिहास को सामान्यीकृत करने की संकीर्ण कोशिशों का विरोध करती हैं कि “स्याह और सफेद में नहीं बँटी हैं कौमें, न सच, न समाज।” इसलिए यदि इतिहास का पुनर्लेखन करना ही है तो क्यों इस झूठ को बढ़ावा दें कि एक कौम ने मन्दिर तोड़े और दूसरी सहनशील बनी रही? अलगाव के प्रतीकों को ढूँढने की अपेक्षा क्यों नज़रूल इस्लाम और अमीर खुसरो के कृतित्व को महिमामण्डित न किया जाए? क्यों नहीं दोनों ही कौमों के भीतर छिपे साम्प्रदायिकता के बीजों को देखते हुए खुलासा किया



जाए कि एक कौम में साम्प्रदायिकता यदि डर और असुरक्षा से पैदा होती है तो दूसरी कौम में ताकत और अहंकार से? पेण्टर बाबू या ददू जैसी ताकतें जब अपने सीमित संसाधनों एवं प्रभाव-क्षेत्र के बावजूद साम्प्रदायिक ताकतों से लड़ सकते हैं तो सेक्यूलर बुद्धिजीवी क्यों नहीं जिसकी मुट्ठी में समूची युवा शक्ति है? वे सवाल को पाठकों की तरफ उछाल देती हैं ताकि अपनी-अपनी भूमिका को लक्षित कर प्रायश्चित और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया में तेजी से जुट जाएँ।

‘कलिकथा वाया बाइपास’ की लेखिका के रूप में जानी जाने वाली अलका सरावगी ने इसके बाद तीन उपन्यास और लिखे हैंशेष कादम्बरी, कोई बात नहीं, और एक ब्रेक के बाद। मैं यहाँ सिर्फ एक ही उपन्यास ‘एक ब्रेक के बाद’ की बात करना चाहूँगी। उपभोक्ता संस्कृति के प्रसार के विरोध में जन चेतना के प्रसार का आह्वान करता यह उपन्यास, एक मायने में, ‘कलिकथा’ के अन्त में झटपट की गई फैंटेसी के कथा के ताने-बाने में झालने का प्रयास है। उपभोक्ता संस्कृति पूँजी और ग्लैमर को केन्द्र में रख कर मनुष्य को उपभोक्ता (चेतना हीन भूख) ही नहीं बना रही, उसे मूल्यहंता प्रतिद्वन्दी, निष्क्रिय शेखचिल्ली या शातिर अपराधी/उठाईगीर भी बना रही है? दूसरे की कमीज के मुकाबले अपनी कमीज को ज्यादा सफेद रखने के दबाव ने उसके मानसिक और नैतिक सन्तुलन को गड़बड़ा दिया है। अपनी झोली में तीनों, सातों आसमानों और दसों दिशाओं की निधियाँ भर कर एक वक्त की ‘भूख’ के साथ भकोस जाने की मनोवृत्ति ने मीडास जैसे यूनानी मिथकीय चरित्रों को उसके सामने बौना बना दिया है। लेखिका सवाल करती हैं कि गरीब किसानों और आदिवासियों की जमीन हड़पने के बाद यह सर्वग्रासी भूख प्रकृति से भी उसकी हर निधि छीन कर क्या शान्त हो जाएगी? पृथ्वी के गर्भ में समाई खदानें हों या छतसरीखे आसमान में निवास करती हवाएँ, सितारे, और रोशनियाँ, या गोद में खेलती चल-अचल, गोचर-अगोचर कितनी ही मानव-मानवेतर प्रजातियाँ-मनुष्य के शोषण की अनवरत परम्परा ने क्या प्रकृति को शत्रु नहीं बना दिया है? तब क्या चेतावनी को सुन कर पहले ही प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर पारिस्थितिकीय संकट को टालना उचित नहीं? अलका सरावगी गुरुचरण दास के रूप में उठ खड़ी होने वाली एक सकारात्मक पहल का उल्लेख भी करती हैं, लेकिन जिस अप्रत्याशित एवं नाटकीय ढंग से उसकी मृत्यु का आयोजन करती हैं, उससे सन्देह होता है कि स्वयं लेखिका ऐसे किसी सकारात्मक हस्तक्षेप के प्रति आश्वस्त नहीं हैं। महुआ माजी ‘मैं बारिशाल्ला’ के बाद ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ उपन्यास में यूरेनियम के प्रदूषण और रेडिएशन की समस्या को लेकर आती हैं, लेकिन शोध, रिपोर्टाज और अखबार के मिले जुले रूप से अलग इसे उपन्यास का दर्जा नहीं दे पातीं।

ये तो हुई गत दो दशकों के महिला रचनाकारों द्वारा रचे गये उपन्यासों की उपलब्धियाँ। एक सजग पाठक के तौर पर दो टिप्पणियाँ निष्कर्ष स्वरूप देना चाहूँगी। एक, साहित्य समाज का दर्पण नहीं, सामाजिक आचरण के प्रति लेखक की बढ़ी हुई आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब है। इसलिए एक सकारात्मक अन्तर्दृष्टि के साथ अपनी सर्जनात्मक शक्तियों को परिप्रेक्ष्य देना लेखक का नैतिक दायित्व है। दूसरे, स्वयं को स्त्री न समझे जाने का आग्रह पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था के उसी संस्कार का प्रतिफलन है जो स्त्री के हीन समझता है। स्वयं को हीन समझने के भाव से आक्रान्त होकर भला हम स्वस्थ, सन्तुलित और समग्र दृष्टि कहाँ से अर्जित कर पाएँगे?

(संवेद-60 से)

## भारतीय उपन्यास की परिकल्पना : एक पुनर्विचार

---

अवधेश कुमार सिंह

भारतीय उपन्यास जैसी फल-फूल रही विधा की रचनाओं की चर्चा करने के बजाय उसकी परिकल्पना या विभावना की बात करना विचित्र अवश्य लगे, पर हमारे वर्तमान सन्दर्भ में अत्यन्त अर्थपूर्ण है। विशेषकर तब जब विभावना, वाद तथा सिद्धान्तों को शास्त्र और इस शास्त्र को शास्त्र की तरह उपयोग में लाया जा रहा है। समय था, सिद्धान्त साहित्य के पीछे-पीछे चलता था, आज स्थिति विपरीत है। आज सिद्धान्त आगे-आगे चलता है या फिर साहित्य रूपी पैदल सेना को तोपखाने की तरह सिद्धान्त या शास्त्र आवरण (कवर) प्रदान करता है। इस तथ्य के बरक्स यह भी याद रखने की बात है कि कम से कम पश्चिम सिद्धान्त की कसौटी के बगैर साहित्य या उससे सम्बन्धित कुछ भी सुनने को तैयार नहीं है, स्वीकारने की बात तो दूर। इसीलिए जरूरी हो जाता है कि हम अपने उपन्यास-विश्व को उलट-पुलट कर तथा उससे सम्बन्धित प्रमुख विचारकों व आलोचकों के विचारों पर पुनर्विचार करें।

सिद्धान्त प्रतिपादन या परिकल्पना अथवा उस पर पुनर्विचार लुभावनी पर (कभी-कभी) खतरनाक गतिविधि है। भारतीय उपन्यास के सन्दर्भ में यह घातक तक सिद्ध हो सकती है क्योंकि भारतीय साहित्य दो दर्जन से भी अधिक भाषाओं में उपलब्ध हैं तथा इसका इतिहास 100 वर्षों से भी अधिक पुराना है। साथ ही उपन्यास की विधा तथा इसका अन्तर्भूत रूप इतना लचीला तथा ग्रहणशील है कि इसका कोई सर्वस्वीकृत सिद्धान्त नहीं है जिसकी कसौटी पर भारतीय उपन्यासों को परखा जा सके। उपन्यास की विधा इतनी बहुमिश्रित है कि इसकी उत्पत्ति रोमांस इतिहास जीवनी सुखान्तिक तथा भावनाप्रधान सेन्टीमेंटल नाटकों आदि में मिलती है। जिसके कारण किसी भी एक मापदण्ड जैसे संरचनावादी, समाजशास्त्रीय, मिथकीय या अनुबोधगम्य से यह पकड़ में नहीं आती। इसके साथ-साथ मेरी व्यक्तिगत सीमाएँ इस समस्या को और जटिल कर देती हैं क्योंकि भारतीय उपन्यास से सम्बन्धित मेरा ज्ञान अंग्रेजी, हिन्दी और थोड़ा बहुत गुजराती उपन्यासों तक सीमित है।

फिर भी भारतीय उपन्यास के सिद्धान्त या परिकल्पना की सम्भावनाएँ जितनी असीमित हैं उतनी ही उसकी समस्याएँ हैं। एक तो भारतीय उपन्यास 19 वीं सदी में पश्चिम से उसकी टकराहट और उसके दुर्भाग्यपूर्ण पतन के साथ जुड़ा है। दूसरे पश्चिमी उपन्यास औद्योगिकीकरण और उससे विकसित मध्य वर्ग का परिणाम है जिसके बगैर उपन्यास भारत में आया और जो औद्योगिकीकरण देश में हुआ वह सोद्देश्यपूर्ण और असमान या जिसका मुख्य उद्देश्य देशी संसाधनों का दोहन, उपनिवेशवादी हितों का संरक्षण तथा संवर्द्धन व देशी उद्यम को योजनापूर्ण ढंग से अव्यवस्थित करना था। ऐसे में जो मध्य वर्ग उपनिवेशकालीन भारत में विकसित हुआ वह अपने पश्चिमी प्रतिपक्ष की भाँति अपने समाज में मूलबद्ध न था। पश्चिमी शिक्षण पद्धति तथा अंग्रेजी शिक्षण माध्यम ने इस नए उभरे मध्यवर्ग को अपने परिवार तथा जनसमूह से अलग कर दिया। स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र की चेतना के बिना इस वर्ग ने उपनिवेशवाद का विरोध करने के स्थान पर उसका समर्थन किया और उसके प्रतिमानों को आयातित किया। चूँकि उपन्यास के लेखकों, वाचकों या उपभोक्ताओं का बहुत बड़ा हिस्सा इस 'नरम' वर्ग से आता था अतः उसने अपनी नरम रुचियों को काल्पनिक (फैन्टास्टिक) या अधिस्वाभाविकता (सुपरनेचुरल) की बहुतायत द्वारा पोषा जिसमें पाश्चात्य तथा भारतीय लोकाचारों या विशिष्टताओं के बीच संघर्ष के चित्रण की गुंजाइश न थी और पश्चिमी उपन्यास विधा को अपने अनुभव के अनुरूप ढालने की जद्दोजहद बिल्कुल कम।

उपनिवेशवाद के शाप के कारण अंग्रेजी ढंग का उपन्यास ही हमारे लिए लम्बे समय तक पश्चिमी उपन्यास का पर्यायवाची बना रहा। और अंग्रेजी उपन्यासों में एक विशिष्ट प्रकार के उपन्यास जो रहस्य, जासूसी, तिलस्मी और सतही यथार्थवाद से भरपूर थे, इस नए वर्ग के लिए अधिक अनुकूल थे। इसलिए आश्चर्य नहीं कि जी डब्ल्यू. एन. रोनाल्ड के 'लन्दन रहस्य' के उपन्यास अधिक मशहूर हुए और उनका अनुवाद भी खूब हुआ। 19 वीं सदी के उत्तरार्ध और उसके बाद का वाचक वर्ग जिसमें बहुत से सम्भावित उपन्यासकार भी थे, मिसेज हेनरी बुड जैसे लेखकों या ज्यादा से ज्यादा जेन आस्टिन के उपन्यासों में जा फँसे। इसने विकासशील भारतीय उपन्यास को प्रतिकूल ढंग से प्रभावित किया क्योंकि उपनिवेशवादी प्रभाव की चिन्ता के तहत ये 'सुगठित घरेलू उपन्यास' ही हमारे अधिकतर उपन्यासकारों के लिए प्रतिमान बने रहे।

## (2)

इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि सभी भारतीय उपन्यासकारों ने अंग्रेजी ढंग के उपन्यास को प्रतिमान की तरह अपनाया। अपने लेख "अंग्रेजी ढंग का नॉवेल और भारतीय उपन्यास" में नामवर सिंह ने उपनिवेशवादी दुर्मुँहेपन को उजागर करते हुए उन भारतीय उपन्यासकारों की चर्चा की जिन्होंने भारतीय ढंग का विरोध किया और कहा कि भारतीय लेखक अंग्रेजी ढंग का उपन्यास लिखने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे थे जबकि अंग्रेजी प्राच्यविद् कादम्बरी, कथासरित्सागर और पंचतन्त्र जैसी कथाओं की प्रशंसा कर रहे थे। उन्होंने बंकिमचन्द्र, फकीरमोहन सेनापति और हजारीप्रसाद द्विवेदी की प्रशंसा की जिन्होंने अंग्रेजी ढंग के यथार्थवादी उपन्यासों को ठुकरा दिया उधर 'कपाल-कुण्डला', 'दुर्गेशनन्दिनी', 'आनन्द मठ' और 'श्यामास्वप्न' जैसे रोमांस लिखे जो 19 वीं सदी में भारतीय उपन्यासों की नींव बने न कि परीक्षागुरु' (1882) जैसा उपन्यास जिसे हिन्दी में अंग्रेजी ढंग का सर्वप्रथम उपन्यास कहा जाता है।

अंग्रेजी ढंग के उपन्यास के अस्वीकरण में नामवर सिंह जी ने उपनिवेशवाद के अस्वीकार को देखा। उत्तरी अमरीका के हौथोर्न तथा मैलविल ने अपने उपन्यासों क्रमशः स्कारलेट लैटर और मोवी डिक में यही हासिल किया। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा उपनिवेशवादी प्रतिमान को टुकराया और 'नेशनल एलेगरी' (राष्ट्रीय रूपक कथा) के रूप में उभारा। नामवर सिंह जी के अनुसार भारतीय उपन्यास का परिदृश्य भी भिन्न होता यदि भारतीय उपन्यासकार मात्र अंग्रेजी उपन्यासकारों की रचनाओं के बजाय टालस्टॉय और बाल्जाक जैसे उपन्यासकारों की रचनाओं के परिचय में आए होते। शायद हमारी जातीय अस्मिता और स्मृति अधिक सुरक्षित रही होती और हमारी परम्परा की पहचान व हमारी कथा-शैली रचनात्मक रूप में अलग ढंग से और अलग परिणाम के साथ प्रभावित हुई होती। विभिन्न भारतीय उपन्यासों में उन्होंने बाणभट्ट की आत्मकथा को "भारतीय उपन्यास की आत्मकथा" बताते हुए उसे भारतीय ढंग का उपन्यास कहा जिसके रूपविधान में नए और पुराने का उकृष्ट मिश्रण है। उसकी शुरुआत में कादम्बरी की कथा की तरह मिस कैथरीन की उपकथा है किन्तु कथानक का विकास व्योमकेश शास्त्री के शब्दों में डायरी की आधुनिक शैली में है।

नामवर सिंह कोरे पाण्डित्यपूर्ण आलोचक नहीं हैं। उनकी विशिष्टता इस बात में है कि वे प्रासंगिक विषय पर बिल्कुल नए ढंग से विचार करते हैं पर साथ ही साथ वे आनेवाली पीढ़ियों के लिए सम्बन्धित विषय परियोजना के दिशा-निर्देश भी छोड़ते चले जाते हैं। उस स्केच में रंग भरने का काम वे आनेवाली पीढ़ियों पर छोड़ देते हैं। जो कुछ नहीं हो सका उसकी कल्पना या अनुमान करने से क्या लाभ? ऐसा उन्होंने ही भारतीय उपन्यास पर विचार करते हुए किया। उनके लिए भारतीय उपन्यास यूजीन ओ'नील के नाटक 'लॉग डेज जर्नी इन्टू नाइट' के पात्र जेमी की भाँति है जो कहता है :

“लुक इन्टू माई फेस, माइ नेम इज माइट हैव बीन। आइ एम आलसो नो मोर, टू लेट, फेयरवैल” (मेरे चेहरे में देखो, मेरा नाम अघटित सम्भावना है। मैं मृत, अति विलांबित, अलविदा भी हूँ।)

फर्क यह है कि भारतीय उपन्यास जेमी की तरह 'नो मोर', 'टू लेट' या 'फेयरवैल' नहीं है क्योंकि विविध भारतीय भाषाओं में विविध रचनाकारों द्वारा इसे पुष्ट किया जा रहा है।

इस लेख के विषय में जर्मन विद्वान लोठार लुत्से ने नामवर सिंह को पत्र लिखकर उनकी इस मान्यता के सामने प्रश्नचिह्न लगाया कि भारतीय उपन्यास के हालात बिल्कुल अलग होते यदि सभी भारतीय भाषाओं ने मराठी की भाँति 'नॉवेल' (हिन्दी में उपन्यास) के स्थान पर कादम्बरी शब्द को स्वीकारा होता। उनका कहना ठीक है क्योंकि भारतीय उपन्यासकारों के लिए विषयवस्तुगत तथा रूपविधानगत विचार तो वही रहते तो मात्र नामभेद से बहुत कुछ फर्क पड़नेवाला न था। साथ ही यथार्थवादी अंग्रेजी ढंग के उपन्यास के स्थान पर वे (नामवर सिंह) रोमांस को तरजीह देते हैं और ऐसा करते समय वे अमरीकी उपन्यास को ध्यान में रखते हैं। इस प्रक्रिया में एक विदेशी (अमरीकी) प्रतिमान को स्थानापन्न की तरह सुझाते हैं। बावजूद इन प्रश्नों के जिनके उत्तर नामवर सिंह जी के पास होंगे, हकीकत यह है कि भारतीय उपन्यास से सम्बन्धित हमारी चर्चा को उनके हस्तक्षेप ने सार्थक तथा महत्वपूर्ण मोड़ दिया है, सदैव की भाँति।

(3)

विडम्बना की बात यह है कि जिन भारतीय उपन्यासकारों ने अपनी रचनाशीलता के द्वारा भारतीय उपन्यास के लिए अपना स्थान बनाने का प्रयास किया, पुरु के हाथियों जैसे अपने ही आलोचकों द्वारा वे तथाकथित उत्तर उपनिवेशवादी समय में भी रौंदे गए। गुजराती के उपन्यासकार गोवर्धनराम त्रिपाठी इसका एक उदाहरण हैं जिनका उपन्यास 'सरस्वतीचन्द्र' (1887) नामवर सिंह जैसे आलोचक की पारखी, पैनी आलोचना दृष्टि से न जाने कैसे बच गया, विशेषकर तब जब वे भारतीय उपन्यास की चर्चा कर रहे थे। सरस्वतीचन्द्र कथावस्तु, उसके निरूपण, शिल्प और जीवन-दर्शन के अर्थ में भारतीय उपन्यास है क्योंकि यह गुजराती जीवन और प्राचीन भारतीय दर्शन को उसके यथार्थ तथा आदर्शों के साथ चित्रित करता है। फिर भी सुरेश जोशी जैसे पण्डित-आलोचक को जिन्होंने गुजराती साहित्य तथा आलोचना को आधुनिक पश्चिमी विश्व से अवगत कराया, इस बात का दुःख है कि 1856 में जब रूस में 'क्राइम एण्ड पनिशमेंट' जैसे उपन्यास की रचना हुई उस समय गुजराती ने लड़खड़ाते हुए 'करणघेलो' को उत्पन्न किया जिसके बाद अन्य रचनाओं के बीच 'सरस्वतीचन्द्र' जैसी रचना सामने आई जो 'नॉवेल नहीं है। सुरेश जोशी के पाण्डित्य और गुजराती साहित्य तथा आलोचना के प्रति उनके लगाव के बारे में जरा भी शंका किए बगैर यह स्वीकारा जाना चाहिए कि वे आधुनिकतावाद के बुखार से इतने ग्रस्त हैं कि वे देशी कथा-शैली, देशी जीवन-दृष्टि, कथावस्तु और उसके चित्रण के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ते। वे गुजराती उपन्यास को उसी पश्चिमी ढंग के साँचे से निकला हुआ देखना चाहते हैं। वे पश्चिमी ढंग के अपार्टमेंट से इतना प्रभावित हो जाते हैं कि वे देश गुजराती 'कूबों' को बुलडोज कर धराशायी कर देते हैं। अपने 'कथोपकथन'(1918) में पूरे गुजराती नॉवेल जिसमें 'सरस्वतीचन्द्र' भी शामिल है को खारिज कर देते हैं। उच्च आधुनिकतावाद पर पुष्ट जोशी के मन में त्रिपाठी के उपन्यास के उपनिवेशवादी प्रतिमान के प्रतिरोध और उपनिवेशवाद के स्वर्णकाल में भी अपने उपन्यास की विषयवस्तु, शिल्प तथा जीवनदृष्टि के चुनाव द्वारा देशी गुजराती के आग्रह के प्रयासों के लिए कोई सहानुभूति नहीं है। उपन्यास के पश्चिमी प्रतिमान में अपनी सजगता जाहिर करते हुए और अपनी देशी अस्मिता की स्थापना करते हुए उपन्यास की पहली आवृत्ति की प्रस्तावना में उन्होंने (त्रिपाठी) लिखा था :

“इस ग्रन्थ में एक से अधिक कथाओं की फूलगूँथणी है। ग्रन्थ के नायक का आविर्भाव होने से पहले उपनायक ध्यान आकर्षित करता है। इससे कहानी की संकलना का ऐक्य रखना यूरोप में व्याप्त नियम टूटता है, परन्तु एक कहानी के बीच अनेक कहानियाँ दिखानेवाला ईश्वर विरचित इतिहास का नियम सुरक्षित बना रहता है। कृत्रिम नियमों को सुरक्षित रखना इस ग्रन्थ का प्रधान उद्देश्य नहीं है। ईश्वर का सदर्थ चित्र प्रस्तुत करना यही प्रयास है।”

यह सुरेश जोशी का विशेष अधिकार था कि वे शैली, तकनीक, कथासाहित्यगत यथार्थ के रूपगत मानदण्डों में दिलचस्पी लें, उन्हें केन्द्रीयता दें और अपनी कथासाहित्य की कार्यशाला के प्रतिमान के संघटकों की तरह नियत करें। किन्तु इस प्रक्रिया में वे भालचन्द्र नेमाड़े द्वारा मराठी नॉवेल को परखने के लिए बताए गए उन चार सिद्धान्तों को नजरअन्दाज कर देते हैं जो भारतीय भाषाओं के उपन्यासों के बारे में भी उतने ही सही हैं :

“वर्तमान पीढ़ी में निस्संकोच यह देशवादी चेतना होनी चाहिए कि मराठी में उपन्यास

मराठी लेखकों का सृजन है जो मराठी समाज की उपज है। साथ ही, रूपवादी, मराठी में कलाकृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए दुनिया की किसी भी भाषा से कहीं से भी कोई रचना उठाकर अध्ययन करने की बेवकूफी भरी प्रवृत्ति जो हमारी मराठी आलोचना में खूब प्रचलित है, से भी बचना है। तुलना की ही संस्कृतियों के गहन अध्ययन के बगैर तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में उतरना खतरनाक है। संस्कृति कोई 'बोट हाउस' नहीं है बल्कि मिट्टी से जुड़ी एक प्रक्रिया है, साहित्य कोई सैद्धान्तिक रचना न होकर एक जीवन्त घटना है।”

नेमाडे के विलम्बित सुझावों पर ध्यान न देते हुए जोशी ने देशी गुजराती भारतीय रचनाओं को अपने उच्च आधुनिकतावादी मापदण्डों से मापा और 'सरस्वतीचन्द्र' जैसे उपन्यासों को इसलिए नकार दिया क्योंकि वे पाश्चात्य रूपवादी ढंग के उपन्यास नहीं हैं।

वास्तविकता यह है कि, त्रिपाठी ने अपने उपन्यास में अपनी विषय-सामग्री का उपयोग गैर-यथार्थवादी ढंग की कथा के रूप में किया है, जैसी शैली देश के अन्य भागों में भी पाई जाती है। अतः उपन्यास के गैर-यथार्थवादी होने के आरोप की सफाई देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उपन्यासकार ने प्रस्तावना में ही कह दिया है कि उपन्यास देशी परम्पराओं के अनुसार ही लिखा गया है। उपन्यासकार का ऊपर उद्धृत वक्तव्य उन आलोचकों का ध्यान आकृष्ट करने योग्य है जो उपन्यास को गैर-यथार्थवादी कहकर उसे उपन्यास (नॉवेल) मानने से ही मना करते हैं। यदि उपन्यास का सरोकार यथार्थ से है तो यथार्थ कोई सार्वभौमिक सत्य नहीं है। पश्चिम और पूरब, उत्तर और दक्षिण के अपने-अपने यथार्थ हैं और उनके नजरिए भी अपने-अपने हैं। कम से कम पूर्वी संस्कृतियों के सन्दर्भ में नैतिक आचार-विचार तथा धर्म आज भी सामाजिक यथार्थ की संरचना करते हैं जिनका विचार किए बगैर भारतीय यथार्थ को समझा नहीं जा सकता है। यह सामाजिक यथार्थ 'पश्चिमी' नजर के लिए गैर-यथार्थवाद हो सकता है पर एक भारतीय उपन्यासकार के लिए सच्चा यथार्थ जिसका चित्रण उसका धर्म है, जिसे नजरअन्दाज कर पश्चिमी यथार्थ के हिसाब से उपयुक्त तत्त्वों को उठाकर उनका चित्रण करना यथार्थ का अनुकूलन करने जैसा है। इसके विपरीत त्रिपाठी का सामाजिक यथार्थ उसके प्रति उनका नजरिया और उस नजरिए के तहत उसके सामने लगाए प्रश्न भिन्न थे। उनके प्रश्न भारतीय मानव प्रकृति, मानव अनुभव, यथार्थ, उसकी सम्भावनाओं, नैतिक अवस्था की अवधारणाओं अनुभव की साधारणीकृत संरचनाओं, मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामूहिक (पारिवारिक तथा सामाजिक) धर्म से सम्बन्धित थे। जाहिर है उनके उत्तर भी भिन्न थे। गौरतलब है कि जिस आधुनिकतावादी थर्मामीटर द्वारा यथार्थ की गर्मी को मापा जाता है वह आधुनिकतावाद आधुनिकीकरण के खमीर से उठी बू है और आधुनिकता औद्योगिकीकरण की स्थितियों और मजबूरियों की उपज है। पश्चिमी ढंग का औद्योगिकीकरण हमारे देश में आज भी नहीं हुआ है और जो भी हुआ है वह बहुत धीमा और असम है तथा कुछ क्षेत्रों तथा मेट्रो तक सीमित है। 'सरस्वतीचन्द्र', इससे भिन्न पूर्व गैर-औद्योगिक भारतीय समाज की रचना है जिसमें यान्त्रिक जीवन की भागदौड़ और आपाधापी के दाग नहीं पड़े हैं। इस वजह से उपन्यासकार 'अपनी कहानियों के और उनके कर्ताओं के तन्तुओं और ताने-बाने को अपनी आवश्यकता और इच्छा के अनुसार नियन्त्रित करता है या स्वतन्त्र छोड़ देता है। उपन्यासकार अपनी भारतीय कथनविधि और दृष्टिकोण से इतना जुड़ा हुआ है कि वह उनको, न कि यूरोपीय यथार्थवादी ढंग को अपनाता है और अपनी संरचनाओं का निर्माण करता है जो उसे मानव सम्बन्धों के मकड़ी जाल तथा जीवन की भूलभुलैया की बारीकियों तथा सघनताओं को पकड़ने में सहायभूत होती हैं। हमारे समाज में जीवन का हार्द इन्हीं जालों तथा भूलभुलैयों का बना हुआ है जो पश्चिम प्रभावग्रस्त

या त्रस्त या गैर-भारतीय आलोचकों को परेशान करेगी क्योंकि वे उन्हें ढीलीढाली, अबद्ध तथा घटनाप्रधान लगेंगी। उनमें तारतम्यता तभी दिखाई देगी जब उनका परीक्षण देशी भारतीय अनुभव के रूप के तारों के अनुरूप होगा।

सच्चाई यह है कि गोवर्धनराम त्रिपाठी पुनर्जागरण काल के उन अग्रगण्य भारतीय उपन्यासकारों में से एक थे जिन्होंने उपन्यास के उपनिवेशवादी प्रतिमान और उसके प्रभाव का सार्थक प्रतिरोध किया। उन्होंने इस विकृति का शिकार होने से स्वयं को तथा अपनी रचना को बचाया जिसे उपनिवेशवाद अपने क्रिया-कलापों से उत्पन्न करता है। वे अपने लगभग समकालीनों जैसे माइकेल मधुसूदन दत्त जैसों से अच्छे थे जिन्होंने “अलबियोन के दूरस्थ किनारों” के लिए आह भरी और उपनिवेशवाद का विरोध करने की बजाय उसकी लालसा की। दत्त ने लिखा था

“यश हेतु, अथवा एक अनाम कब्र  
मेरी माँ, पिता, बहिन सभी  
मुझे प्रेम करते हैं और मैं भी उनसे प्रेम करता हूँ  
पर अक्सर आँसू उमड़ते हैं और गिरते हैं  
मेरी दुःखी आँखों से शीत ऋतु की ओस की तरह  
ओह! मैं अलबियोन के स्टैण्ड के लिए आह भरता हूँ  
मानो वह मेरी अपनी देशी भूमि हो।”

विडम्बना की बात तो यह कि इस रचनात्मक साहस के लिए प्रशंसा करने के स्थान पर त्रिपाठी को अनुचित आलोचना का भाग बनना पड़ा। अपने ही आलोचकों द्वारा यहाँ तक कि तथाकथित उत्तर उपनिवेशवाद काल में भी जिसमें उपनिवेशवादी प्रभाव से मुक्त रचनात्मक तथा आलोचनात्मक मनीषा ने अपनी तलहटी में तथा आस-पास देखकर खूब जाँच-पड़ताल के बाद अपने प्रतिमान का चुनाव किया होता। किन्तु सुरेश जोशी का प्रभाव इतना घोर तथा व्यापक है कि आज भी गुजराती में सुरेश जोशी के विपरीत विचार अकल्पनीय हैं। कुछ अन्य भारतीय भाषाओं जैसे हिन्दी या मराठी में सौभाग्य से ऐसा नहीं हुआ और सुरेश जोशी के ही समकालीन आलोचक सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन ‘अज्ञेय’ तथा मर्दकर के आधुनिकतावादी रूपवादी विचारों को प्रश्नांकित किया गया तथा प्रतिकार किया गया जिससे इन भाषाओं में रचनात्मक तथा आलोचनात्मक विचारों का प्रतिपादन हुआ क्योंकि प्रतिरोध आलोचनात्मक तथा रचनात्मक गत्यात्मकता का स्रोत है। पर गुजराती साहित्य जगत में ऐसा नहीं हुआ और त्रिपाठी की रचना अपने सही मूल्यांकन के लिए उग्रज भी आलोचकीय अभिगमों को आमन्त्रण देती है। उपनिवेशवाद के तौर तरीके बड़े विचित्र होते हैं और उससे भी अधिक विचित्र और सूक्ष्म तरीके इसके हो जाते हैं कि तथाकथित उत्तर उपनिवेशवाद काल में यह भटकाव यह भी सिद्ध करता है कि अनचाहे ही कभी-कभी एक समस्त पीढ़ी की देशी सृजनशीलता के लिए हमारी अपनी महान हस्तियों का प्रभाव कितना घातक हो सकता है?

(4)

पूर्वगामी लम्बे भटकाव के बाद भारतीय उपन्यास से सम्बन्धित मुख्य प्रश्न पर आते हुए हमें पता लगता है कि उपन्यास के रूप की छद्म आन्तरिक प्रकृति तथा हमारा बहुविध स्थितिगत सतरंगी यथार्थ हमारी रचनात्मक तथा आलोचनात्मक प्रतिभाओं को इस विधा में अभिव्यक्त करने या उसके बारे में अपने विचार व्यक्त करने से रोक न सके। उदाहरण के

लिए 1933 में आर. के. नारायण ने 'पंच' में एक छोटा-सा लेख लिखा जिसका शीर्षक था 'हाउ टू राइट एन इण्डियन नॉवेल?' (एक भारतीय उपन्यास कैसे लिखें?) उन्होंने उस समय के आशास्यद उपन्यासकारों को सम्भावित विषयवस्तुएँ सुझाई जैसे 'भारतीय राजाओं तथा उनकी रानियों के जीवन' 'गोबर तथा मसालों की बू से रसा-मंजा भारतीय देहात' 'साँपों की हुंकार तथा सपेरों के बीच की आवाज' जिसमें कार्यव्यापार एक स्थान से दूसरे स्थान पर फिरता है। पर ऐसा कहने के पीछे नारायण का मुख्य उद्देश्य उन उपन्यासकारों के अभिगमों तथा रचनाओं का उपहास करना था जो भारतीयता के कुछ बाह्य लक्षणों को अपनाकर फॉर्मूलाई लेखन में संलग्न थे या ऐसा करने का विचार रखते थे।

भारतीय उपन्यास की परिकल्पना से सम्बन्धित हमारा यह प्रयास हमें विषयवस्तुगत तुलनात्मक अध्ययन तक ले आया है। इससे भारतीय उपन्यास की भारतीयता का निर्धारण करने में मदद मिल सकती है और भारतीय उपन्यास की विभावना को प्रमाणित करने के लिए अनुभवसिद्ध साक्ष्य भी प्राप्त हो सकता है। पर समस्या यह है कि उपन्यासों में चित्रित मूल भावों (मोटिफ) या दृष्टिकोण (जैसे जीवन-अनुभव, प्रेम या सत्य से सम्बन्धित) या विषयवस्तु, संरचनाओं या कथ्य कला में भारतीयता के मूलसार का पता लगाने अथवा ऐसी रचनाओं का पता लगाने जो इन तत्त्वों का अनुमोदन करती हैं, जिनके आधार पर उपन्यास की समाकलित साहित्यिक विधा को खोजा जा सके आदि से सम्बन्धित हमारे प्रयास एक हद से बहुत आगे नहीं ले जाते। कारण यह है कि भारतीयता को कुछ विषय वस्तुओं तक सीमित का विचार करने का अर्थ उसके साथ अन्याय करना है क्योंकि भारतीयता मूलतः समावेशक तथा समायोजक है। इसी कारण से यह पूर्व निर्धारित या गतिहीन स्थिर वस्तु नहीं है बल्कि गत्यात्मक है। इसकी सर्व अंगीकारिणी समाविष्टता गणकों की योजनाओं को विफल करती है तथा उनकी वैधता पर प्रश्नचिह्न लगाती है।

दूसरी ओर मुल्कराज आनन्द ने अपने लेख "द मार्च ऑफ दी इण्डियन नॉवेल" (द सण्डे टाइम्स 1. 05. 1997 पृ. 2) में भारतीय उपन्यास की प्रगति को विषयवस्तुगत परिवर्तन के आधार पर देखा। उन्होंने भारतीय उपन्यास के प्रयाण में बंकिमचन्द्र चटर्जी के उपन्यासों आनन्दमठ और कृष्णकांत विल को लिया जो कि भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन और बड़े जमींदारों के पारिवारिक सम्बन्धों के बारे में हैं। बंकिम के बाद रवीन्द्रनाथ टैगोर के उपन्यास 'गोरा' में बीसवीं सदी के प्रारम्भ में राष्ट्रीय चिन्ताओं का चित्रण है। उसके बाद शरतचन्द्र चटर्जी के उपन्यास निम्न मध्यवर्गीय बाबुओं के जीवन, ताराशंकर के उपन्यास आदिवासियों, मछुआरों और ग्रामबालाओं के जीवन, विभूतिविभूषण बन्धोपाध्याय के उपन्यास बँगाल के आदिवासी जीवन (पथेर पांचाली) से सम्बद्ध हैं। इसके बाद भारतीय उपन्यास की मशाल प्रेमचन्द्र के हाथों में आ जाती है जिनका 'गोदान' गाँव के बारे में है इसके बाद मुल्कराज आनन्द 'अछूतों' के बारे में, शिवराम कारन्त परित्यक्तों, यशपाल राजनैतिक कार्यकर्ताओं, अमृतलाल नागर विद्रोह के बारे में, फणीश्वरनाथ रेणु बिहार के उत्पीड़ित किसानों, इस्मत चुगताई उत्तरप्रदेश की स्त्रियों के बारे में, कृष्णचन्द्र पंजाब के निम्न मध्यवर्गीय जीवन के बारे में तथा कुरअतुलएन हैदर उत्तरी भारत की मध्यवर्गीय महिलाओं के बारे में प्रकाश डालते हैं।

1930 तथा 40 के दशकों की राष्ट्रीय व सामाजिक चिन्ताओं के बाद जिसका एक उद्देश्य अप्रत्यक्ष ढंग से साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वर व्यक्त करना था। मुल्कराज आनन्द के अनुसार स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय उपन्यास का 'मेन्टल' स्त्री लेखिकाओं के हाथों में आया जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा अपनी स्त्री-जाति की स्वतन्त्रता के लिए मुहिम छेड़ी। इन रचनाकारों में प्रमुख



थी कमला मार्कण्डेय, कमलादास, अनिता देसाई, नयनतारा सहगल और उमा वासुदेव। आनन्द ने इस प्रवृत्ति को अन्य पुरुष उपन्यासकार, की रचनाओं जैसे आर. के. नारायण (डार्क रूम) और अपने उपन्यास 'गौरी' में देखा।

भारतीय उपन्यास के बारे में आनन्द का 'पहाड़ी और घाटी' वाला दृष्टिकोण उपन्यासकारों की विषयवस्तुगत चिन्ताओं पर केन्द्रित है जिनके तहत उन्होंने भारतीय भाषाओं के उपन्यासों का आत्मनिष्ठ ढंग से चुनाव किया। उनका चुनाव काफी व्यापक लगता है फिर भी भारतीय उपन्यास की यात्रा के सक्रिय सहभागी तथा उसके प्रखर पर्यवेक्षक से जिस समुचित और सूक्ष्म निरीक्षण की आशा थी वह पूरी नहीं होती। एक तो अपनी त्रिपुटी में से वह राजाराव को बिल्कुल ही भूल गए जिनके उपन्यास भारतीयता के खोजियों के बहुत महत्वपूर्ण स्थल हैं क्योंकि भारतीयता के बारे में सचेतनता, सजगता और उसकी अभिव्यक्ति सबसे अधिक राजाराव में दिखाई देती है। उनकी भारतीयता की विशिष्टता अंग्रेजी से भिन्न है...जगत के उसके बोध, दर्शन तथा उसकी कहानी कहने के ढंग सबसे भिन्न हैं। राजाराव ने 'कन्ठपुरा' के प्राक्कथन में स्पष्ट कहा :

“हम अंग्रेजों की तरह लिख नहीं सकते। हमें लिखना चाहिए भी नहीं। हम केवल भारतीयों की तरह लिख सकते हैं। हम इतने बड़े विश्व को अपने एक भाग के रूप में देखते हुए बढ़े हैं...भारत में हम जल्दी सोचते हैं, हम जल्दी-जल्दी बात करते हैं और जब हम चलते हैं तब जल्दी-जल्दी चलते हैं। हम कभी समाधान देनेवाली कहानी कहते हैं। एक घटना के बाद दूसरी घटना आती है और जब हमारे विचार रुकते हैं तो हमारी साँस रुक जाती है और हम दूसरे विचार की ओर मुड़ जाते हैं। हमारी कहानी कला का यही सीधा-सादा ढंग था और आज भी है।”

राजाराव के उपन्यास उनके इन विचारों की संस्तुति करते हैं और भारतीय उपन्यास के हद का निर्माण भी करते हैं। किन्तु आनन्द राजाराव, उनकी रचनाओं और उनके विचारों की उपस्थिति पर ध्यान नहीं देते। शायद त्रिपुटी के एक भाग के रूप में वे बहुत ज्यादा करीब थे इसलिए दिखाई नहीं पड़े। साथ ही 1994 में, 1980 के दशक से आनन्द बहुत पहले ही रुक गए, जिस दशक ने कम से कम अंग्रेजी में भारतीय उपन्यास के नए स्वरो की सशक्त फसल दी और भारतीय भाषाओं के उपन्यासों और महाश्वेता देवी, अनन्तमूर्ति, बशीर, रजा आदि उपन्यासकारों को बिल्कुल भूल गए।

चूँकि भारत कथनकला का पालना रहा है, अतः स्वाभाविक है कि भारतीय उपन्यास की परिकल्पना के बारे में पुनर्विचार करते समय भारतीय कथन परम्परा पर विचार किया जाए। फिलिप स्टीविक की चुनौती स्वीकारते हुए कपिल कपूर ने कथ्य (नरेटिव) के आधार पर उपन्यास के भारतीय सिद्धान्त के प्रतिपादन की कोशिश की। उन्होंने अपने लेख 'थ्योरी ऑफ द नोवेल' में वाङ्मय और काव्य की समृद्ध भारतीय कथ्य परम्पराओं की जाँच की, उनका वर्गीकरण किया और भारतीय कथ्य परम्पराओं के उप-वर्गों की फेहरिस्त तैयार की। कपूर का भारतीय भाषाओं में लिखे गए और लिखे जा रहे उपन्यास की जाँच के लिए अच्छा प्रतिमान सिद्ध हो सकता है जिसका प्रमुख उद्देश्य कथ्य या कथन शैली के आधार पर उपन्यासों की भारतीयता या गैर-भारतीयता का गिनना या मापना न होकर यह पता लगाना होना चाहिए कि किस हद तक ये कथनशैलियाँ देशी भारतीय कथन-परम्पराओं और उनके पश्चिमी प्रतिपक्षों, जैसे भी उन्हें भारतीय उपन्यासकारों द्वारा स्वीकारा गया है, के बीच के तनाव की उपज है। त्रिपाठी के उपन्यास 'सरस्वतीचन्द्र' की ओर पुनः ध्यान केन्द्रित करते हुए कहना पड़ेगा कि यह एक

भारतीय उपन्यास है क्योंकि यह भारतीय कथनशैली का प्रयोग करता है और देशी तथा विदेशी प्रभावों (जो कुछ हद तक देशी मस्तिष्क का हिस्सा बन चुका है) के बीच के तनाव को पकड़ने का प्रयास करता है।

### (5)

भारतीय उपन्यास की विभावना की खोज आर. के. नारायण के विचारों से शुरू की थी अतः यह उचित होगा कि अंग्रेजी के एक अन्य भारतीय उपन्यासकार विक्रम सेठ के साथ उसका अन्त किया जाए। उनके कलाई तोड़ और समयखोर उपन्यास 'ए सूटेबल ब्वाय' में अमित नामक चरित्र के द्वारा सेठ ने उपन्यास के बारे में अपने विचारों को छद्म रूप से प्रस्तुत किया है। नॉवेल के बारे में उसके विचार हमें उसके भाई दीपांकर के द्वारा पता चलते हैं :

“अमित दा मुझे याद है आपने एक बार मुझे बताया था कि आपके उपन्यास के लिए अपनी तमाम उपनदियों तथा वितरक नदियों के साथ गंगा एक प्रतिमान है। किन्तु अब मुझे लगता है कि यह उपमा जिस समय आपने उसके बारे में सोचा था उससे कहीं अधिक उपयुक्त है क्योंकि आप अपने जीवन के बहाव को ऊपर से अलग दिशा में बहती हुई बह्मपुत्र नदी की भाँति देख सकते हैं। अपने विचित्र मार्ग द्वारा, जो हमें दिखाई नहीं देती, निश्चित रूप से मिल जाएगी।”

उपन्यास की गंगा, फिर बरगद के पेड़ के साथ तुलना करते हुए सेठ न केवल अपने भारतीय दिमाग के लिए उसकी पवित्रता सुझाते हैं बल्कि साथ ही वे उपन्यास से जुड़े सवालियों जैसे उसका रूप, उसकी कहानियाँ और उपकहानियों आदि की सत्तामूलक स्थितियों पर टिप्पणी भी करते हैं। बरगद के पेड़ की उपमा भारतीय उपन्यास को बहुत उपयुक्त ढंग से वर्णित करती है। बरगद के पेड़ की भाँति उपन्यास उगता है, बढ़ता है, अपनी अनेक गाथाओं, जड़ों को जमीन के ऊपर और नीचे फैलाता है। कुछ जड़ें शाखाओं की भाँति ऊपर से लटकती हैं और जमीन में घुसकर वे जड़ बन जाती हैं और पेड़ को सहारा देती हैं।

सेठ ने संगीत के क्षेत्र में एक रूपक का उपयोग किया है। क्लासिकल संगीत पर अपनी चर्चा के दौरान अमित डा. इला चट्टोपाध्याय और लता को बताता है : “मुझे हमेशा महसूस हुआ है कि राग की परफोरमेन्स एक उपन्यास से मिलती-जुलती है। कम से कम जिस प्रकार का उपन्यास मैं लिखने की कोशिश कर रहा हूँ उसके सम्बन्ध से पहले आप एक स्वर (नोट) को लेते हैं और कुछ देर तक ठहरते हैं और धीरे-धीरे पदावलियाँ बननी शुरू होती हैं और फिर ताल में तबला शामिल होता है...और तब अधिक तेज (इम्प्रोवाइजेशन) प्रयोग और भटकाव शुरू होते हैं जिसमें समय-समय पर मुख्य विषयवस्तु पर वापस आ जाया जाता है और अंततः गति तेज हो जाती है और उत्तेजना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।”

उपन्यास की सेठ की विभावना खयाल की याद दिलाती है जिसमें आलाप कुछ समय तक चलता है किन्तु कोई राग आलाप के कारण ही पूरा नहीं होता। इसके साथ ही साथ वह विलम्बित मध्य, तथा द्रुत पर ही निर्भर होता है। उपन्यास में कथन का प्रवाह प्रारम्भ में धीरे से शुरू होता है। धीरे-धीरे पात्रों का समूह, घटनाओं की शृंखलाएँ और कहानियाँ खुलती हैं और विलम्बित की अवस्था में एक-दूसरे में उलझ जाती हैं, जो थोड़े समय तक चलता रहता है। मध्य में ऐसा लगता है कि उपन्यासकार ने कुछ घटनाओं और पात्रों के ऊपर अपना नियन्त्रण खो दिया है। पूर्व अवस्था की सहजता का स्थान प्रबल गति ले लेती है जिससे कथा की कल्पित अराजकता का आभास होता है। अक्सर द्रुत की इस स्थिति की सभी पेचीदगियाँ समाधान

की ओर अग्रसर होती हैं।

उपन्यास के बारे में विक्रम सेठ के विचारों के प्रतिपादन में महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने उपन्यास को मापने के लिए देशी भाषा (टम्स) और बिम्बों का प्रयोग किया। पर यहाँ यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भारतीय उपन्यास की विभावना के सन्दर्भ में विक्रम सेठ या किसी आलोचक के विचार निर्देशात्मक तथा एकान्तिक नहीं हो सकते। जिस प्रकार सुरेश जोशी के विचार अपनी रचना-कार्यशाला के उपयुक्त थे, ठीक उसी प्रकार विक्रम सेठ के उपन्यास सम्बन्धी विचार उनकी कार्यशाला के लिए विशेषकर 'ए सूटेबल बॉय' जैसे उपन्यास के लिए उपयुक्त है। भारतीय उपन्यास अपनी अनेक भाषाओं में खूब फला-फूला है और विकास की ओर अग्रसर है। जैसे यह नए व पुराने, देशी व विदेशी, भारतीय तथा पश्चिमी और अन्य प्रभावों को समाहित करने का प्रयास कर रहा है। इसी वजह से भारतीय उपन्यास की किसी भी परिकल्पना या विभावना पर विचार करने से पूर्व आवश्यक है हम अपने दिमाग में भारतीय उपन्यास की बहुलता तथा विजातीयता को स्वीकारें।

भारतीय उपन्यास की विभावना के सन्दर्भ में कुछ बातों का ध्यान रखना पड़ेगा। एक, हमारे वैविध्यपूर्ण सामाजिक यथार्थ को ध्यान में रखते हुए हमें उपन्यास की परिभाषा, कथन या कथनशैली के आधार थोड़े व्यापक रखने पड़ेंगे और मानना पड़ेगा कि हमारे भारतीय सन्दर्भ में उपन्यास एक लम्बी कथा है। दूसरे, उपन्यास हमारे लिए 'आपबीती' तथा 'जगबीती' दोनों से सम्बन्धित हैं। जैसा कि नामवर सिंह जी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अपूर्ण उपन्यास 'कुछ आपबीती कुछ जगबीती' के सन्दर्भ में कहा कि उपन्यास का स्वानुभव उसके सरोकार व परिवेश दोनों प्रकार के अनुभवों से है। तीसरे, भारतीय यथार्थ की तरह भारतीय कथा की विभावना प्रस्तुत करने के लिए गोवर्धनराम त्रिपाठी का रूपक "फूलगुँथणी" बहुत उपयुक्त लगता है। पर इस फूलगुँथणी के फूलों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि फूलों के पौधों, जड़ों, हवा और मिट्टी की ओर ध्यान दें जहाँ से ये फूल आते हैं तथा विशेषकर उन देशी-विदेशी हवाओं की ओर जिनसे पौधे या फूल जीवन-वायु खींचते हैं। देशीवादी विचार के बारे में जो भी रुख होप्रेम का, घृणा का या उभयभावी पर इतना निश्चित है कि भारतीय उपन्यास की विभावना पर विचार करते समय हमें हमारी भाषाओं तथा साहित्यों में मौजूद कथन परम्पराओं, हमारे सामाजिक यथार्थों तथा उसके प्रति हमारे नजरियों का आधार लेना पड़ेगा पर साथ ही दूसरी परम्पराओं-देशी तथा विदेशी के साथ संवाद, परस्पर प्रभाव, समावेशकता तथा परिपाचन के लिए पर्याप्त स्थान छोड़ना पड़ेगा। सम्भव है कि एक से अधिक संस्कृतियों के प्रति मिश्र भाव तथा उससे उत्पन्न तनाव अवरोधक न होकर सृजनशीलता के लिए उत्प्रेरणा का काम करें।

(‘भारतीय उपन्यास की अवधारणा और स्वरूप’ नामक पुस्तक से)

## भारतीयता और हिन्दी उपन्यास

प्रणय कृष्ण

साहित्य में जो विधा उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शों-में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझी गई वह है उपन्यास। पहले से ही उपन्यास आधुनिक चेतना की अभिव्यक्ति के कलात्मक माध्यम के रूप में समझा जाता रहा है। हेगेल ने उपन्यास को 'आधुनिक युग का महाकाव्य' कहा था। उपन्यास के उदय और विकास की परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है "उपन्यास के उदय और विकास के लिए अर्थात् उसके अस्तित्व के लिए कुछ ऐसे भौतिक और विचारधारात्मक आधारों की जरूरत थी, जो आधुनिक युग में ही विकसित हुए। उपन्यास के अस्तित्व के लिए अनिवार्य प्रेस, प्रकाशन और पत्र-पत्रिका आधुनिक युग के वैज्ञानिक विकास की देन है तो उसके लेखक और पाठक के रूप में क्रियाशील मध्यवर्ग पूँजीवादी सामाजिक संरचना का परिणाम है। इन भौतिक आधारों के साथ-साथ विचारधारा के स्तर पर व्यक्तिवाद, धर्मनिरपेक्ष जीवनदृष्टि और यथार्थवादी विश्ववृद्धि की जरूरत थी, जो आधुनिक युग की विवेकवादी चेतना की उपज है। उपन्यास की रचना दृष्टि में मनुष्य की स्वतंत्रता, व्यक्ति की महत्ता और मानवीय संबंधों की गरिमा को तभी केन्द्रीय महत्त्व मिला, जब आधुनिक मानस अपने अनुभव और तर्क के अलावा किसी अलौकिक शक्ति की सत्ता को स्वीकार करने के लिए तैयार न था। यह मध्ययुग में संभव न था। उपन्यास मध्ययुगीनता के विरुद्ध आधुनिकता के विद्रोह की अभिव्यक्ति करने वाला साहित्य रूप है।"<sup>1</sup>

'उपन्यास का समाजशास्त्र' शीर्षक अपने लेख में ही मैनेजर पाण्डेय ने यह दिखलाया है कि नई ऐतिहासिक चेतना और समाजशास्त्रीय अन्वेषण की दृष्टि जिस आधुनिक युग के भौतिक और वैचारिक परिवेश की उपज है, उसी की उपज उपन्यास भी है। ऐसे में यह स्वाभाविक ही है कि साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के केन्द्र में उपन्यास ही रहे। उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शों में खास तौर पर उपन्यास को राष्ट्रीय चेतना से जोड़कर देखने पर बल है। साहित्य अकादमी ने फरवरी 1999 में 'राष्ट्र की खोज में उपन्यास' (द नॉवेल इन सर्च ऑफ नेशन)

विषय पर राष्ट्रीय सेमिनार आयोजित किया। इसमें पढ़े गए पत्रों का संकलन पुस्तक रूप में साहित्य एकेडमी ने सन् 2005 में प्रकाशित करवाया। संकलन की भूमिका में इस सेमिनार के विषय पर प्रकाश डालते हुए ई. वी. रामकृष्णन ने लिखा “विभिन्न भारतीय भाषाओं में आजादी के पहले और बाद में लिखे गए उपन्यास भारतीय राष्ट्र की समग्र जटिलता, विविधता और बहुलता-का बयान करते हैं। वे उपमहाद्वीप का अनौपचारिक इतिहास निर्मित करते हैं जिसमें घटनाओं के प्रति जनता का दृष्टिकोण चित्रित हुआ है। उपन्यास यह दर्शाते हैं कि विभिन्न सामाजिक अवस्थितियों से राष्ट्र कल्पित और पुनः कल्पित हुआ। राष्ट्र के नैतिक द्वंद और उसकी असफलताएँ जितने साफ ढंग से पिछली शताब्दी के श्रेष्ठतम् भारतीय उपन्यासों में व्यक्त हुई है, वैसा अन्यत्र कहीं भी अभिलिखित नहीं है... राष्ट्र और राष्ट्रवाद के साथ उपन्यास का सहजीवी संबंध पिछले दो दशकों से गहन आलोचनात्मक अन्वेषण का विषय रहा है।”<sup>2</sup> साहित्य एकेडमी ने ही मार्च 2000 में केरल विश्वविद्यालय के तुलनात्मक साहित्य केन्द्र के साथ मिलकर तिरुवनंतपुरम में “भारत के आरंभिक उपन्यास” (अर्ली नॉवल्स इन इंडिया) विषय पर सेमिनार आयोजित किया। इस सेमिनार के पत्रों को शामिल करते हुए सन् 2002 में साहित्य अकादमी द्वारा इसी शीर्षक को प्रकाशित पुस्तक की भूमिका में मीनाक्षी मुखर्जी ने लिखा “भारत में उपन्यास को एक उधार ली गई विधा, ब्रिटिश शासकों द्वारा 19वीं सदी में शुरू हुई की गई अंग्रेजी शिक्षा का परिणाम मानने की धारणा लंबे समय तक प्रश्न के घेरे में नहीं लाई गई। इस पुस्तक के उद्देश्यों में इस तरह की बनी-बनाई पिष्ठपेपित धारणाओं का परीक्षण करते हुए उपन्यास की स्थानीय तथा अन्य संस्कृतियों पर उपार्जित बहुरंगी विरासत के जटिल प्रश्न को संबोधित करने का प्रयास है। इस उपक्रम में उन दूसरे नियामकों की बहुलता पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है। जिनकी अंतः क्रिया और सामंजस्य ने भारत में उपन्यास की साहित्यिक विधा के उदय की उलझी हुई प्रक्रिया को अंजाम दिया।”<sup>3</sup> साहित्य एकेडमी के उपरोक्त दोनों सेमिनारों के उद्घाटन वक्तव्य हिन्दी साहित्यकारों द्वारा दिए गए। जहाँ सन् 1999 के सेमिनार का उद्घाटन निर्मल वर्मा ने किया, वहीं सन् 2000 में हुए सेमिनार का उद्घाटन नामवर सिंह ने किया। दोनों ने ही उपन्यास के पश्चिमी मॉडल पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए भारतीय उपन्यासों के अलग अनुभव, परंपरा और ढाँचे की बात उठाई। स्पष्ट है कि हिन्दी साहित्य चिंतन और आलोचना में उपन्यास को लेकर समकालीन उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श के प्रति सजगता विद्यमान है। सन् 1999 के अपने उद्घाटन भाषण में निर्मल वर्मा ने कहा कि उपन्यास के पश्चिमी रूप ने बहुस्तरीय भारतीय यथार्थ की अभिव्यक्ति को परिसीमित और क्षतिग्रस्त किया। 18वीं सदी और 19वीं सदी के योरोपीय उपन्यास व्यक्तिगत चेतना की स्वायत्त संवेदना से निर्मित हुए जबकि भारत में जिस समय उपन्यास एक पहले से ही उपलब्ध विधा के रूप में गृहीत हुआ, उस समय तक भारतीय समाज में व्यक्तिकरण की प्रक्रिया योरोप जैसी अवस्था में नहीं पहुँची थी। निर्मल वर्मा के अनुसार भारतीय नैतिक द्वंदों के भिन्न किस्म के आख्यान की आवश्यकता थी। भले ही महाकाव्य विधा के रूप में समाप्त हो गया रहा हो किन्तु महाकाव्यात्मक संवेदना मृत नहीं हुई थी।<sup>4</sup> यह विडम्बना ही है कि निर्मल जी योरोपीय नावेल की व्यक्तिगत चेतना के बरअक्स जिस सामूहिक नैतिक महाकाव्यात्मक चेतना को भारतीय बता रहे हैं। उसके प्रति सजगता साहित्य के क्षेत्र में मिथ और आद्यबिंबों पर योरोपीय चिंतन का ही परिणाम है।

निर्मल वर्मा के विचार अनेक प्रश्नों को जन्म देते हैं क्या उपन्यास के उदय का संबंध हमारी संवेदना के खंडित होने से जुड़ता है? कहानी कहने की देशज परंपराएँ किस प्रकार हमारे

औपन्यासिक आख्यानों को अधिक सर्जनात्मक बनाती हैं? क्या सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास भारतीय यथार्थ की अभिव्यक्ति को संकुचित करते हैं? स्पष्ट है कि राष्ट्र के संधान में उपन्यास को अपना ही पुनराविष्कार करना पड़ा। 'भारत में आरंभिक उपन्यास' शीर्षक सेमिनार के बीज वक्तव्य में नामवर जी की अद्यतन उत्तरऔपनिवेशिक आलोचनात्मक विमर्शों के प्रति सजगता दिखाई देती है। आरंभ में ही नामवर सिंह योरोप के मुकाबले भारत में उपन्यास विधा के देर से आने को बहुत महत्त्व नहीं देते हैं। लैटिन अमेरिका का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि उपन्यास विधा का उदय वहाँ हाल-फिलहाल की परिघटना है, फिर भी लैटिन अमरीका से ही मार्खेज जैसे उपन्यासकार की कालजयी कृति 'वन हंड्रेड ईयर्स ऑफ सालीट्यूड' निकली। नामवर जी ने यह रेखांकित किया कि जहाँ लैटिन अमरीका के देशों में कहानी कहने की वाचिक परंपरा ही विद्यमान थी, वहीं भारत में इसकी लंबी लिखित परंपरा भी चलती रही है। संस्कृत से भी अधिक उन्होंने पालि और प्राकृत की लिखित कथा-परंपरा पर बल दिया। लेकिन यह परंपरा 9वीं शताब्दी पर आ कर रूक जाती है और लगभग 1000 वर्ष बाद 19वीं सदी में कथा के औपन्यासिक रूप का विकास होता है। आख्यान की परंपरा में इस 1000 साल के व्यवधान या इन एक हजार वर्षों में लिखित (यदि हो तो) गद्य आख्यानों की अनुपलब्धता के ऐतिहासिक कारणों को शोध का विषय मानते हुए नामवर जी सीधे 19वीं सदी के उपन्यासों के बारे में वक्तव्य देते हैं। उन्हीं के शब्दों में "विधा के रूप में उपन्यास की हमारी धारणा मूलतः औपनिवेशिक है। ब्रिटिश अध्येताओं ने भारतीय उपन्यास को पश्चिम की नकल बताया। चूँकि वे इसे पश्चिम से प्रतिरोपित मानते थे लिहाजा हमने भी प्रारंभिक उपन्यासों के बारे में थोड़ा क्षमाप्रार्थी होते हुए उसी धारणा को अपना लिया।...उपन्यास को मूलतः एक उपार्जित विधा मानने के विचार की पुनर्परीक्षा जरूरी है। संभवतः हम बंकिमचंद्र चटर्जी से शुरू कर सकते हैं। उन्होंने उपन्यासकार के रूप में पहले पहल अंग्रेजी ढंग का उपन्यास अंग्रेजी भाषा में ही लिखा। लेकिन उनकी पहली मौलिक कृति 'कपाल कुंडला' थी जिसकी संरचना (उपन्यास की अपेक्षा) कादंबरी के अधिक निकट है और उसके संघटक तत्त्व अनुकरणात्मक नहीं हैं। आज तक भी हमारे कई महत्त्वपूर्ण उपन्यासों की संरचना एकरेखीय नहीं है। उदाहरण के लिए उड़िया में लिखे गोपीनाथ मोहंती के उपन्यास, बांग्ला में लिखे ताराशंकर बंदोपाध्याय के उपन्यास और हिन्दी में फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास। मलयालम में भी जब आरंभिक उपन्यास पर चर्चा होगी तो संभवतः मार्तण्ड वर्मा के उपन्यासों को 'इंदुलेखा' की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिलेगा, हालाँकि 'इंदुलेखा' का परिगणन मानक ग्रंथों में होता है क्योंकि उसका ढाँचा उपन्यास के पश्चिमी चौखटे के नजदीक है।"<sup>5</sup>

नामवर जी ने अपने वक्तव्य में कहा "चूँकि हमने यथार्थवाद को उपन्यास का संकेतचिह्न मान लिया, कुछ कृतियाँ हमारे दृष्टि-पटल से ओझल हो गई हैं। मैं यहाँ खुद को हिन्दी तक ही सीमित रखूँगा, हालाँकि मैं दूसरी भाषाओं में भी ऐसे उदाहरणों से अवगत हूँ। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरु' (1885) को अंग्रेजी ढंग से लिखा हिन्दी का पहला उपन्यास बताया। उन्होंने उसे इसलिए रेखांकित किया कि वह समकालीन यथार्थ को यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है। इस उपन्यास की चर्चा करने से ठीक पहले उन्होंने जगमोहन सिंह के उपन्यास 'श्यामा स्वप्न' (1885) की भूरि-भूरि प्रशंसा की लेकिन उसे उपन्यास का दर्जा नहीं दिया क्योंकि वह उपन्यास की विधागत अपेक्षाओं पर खरा नहीं उतरता। 'श्यामा स्वप्न' ने यथार्थवाद का इस्तेमाल नहीं किया। वह कादंबरी शैली का पुराने रोमांसों की तरह का ऐसा उपन्यास है जिसमें स्वप्न और फंतासी का समावेश किया गया है।"<sup>6</sup>

नामवर जी का यह कथन पूरी तरह सही नहीं है। सच यह है कि आचार्य शुक्ल ने परीक्षा गुरु को ही अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास माना। शुक्ल जी के शब्द हैं “...अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवास दास का परीक्षा गुरु ही निकला था।”<sup>7</sup> अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास कहने में ध्वनि यह है कि दूसरे ढंगों के उपन्यास भी शुक्ल जी के लिए अकल्पनीय नहीं थे। वास्तव में हिन्दी में आरंभिक अनूदित उपन्यास बाँग्ला से अनूदित हो रहे थे। और जैसा कि नामवर जी ने अपने इसी भाषण में इंगित किया है, बाँग्ला के भी बहुतेरे उपन्यास (नामवर जी ने ‘कपाल कुंडला’ का उदाहरण दिया है) ठीक-ठीक योरोपीय तर्ज पर नहीं लिखे जा रहे थे।

यह सच है कि शुक्ल जी ने ‘नये ढंग से उपन्यासों’ को खास रेखांकन के योग्य समझा। यथार्थवाद को वे कहीं न कहीं उपन्यास की ही नहीं वरन् आधुनिक साहित्य की कसौटी मानते थे। उपन्यास के विषय में उनके अनेक वक्तव्य इस ओर इंगित करते हैं। उदाहरण के लिए ‘इन उपन्यासों में देश के सर्वसामान्य जीवन के बड़े मार्मिक चित्र रहते थे।’<sup>8</sup> या ‘वर्तमान जगत में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है, समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न, कर सकते हैं।.... द्वितीय उत्थान के भीतर बाँग्ला से अनूदित अथवा उनके आदर्श पर लिखे गए उपन्यासों में देश की सामान्य जनता के गार्हस्थ्य और पारिवारिक जीवन के बड़े मार्मिक और सच्चे चित्र रहा करते थे। प्रेमचंद जी के उपन्यासों में भी निम्न और मध्यम श्रेणी के गृहस्थों का बहुत सच्चा स्वरूप मिलता रहा... उपन्यासों के भीतर लंबे-लंबे दृश्य वर्णनों तथा धाराप्रवाह भाव व्यंजनापूर्ण भाषण की जो प्रथा पहले थी, वह योरोप में बहुत कुछ छँट दी गई, अर्थात् वहाँ उपन्यासों से काव्य का रंग बहुत-कुछ हटा दिया गया। यह बात वहाँ नाटक और उपन्यास के क्षेत्र में “यथातथ्यवाद” प्रवृत्ति के साथ-साथ हुई। इससे उपन्यास कला की अपनी निज की विशिष्टता निखर कर झलकी, इसमें कोई संदेह नहीं।”<sup>9</sup>

लेकिन यथार्थवाद से अलग औपन्यासिक परंपरा को शुक्ल जी ने न वर्जित किया, न निषिद्ध। उन्होंने उपन्यास में प्रातिनिधिक और प्रतीकात्मक दोनों तरह की अभिव्यक्तियों में गहरे पार्थक्य को ठीक नहीं माना। वे उपन्यास के अनुकरणात्मक और सांकेतिक, प्रतीकात्मक या रूपकात्मक दोनों ही अभिव्यक्ति शैलियों को स्वीकार करते हैं। काव्यात्मकता, कल्पना, स्मृति और स्वप्न उनके लिए उपन्यास के ढाँचे में निषिद्ध नहीं थे। जबकि यूरोप में काव्यत्व को उपन्यास से बाहर रखने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। शुक्ल जी ने लिखा “उपन्यास और नाटक दोनों से काव्यत्व का अवयव बहुत कुछ निकालने की प्रवृत्ति किस प्रकार योरोप में हुई है, और दृश्य वर्णन, प्रगल्भ भावव्यंजना, आलंकारिक चमत्कार आदि किस प्रकार हटाए जाने लगे हैं, इसका उल्लेख अभी कर आए हैं, उनके अनुसार इस तृतीय उत्थान में हमारे उपन्यासों के ढाँचे में भी कुछ परिवर्तन हुआ। परिच्छेदों के आरंभ में लंबे-लंबे काव्यमय दृश्य वर्णन, जो पहले रहा करते थे बहुत कम हो गए, पात्रों के भाषण का ढंग भी कुछ अधिक स्वाभाविक और व्यावहारिक हुआ। उपन्यासों को काव्य के निकट रखने वाला पुराना ढंग भी कुछ अधिक स्वाभाविक और व्यावहारिक हुआ। उपन्यासों को काव्य के निकट रखने वाला ढाँचा एकबारगी छोड़ नहीं दिया गया है। छोड़ा क्यों जाय? उसके भीतर हमारे भारतीय गद्यप्रबंधों (जैसे-कादंबरी, हर्षचरित) के स्वरूप की परंपरा छिपी हुई है। योरोप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे। यह कुछ आवश्यक नहीं कि हम हर एक कदम उसी के पीछे-पीछे रखें। अब यह आदत छोड़नी चाहिए कि कहीं

हार्डी का कोई उपन्यास पढ़ा और उसमें अवसाद या दुःखवाद की गंभीर छाया देखी तो चट बोल उठे कि अभी हिन्दी के उपन्यासों को यहाँ तक पहुँचने में बहुत देर है। बौद्धों के दुःखवाद का संस्कार किस प्रकार जर्मनी के शोपनहावर से होता हुआ हार्डी तक पहुँचा, यह भी जानना चाहिए।<sup>10</sup>

शुक्ल जी ने आख्यान की देशज परंपरा और आधुनिक उपन्यासों का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा, “जिस प्रकार गीत गाना और सुनना मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है उसी प्रकार कथा कहानी कहना और सुनना भी। कहानियों का चलन सभ्य-असभ्य सब जातियों में चला जा रहा है। सब जगह उसका समावेश शिष्ट साहित्य के भीतर भी हुआ है। घटना प्रधान और मार्मिक, उनके ये दो स्थूल भेद भी बहुत पुराने हैं और इनका मिश्रण भी। वृहत्कथा, बैतालपचीसी, सिंहासनबत्तीसी, इत्यादि घटनाक्रम में रमाने वाली कथाओं की पुरानी पोथियाँ हैं। कादंबरी, माधवानल, सीत बसंत, इत्यादि वृत्त वैचित्र्यपूर्ण होते हुए भी कथा के मार्मिक स्थलों में रमाने वाला भाव प्रधान आख्यान है। इन दोनों कोटि की कहानियों में एक बड़ा भारी भेद तो यह दिखाई देता है कि प्रथम में इतिवृत्त का प्रवाहमान अपेक्षित होता है; पर दूसरी कोटि की कहानियों में भिन्न-भिन्न स्थितियों का चित्रण या प्रत्यक्षीकरण भी पाया जाता है।

आधुनिक ढंग के उपन्यासों और कहानियों के स्वरूप का विकास इसी भेद के आधार पर क्रमशः हुआ है। इस स्वरूप के विकास के लिये कुछ बातें नाटकों की ली गई हैं, जैसे, कथोपकथन, घटनाओं का विन्यास वैचित्र्य, बाह्य और आभ्यांतर परिस्थिति का चित्रण तथा उसके अनुरूप भावव्यंजना। इतिवृत्त का प्रवाह तो उसका मूल रूप था ही; वह तो बना ही रहेगा। उनमें अंतर इतना ही पड़ा कि पुराने ढंग की कथा कहानियों में कथा का प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला चलता था जिसमें घटना पूर्वापर क्रम से जुड़ती सीधी चली जाती थी। पर योरोप में जो नये ढंग के कथानक नावेल के नाम से चले और बंगभाषा में आकर ‘उपन्यास’ कहलाए (मराठी में वे ‘कादंबरी’ कहलाने लगे) वे कथा के भीतर की कोई भी परिस्थिति आरंभ में रख कर चल सकते हैं और उसमें घटनाओं की शृंखला लगातार सीधी न जा कर इधर-उधर और शृंखलाओं से गुंफित होती चलती है और अंत में जाकर सबका समाहार हो जाता है। घटनाओं के विन्यास की यह वक्रता या वैचित्र्य उपन्यासों और आधुनिक कहानियों की वह प्रत्यक्ष विशेषता है जो उन्हें पुराने ढंग की कथा कहानियों से अलग करती हैं।<sup>11</sup>

उनके लिए कथा की विभिन्न परंपराओं में जो भेद था, वह परंपरा/आधुनिकता के द्वैत को अधिक रेखांकित करता है, योरोप गैर-योरोप के द्वैत को कम। भगवतीचरण वर्मा के गैर-यथार्थवादी उपन्यास ‘चित्रलेखा’ का स्वागत करते हुए शुक्ल जी ने लिखा, “लोक की सामयिक परिस्थितियों तक ही न रह कर जीवन के नित्य स्वरूप की विषमताएँ और उलझनें सामने रखने वाले उपन्यास भी योरोप में लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। जीवन में कुछ बातों का जो मूल्य चिरकाल से निर्धारित चला आ रहा है जैसे पाप और पुण्य का उनकी मीमांसा में भी उपन्यास प्रवृत्त हुआ है। इस प्रकार उपन्यासों का लक्ष्य वहाँ क्रमशः ऊँचा होता गया जिसने जीवन के नित्य स्वरूप का चिंतन और अनुभव करने वाले बड़े-बड़े कवि इधर उपन्यास के क्षेत्र में भी काम करते दिखाई देते हैं। बड़े हर्ष की बात है कि हमारे हिन्दी साहित्य में भी बाबू भगवतीचरण वर्मा ने ‘चित्रलेखा’ नाम का इस ढंग का एक सुंदर उपन्यास प्रस्तुत किया है।<sup>12</sup>

नामवर जी ने अपने वक्तव्य में भले ही देशज आख्यान परंपराओं का जिक्र किया लेकिन उनका मुख्य बल उपन्यास को राष्ट्रीय रूपक के बतौर पढ़ने पर ही है, जो कि फ्रेडरिक जेम्सन



की तीसरी दुनिया के उपन्यासों के बारे में महत्त्वपूर्ण धारणा है। हालाँकि साहित्य की प्रतीकवादी समझ और व्याख्या का इतिहास और भी पुराना है, खास तौर पर नई समीक्षा के समय से। नई समीक्षा ने साहित्य को सामाजिक व्यवहार की अपेक्षा सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति मानने पर बल दिया। प्राक् संरचनावादी नॉर्थ्रप फ्राई ने तो साहित्य को उसके बाहर स्थित किसी यथार्थ को जानने का साधन मानने की धारणा का निषेध किया है। फ्राई के लिए साहित्य एक सामूहिक आदर्शात्मकस्वप्न प्रक्रिया है जो कि इतिहास में सतत् चलती रहती है। साहित्य उन मूलभूत मानवीय इच्छाओं की अभिव्यक्ति है जिन्होंने सभ्यता को जन्म दिया पर कभी भी पूर्ण नहीं हो सकीं। साहित्य व्यक्ति के रूप में रचनाकार की कृति न हो कर मानव जाति की सामूहिक चेतना की सार्वभौम अभिव्यक्ति मानी गई। आगे चलकर मिथ और आद्यबिम्बों की संरचना के साथ साहित्य की समानता को लेकर चले अध्ययनों ने खास देशकाल के यथार्थ की अभिव्यक्ति के रूप में साहित्य को पढ़ने-समझने की धारणा को चुनौती दी। सस्यूर के भाषा चिंतन ने साहित्य को भाषिक संकेतचिह्नों की व्यवस्था के रूप में देखा। रूसी रूपवादियों और संरचनावादियों ने हरेक पाठ को एक संकेत व्यवस्था के बतौर परिभाषित किया। उत्तर-संरचनावाद ने हरेक पाठ को एक संकेत व्यवस्था के बतौर परिभाषित किया। उत्तर-संरचनावाद तक पहुँचते-पहुँचते बाहरी यथार्थ की संकल्पना ही साहित्य के संदर्भ से खारिज हो गई। भाषा से बाहर कोई यथार्थ न रहा। भाषा यथार्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं रही बल्कि स्वयं यथार्थ और 'मानवीय कर्ता' भाषा की निर्मित माने गए। साहित्य चिंतन की इस पूरी विकासयात्रा में 'यथार्थवाद' साहित्य का निकष नहीं रहा और चूँकि उपन्यास एक विधा के रूप में सर्वाधिक यथार्थवादी माना गया था, अतः उपन्यास की संरचना और अभिव्यक्ति शैली ही इस रस्साकशी का केन्द्र बन गई।

नामवर सिंह के वक्तव्य में यह बात तो ठीक है कि शुक्ल जी ने यथार्थवादी पद्धति के उपन्यासों को वरीयता दी किन्तु यह बात गलत है कि उन्होंने सांकेतिक या रूपकात्मक शैली के उपन्यासों तथा देशज गद्य आख्यान परंपराओं का निषेध किया। नामवर जी के वक्तव्य में जो मूल ध्वनि है, वह उपन्यास की एक वैकल्पिक अवधारणा की खोज से संबंध रखती है।

नामवर जी ने लेस्ली फीडलर की एक टिप्पणी को उद्धृत किया है, जिसमें उन्होंने उत्तर अमरीकी उपन्यासों के बारे में चर्चा करते हुए देश और उपन्यास का जन्म एक साथ बतलाया है। उपन्यास को आधुनिकता, मध्यवर्ग, लोकजीवन, यथार्थवाद आदि के ही संदर्भ में परिभाषित किया जाता रहा है, लेकिन उत्तरोत्तर राष्ट्र तथा राष्ट्रवाद के साथ उपन्यास के संबंध को महत्त्व दिया जाने लगा। उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शों ने उपन्यास के उदय और विकास को विशिष्ट औपनिवेशिक संदर्भों में रख कर देखने का प्रयास किया है। खास तौर पर एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के उपन्यासों में राष्ट्र की निर्मिति और राष्ट्रीयता के स्वर का संधान प्रमुख रहा। उपन्यास राष्ट्र निर्माण के घटक समझे गए। बेनेडिक्ट एण्डरसन ने राष्ट्र को एक ऐसा कल्पित समुदाय बताया जो कि प्रथमतः कल्पना है और बाद में वास्तविकता का रूप धारण करता है। राष्ट्र यदि एक कल्पना है तो उपन्यास इस कल्पना की निर्मिति का महत्त्वपूर्ण (संभवतः आवश्यक) घटक है। नामवर जी ने अपने वक्तव्य में यह कहा कि 1857 का प्रथम स्वाधीनता संग्राम भारतीय राष्ट्रीयता की पहली अभिव्यक्ति थी अतः आश्चर्य नहीं कि उपन्यास का उदय भारत में इस घटना के ठीक बाद हुआ। नामवर जी ने अपने इस वक्तव्य में लैटिन अमरीका, अफ्रीका और एशिया के साथ-साथ रूस में भी उपन्यास के उदय को राष्ट्रीयता से जुड़ा बताया।

नामवर सिंह जी ने उपन्यास की सैद्धांतिकी के विषय में भी कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाए। उनके अनुसार रामचंद्र शुक्ल उपन्यास के ढाँचे को आयातित मानते हुए भी उसकी अंतर्वस्तु को भारतीय मानते थे। बाद के साहित्येतिहासकारों ने भारतीय उपन्यास को पश्चिमी ढाँचे और देशज आख्यान परंपराओं के बीच तनाव से निर्मित माना। इस तरह की सैद्धांतिकी को गलत सिद्ध करते हुए उसे उन्होंने 19वीं सदी के विधेयवादी चिंतन का परिणाम बताया। हेडेन वाइट के प्रसिद्ध जुमले “रूप कि अंतर्वस्तु” का सहारा लेते हुए उन्होंने कहा कि जब हम आख्यान के बारे में विचार करते हैं तो यह समझना चाहिए कि रूप अपनी पूर्वनिर्धारित अंतर्वस्तु के साथ ही आता है। रूप ही अंतर्वस्तु है। यहाँ नामवर जी का संरचनावादी आग्रह स्पष्ट हो जाता है। नामवर जी की व्याख्या के अनुसार, उपन्यास के विधेयवादी, यथार्थवादी पश्चिमी ढाँचे में भारतीय अंतर्वस्तु को अँटया नहीं जा सकता। डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने ‘राष्ट्रवाद, उपन्यास और प्रेमचंद’ नामक अपने महत्वपूर्ण लेख में नामवर जी की इस धारणा पर प्रेमचंद के बहाने प्रश्न चिह्न लगाया है। अपने उक्त निबंध में नामवर सिंह के आशय को समेटते हुए मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं: “हिन्दी में नामवर सिंह ने बेनेडिक्ट एंडरसन और फ्रेडरिक जेम्सन की मान्यताओं की मदद से भारतीय राष्ट्रवाद और भारतीय उपन्यास के संबंधों की खोज और दोनों की भारतीयता की पहचान का एक प्रयत्न अपने निबंध ‘अंग्रेजी ढंग का नावेल और भारतीय उपन्यास’ में किया है। नामवर सिंह के अनुसार, भारतीय राष्ट्रवाद की चिंता का केन्द्र था कोई असली भारत। मनोवांछित भारत। कल्पना का भारत और उसके राष्ट्रीय रूपक हैंबाँगला के बंकिमचंद्र, हिन्दी के ठाकुर जगमोहन सिंह तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी के कपाल-कुंडला, श्यामा-स्वप्न और बाणभट्ट की आत्मकथा जैसे ऐतिहासिक और व्यक्तिगत रोमांस या रोमांसधर्मी उपन्यास। वे न तो उस राष्ट्रवाद को महत्वपूर्ण मानते हैं जिसका आधार था उस समय का वास्तविक भारत, ‘आँखों के सामने रोज-रोज दिखाई पड़ने वाला भारत’ और न उस भारत की पराधीनता के यथार्थ, उसकी स्वाधीनता की आकांक्षा और उसके लिए संघर्ष के प्रयत्नों का चित्रण करने वाले सामाजिक यथार्थवाद के उपन्यासों को, क्योंकि उन्हें वे राष्ट्रीय रूपक नहीं लगते।”<sup>13</sup> मैनेजर पाण्डेय ने उपन्यास के पश्चिमी ढाँचे की बहस से ज्यादा महत्वपूर्ण राष्ट्र की अलग-अलग अवधारणाओं को माना है, जो कि रोमांस शैली और यथार्थवादी शैली के भिन्न-भिन्न उपन्यासों में आकार ग्रहण कर रही थी। जहाँ नामवर सिंह राष्ट्रवाद की धारणागत बहुलता को चिह्नित नहीं करते और राष्ट्रीयता के स्वर को एकवचन में सीमित करते हुए उसकी अभिव्यक्ति कल्पना-प्रधान उपन्यासों में देखते हुए उसे ही देशज परंपरा का विकास मानते हैं, वहीं मैनेजर पाण्डेय के लिए राष्ट्र स्वयं बहुवचनीय है और वह जितना काल्पनिक, रूपकात्मक शैली के उपन्यासों में मुखरित है, उतना ही सामाजिक यथार्थवादी उपन्यासों में। शुक्ल जी की तरह मैनेजर पाण्डेय भी यथार्थवाद के प्रचलित रूपों को छोड़कर अमूर्तन का भी इस्तेमाल करते हुए समय और समाज की धड़कती हुई वास्तविकता के चित्रण को न तो असंगत मानते हैं और न ही निषिद्ध मानते हैं। ‘हंस’ के उपन्यास केन्द्रित अंक में वे लिखते हैं, “यथार्थवाद के प्रचलित भेदों से चिपके रहने के कारण ही अनेक आलोचक न तो उस प्रकार के यथार्थ दृष्टिकोण को समझ पाते हैं, जिसे जादुई यथार्थवाद कहा जाता है और न वे उपन्यास में यथार्थ से अमूर्तन के रचनात्मक संबंध की पहचान कर पाते हैं। यथार्थ और अमूर्तन को परस्पर विरोधी मानने के कारण ही जार्ज लुकाच काफ़का की प्रायः निंदा किया करते थे।”<sup>14</sup> पाण्डेय जी का उपरोक्त वक्तव्य सचेत ढंग से अमूर्तन का प्रयोग करने वाले उन उपन्यासकारों को ध्यान में रख कर दिया गया लगता है जो यथार्थ की जटिल परतों के उद्घाटन के लिए तथा समग्रतर यथार्थ को सामने लाने के लिए इस प्रविधि का इस्तेमाल

करते हैं। काफ़का से लेकर मार्खेज तक इसी कोटि में आते हैं। लेकिन आरंभिक भारतीय उपन्यासों के उदय का भिन्न परिप्रेक्ष्य स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा, “जब भारत में उपन्यास का उदय हो रहा था, तब देश गुलाम था। उस समय अंग्रेजी राज के अत्याचारों से भरे हुए असह्य वर्तमान से मुक्ति की तलाश भारतीय जनता को भी और रचनाकारों को भी। रचनाकारों के सामने मुक्ति के दो मार्ग थे। एक अतीत या भविष्य के मायालोक में ले जाने वाला था। वर्तमान के यथार्थ के बोध और प्रतिरोध की ओर पहुँचने वाला। रोमांस के रचनाकार पहले मार्ग पर चल रहे थे और सामाजिक यथार्थवाद के उपन्यासकार दूसरे पर। केवल यही दूसरा मार्ग जनता को भी उपलब्ध था इसलिए सामाजिक यथार्थवाद के लेखन वर्तमान के बोध और प्रतिरोध के मार्ग पर चलने की प्रक्रिया में साधारण जनता के साथ थे।”<sup>15</sup> ‘वे बेनेडिक्ट एंडरसन द्वारा परिभाषित राष्ट्र की अवधारणा को प्रश्नांकित करते हुए उपन्यास के साथ उसके संबंध को एकांगी मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, “जब राष्ट्रवाद से उपन्यास के संबंध पर विचार के आरंभ में ही यह मान लिया जाता है कि उपन्यास आधुनिक राष्ट्र का आख्यान है, वह एक कल्पित समुदाय के रूप में राष्ट्र का निर्माता है या कि वह राष्ट्र की उपज है, तब राष्ट्र और राष्ट्रवाद से उपन्यास के संबंध की खोज का एकतरफा रास्ता सामने रह जाता है, जिस पर चलकर यह साबित करना सरल होता है कि राष्ट्र की कल्पना और राष्ट्रवाद की निर्मिति में उपन्यास की क्या भूमिका होती है? इसी विचार-प्रक्रिया के कारण उपन्यास को राष्ट्र का संकेत, प्रतीक और रूपक (मेटाफर और अलेगरी) कहा जाता है लेकिन उपन्यास ऐसी विधा है जिसमें अपनी और दूसरों की आलोचना की अपार क्षमता होती है। वह सभी सामाजिक शक्तियों, भौतिक परिस्थितियों और विचारधाराओं का सशक्त प्रतिरोध और आलोचक रहा है जो उसके उदय, विकास और रूप के निर्माण के कारण होता है। इसीलिए वह राष्ट्रवाद का जितना द्योतक है, उससे अधिक उसका आलोचक है।”<sup>16</sup> निर्मल वर्मा ने उपन्यास के संदर्भ में पश्चिमी मॉडल की आलोचना करते हुए भारतीय यथार्थ के लिए महाकाव्यात्मक संवेदना को महत्त्वपूर्ण माना था, “हमने अपने कथात्मक गद्य के लिए उपन्यास जैसी ‘विधा’ को चुना जो (पश्चिम के) नितान्त भिन्न सांस्कृतिक अनुभव क्षेत्र में पनपी और विकसित हुई थी... प्रेमचंद से लेकर अधुनातन उपन्यासकारों ने कभी उपन्यास की विधा पर शंका प्रकट नहीं की, अपने अनुभव के संदर्भ में पुनः परीक्षा तो दूर की बात थी।”<sup>17</sup> निर्मल वर्मा लंबे समय से भारतीयता के एक विशिष्ट स्वरूप को स्मृति और परंपराओं के सहारे अर्जित करने को लेकर चिंतित रहे। उपन्यास की अपेक्षा भारतीयता को वे महाकाव्य की संवेदना से अधिक घनिष्ट रूप से जुड़ा मानते हैं। यही अवसर नहीं कि हम उनकी भारतीयता की धारणा का विवेचन करें किंतु उपन्यास के संदर्भ में इस नुक्ते से वे जो सैद्धांतिक विधागत प्रश्न उठाते रहे उसका अधिक सुलझा हुआ विवेचन मैनेजर पाण्डेय के इस लेख में व्यक्त हुआ है, “उपन्यास आधुनिक युग का महाकाव्य कहा जाता है, इसीलिए वह राष्ट्र की पुरानी स्मृति का आधुनिक उत्तराधिकारी है। लेकिन उपन्यास का स्वभाव महाकाव्य से भिन्न होता है। महाकाव्य में जातीय जीवन के अतीत का गौरव गान होता रहा है। जबकि उपन्यास का संबंध समकालीन सामाजिक प्रक्रियाओं से होता है और वे सामाजिक प्रक्रियाएँ राष्ट्र के शासक वर्ग की विचारधारा की एकाचिति और एकस्वरता का खंडन करती हैं। यही नहीं, वह राष्ट्र की कल्पित सामूहिकता के समक्ष विभिन्न समुदायों, वर्गों और अस्मिताओं को प्रस्तुत करता हुआ राष्ट्रवाद की समग्रतावादी विचारधारा के एकाधिपत्य को तोड़ता है।

दुनिया-भर के उपन्यास के इतिहास से यह साबित होता है कि उपन्यास का रूप अत्यंत

लचीला, गतिशील, बहुआयामी और प्रयोगधर्मी होता है, इसीलिए मिखाइल बाख्तिन ने उपन्यास के सिद्धांतकारों को चेतावनी देते हुए कहा था कि उपन्यास का वह प्रत्येक सिद्धांत उलझाव का शिकार होता है जो उसे कुछ स्थायी विशेषताओं और विचारधारात्मक बंधनों में बाँधना चाहता है। राष्ट्रवाद भी एक विचारधारा है, जिसके बंधनों में बाँधना उपन्यास स्वीकार नहीं करता।<sup>18</sup> मैनेजर पांडेय ने न केवल राष्ट्रवाद को एकवचनीय मानने के प्रति सावधान किया बल्कि उसके साथ उपन्यास के संबंध को भी वैविध्यपूर्ण माना है “ऐतिहासिक और व्यक्तिगत रोमांस के उपन्यास जिस तरह के राष्ट्रवाद के पोषक होते हैं, वैसे राष्ट्रवाद से सामाजिक यथार्थवाद के उपन्यासों का स्थायी विरोध होता है। रोमांसधर्मी उपन्यासकारों में वर्तमान के बोध की जगह अतीत की स्मृति या भविष्य की कल्पना अधिक होती है। उनकी आख्यान की पूरी संस्कृति पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद की मदद करती है जबकि सामाजिक यथार्थवाद के उपन्यास अपने समय के और समाज की सच्चाईयों का साक्षात्कार करते हुए मुक्तधर्मी और अग्रगामी राष्ट्रीय चेतना निर्माण करते हैं उनमें जनता की जिंदगी की वास्तविकताओं तथा लोकतांत्रिक आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होती है और राष्ट्रवाद के हाशिये पर रहने वालों की आवाज सुनाई देती है।<sup>19</sup> मैनेजर पांडेय ने इस लेख में यह दिखलाया कि योरोप में उपन्यास का जन्म राष्ट्र-राज्य के साथ हुआ था और वह कभी-कभी उस राष्ट्र-राज्य के उपनिवेशवादी अभियान का सहचर भी बना। एडवर्ड सैड की दो महत्वपूर्ण कृतियाँ ‘प्राच्यवाद’ तथा ‘संस्कृति और साम्राज्यवाद’ में इस प्रक्रिया का बेहतर संकेत मिलता है। एशिया, अफ्रीका के पराधीन देशों के राष्ट्रवादों की चर्चा करते हुए मैनेजर पांडेय ने इस लेख में यह उचित ही रेखांकित किया है कि राष्ट्रवाद हमेशा मुक्तिधर्मी और मूलगामी नहीं होता। स्वाधीनता आंदोलन के समय के राष्ट्रवादी विमर्श में बहुधा किसान, मजदूरों-स्त्रियों और दलितों को राष्ट्रवाद की मुख्यधारा की कल्पना में स्थान नहीं दिया गया था। सबाल्टर्न इतिहास लेखन इसी राष्ट्रवादी विमर्श के प्रतिरोध में खड़ा हुआ, जिसमें जनता एक बेचेहरा और बेजुबान भीड़ के अलावा कुछ नहीं थी। हिन्दी उपन्यास ने इस उच्चवर्गीय राष्ट्रवादी विमर्श के सुर में सुर नहीं मिलाया बल्कि राष्ट्रनिर्माण में जनता के वास्तविक तबकों की भूमिका को रेखांकित करते हुए प्रभुत्वशाली राष्ट्रवादी विमर्श की खरी आलोचना की। प्रेमचंद के उपन्यास इसकी सर्वोच्च मिसाल हैं। मैनेजर पांडेय लिखते हैं “यद्यपि स्वाधीनता आंदोलन के काल में राष्ट्रवादी विमर्श समूचे भारतीय समाज के बारे में बोलने का दावा और दिखावा करता था, लेकिन उसमें उच्च वर्गों की आकांक्षाओं की आवाज अधिक सुनाई देती थी। उस राष्ट्रवाद ने जिस मुख्यधारा की कल्पना की थी, उसका देश के गरीब किसानों, मजदूरों, स्त्रियों और दलितों के साथ संबंध उपयोग और उपेक्षा का था। इस स्थिति में स्वाधीनता आंदोलन के काल में जिन उपन्यासों में राष्ट्रवाद की मुख्यधारा से बहिष्कृत बेजुबान और उपेक्षित किसानों, मजदूरों, स्त्रियों और दलितों की पराधीनता की यातना की ऐतिहासिक ट्रेजडी का आख्यान है, उनमें उस राष्ट्रवाद का पोषक कोई रूपक नहीं, उसकी खरी आलोचना है।<sup>20</sup> जहाँ तक आजादी के बाद के राष्ट्रवाद का सवाल है तो हिन्दी उपन्यास उसके सतत विरोध में ही खड़ा दिखाई देगा। उपन्यास की क्यों, हिन्दी का अधिकांश काव्य भी। आजादी के बाद के प्रभुत्ववादी राष्ट्रवाद की चर्चा करते हुए मैनेजर पांडेय ने लिखा, “आजादी के बाद के पचास वर्षों में भारतीय जनता के राष्ट्रवाद का जो अनुभव होता रहा है उससे स्पष्ट है कि राष्ट्रवाद एक बहाना भी है राजसत्ता को अधिक दमनकारी बनाने का, उच्च वर्गों की हित साधना का, एक समुदाय के वर्चस्व का, हर अस्वीकार के दमन का, देश के भीतर पनपने वाली विभिन्न अस्मिताओं के अस्वीकार का, स्त्रियों की अनेक प्रकार की पराधीनताओं को

गौरवान्वित करने का, दलितों की आवाज दबाने का और आजकल बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगे आत्मसमर्पण का। इन सबके लिए उसके अनेक रूप भी दिखाई देते हैं : राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, सांप्रदायिक, नस्लवादी और अनन्यतावादी आदि।”<sup>21</sup> मैनेजर पांडेय का यह लेख दो हिस्सों में विभाजित है। पहले हिस्से में राष्ट्रवाद के साथ उपन्यास विधा के संबंध की सैद्धांतिकी पर चर्चा है और दूसरे हिस्से में हिन्दी उपन्यास की श्रेष्ठतम उपलब्धि के बतौर प्रेमचंद के उपन्यासों की चर्चा है। राष्ट्रवाद और सामाजिक यथार्थवादी उपन्यास के बीच के द्वंद्वात्मक संबंध की श्रेष्ठ उपलब्धि के रूप में प्रेमचंद की प्रस्तुति वास्तव में हिन्दी आलोचना में लंबे समय से प्रेमचंद की कथा परंपरा को विस्थापित करने के प्रयासों का उचित जवाब भी है। लेकिन इस लेख का सैद्धांतिक पक्ष भी उतना ही महत्वपूर्ण है। उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शों के साथ अनालोचनात्मक- अनुकरणात्मक संबंध हिन्दी साहित्य को समझने का रास्ता नहीं हो सकता है। मैनेजर पांडेय का यह लेख इसकी शक्तिशाली अभिव्यक्ति है। वे बेनेडिक्ट एंडरसन और फ्रेडरिक जेम्सन, दोनों की धारणाओं को समस्याग्रस्त बनाते हैं। लेकिन प्रेमचंद के प्रसंग में फ्रैंज फैनन का सकारात्मक उद्धरण देते हैं। फ्रैंज फैनन ने लिखा है कि “अगर साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष समय राष्ट्रीय चेतना को सामाजिक चेतना नहीं बनाया गया तो भविष्य मुक्ति का नहीं, उपनिवेशवाद के बदले हुए रूप का होगा। इसलिए राष्ट्रीय चेतना को सामाजिक और राजनीतिक आवश्यकताओं में रूपांतरित करते हुए उसे अधिक व्यापक और गहरा अर्थात् वास्तविक रूप में मानवीय बनाना जरूरी है।”<sup>22</sup> लेख के प्रथम हिस्से का समाहार करते हुए पांडेय जी ने पार्थ चटर्जी के हवाले से बेनेडिक्ट एंडरसन की धारणाओं पर तीखे संवाल उठाए हैं: “पार्थ चटर्जी ने भारत जैसे देशों के राष्ट्रवाद को पश्चिम के राष्ट्रवाद से स्वतंत्र साबित करने के लिए एंडरसन से यह सवाल पूछा है कि राष्ट्र अगर कल्पित समुदाय है, तो वह किसकी कल्पना का समुदाय है। यह सवाल भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में भी पूछा जाना चाहिए ताकि उसके सामाजिक आधार, राजनीतिक उद्देश्य और विचारधारात्मक अभिप्राय की वास्तविकता सामने आए। एंडरसन कहते हैं कि राष्ट्र में वास्तविक विषमता और शोषण होने के बावजूद राष्ट्रवाद में एक प्रकार के गहरे साहचर्य की कल्पना होती है। लेकिन भारत जैसे देशों में जहाँ उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय संघर्ष हुए हैं, वहाँ कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो विषमता और शोषण की वास्तविकता की उपेक्षा करने वाले राष्ट्रवाद के बारे में यह प्रश्न पूछते हैं कि राष्ट्र किसकी कल्पना का-समुदाय है, सामंतों पूँजीपतियों और उनके प्रतिनिधियों की कल्पना का या उनके द्वारा शोषित और दलित जनसमुदाय की कल्पना का। प्रेमचंद के साहित्य में ऐसे सवाल उनके द्वारा बार-बार पूछे गए हैं जो राष्ट्रवाद के हाशिए पर थे। स्वयं प्रेमचंद ने भी यह सवाल बार-बार पूछा है और उसका जवाब भी दिया है।”<sup>23</sup> उत्तर-आधुनिवेशिक विमर्शों के भीतर ही दरअसल एक महत्वपूर्ण तनाव है। इस तनाव को थोड़ा सरलीकृत करके कहें तो वह उत्तर-औपनिवेशिकता के उत्तरसंरचनावादी प्रारूप तथा उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों से प्राप्त चेतना के बीच है। यूँ तो फ्रैंज फैनन का भी उत्तर-संरचनावादी भाष्य तैयार हो गया लेकिन मूलतः वे तथा बहुतेरे अन्य चिंतक जिन्हें आज उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शों में बहुमान प्राप्त है, अपने-अपने देशों के मुक्ति-योद्धा थे। मैनेजर पांडेय ने उपन्यास और राष्ट्रवाद की चर्चा में प्रेमचंद को केन्द्र में रखकर उत्तर-औपनिवेशिकता के उपनिवेशवाद-विरोधी स्वर को प्रगाढ़ करते हुए उसके संकेतशास्त्रीय निर्मितिवादी प्रारूप के साथ बहस की है। इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले फ्रेडरिक जेम्सन के साथ एजाज अहमद की बहस को भी याद कर लेना जरूरी है। एजाज अहमद ने फ्रेडरिक जेम्सन द्वारा तीसरी दुनिया की कृतियों को अनिवार्यतः

राष्ट्रीय रूपक के बतौर पढ़े जाने के प्रस्ताव से सैद्धान्तिक रूप से बहस करने के पश्चात् 19वीं, 20वीं सदी के उर्दू साहित्य के हवाले से अपनी बातों को पुष्ट किया है। 1870 के दशक के रतननाथ सरशार के 'फसाना-ए-आजाद' के किशतों में प्रकाशन से लेकर डिप्टी नजीर अहमद के उपन्यासों से होते हुए मीर हादी हसन रुसवा के 'उमरावजान अदा' तक उर्दू उपन्यासों के विवेचन में प्रवृत्त होते हुए एजाज अहमद ने इन उपन्यासों में उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के अनुभवों की अपेक्षा दूसरे तरह के दबावों और विषयों को सक्रिय पाया। यदि कोई इन उपन्यासों-को राष्ट्रीय रूपक के बतौर पढ़ना चाहे तो उसे इनमें राष्ट्रीयता का अत्यंत अप्रत्यक्ष स्वर ही मुश्किल से मिलेगा। 1930-40 के दशक में प्रगतिशील लेखक संघ के दौर में उपनिवेशवाद-विरोध अधिक समग्र, बहुआयामी आत्मालोचना के रूप में ही दिखाई पड़ता है। अपने देश की वर्ग संरचनाएँ पारिवारिक विचारधाराएँ आदर्शवाद और लैंगिकता के प्रश्न अधिक प्रधान थे। आलोचनात्मक यथार्थवाद यह माँग करता था कि उपनिवेशवाद के देशज आधारों की आलोचना की जाय। एजाज अहमद लिखते हैं, 'मैं 1935 से 1947 के बीच उर्दू में लिखा कोई एक भी उपन्यास ऐसा नहीं पाता हूँ जिसमें उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के एकांतिक और प्रत्यक्ष अनुभव प्रमुख हों। उस दौर के जिन उपन्यासों को मैं जानता हूँ उनमें प्रधानतः अलग तरह की चीजें हैं सामंती जमींदारों की बर्बरता... किसानों और निम्नवर्ग के जीवन पर महाजनो का कसता शिकंजा, स्कूली लड़कियों की सामाजिक और यौन कुंठाएँ आदि। उनमें से कई उपन्यासों में उपनिवेशवाद-विरोध का विषय परोया हुआ है लेकिन कहीं भी उस पर एकांतिक बल या केन्द्रीय महत्त्व नहीं दिया गया। ...उर्दू साहित्य में 'राष्ट्र' प्राथमिक वैचारिक समस्या के रूप में आजादी के समय ही उभर कर आता है क्योंकि हमारी आजादी भी अलग किस्म की थी जो कि देश विभाजन के साथ आई। 1950 और 1960 के दशक का कथा-साहित्य चाहे वो मंटो, बेदी और इंतजार हुसैन की कहानियाँ हों या कुर्तुल एन हैदर, खदीजा मसरूर, अब्दुल्ला हुसैन के उपन्यास सभी में कहीं भी खुद को एक राष्ट्रीय समुदाय के रूप में नहीं बख्शा गया, उन बातों के लिए जो हम अपनी राजनीति के साथ करते हैं, कर रहे हैं।... एक सामान्य अर्थ में इस कथा साहित्य में 'राष्ट्र' का संदर्भ है लेकिन राष्ट्रवाद का नहीं। पाकिस्तान में तो एक दूसरी ही शंका व्यक्त की जाती है...क्या हम राष्ट्र हैं भी?

मैं निश्चित तौर पर कह सकता हूँ कि अधिकांश वामपंथ ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा 'नहीं'।<sup>24</sup> हिन्दी और उर्दू के उपन्यासों पर राष्ट्रवाद के संदर्भ में विचार करते हुए मैनेजर पांडेय और एजाज अहमद ने उच्च उत्तर-औपनिवेशिक सैद्धान्तिकी को नाकाफी पाया है। वे उसके महत्त्वपूर्ण आचार्यों से शास्त्रार्थ में उतरे हैं और अपनी ठेठ जमीन पर उन्होंने हिन्दी-उर्दू की साहित्यिक अभिव्यक्तियों की संश्लिष्टता को रेखांकित किया है।

(अभिनव भारती, 2006-07 व 2007-08 से)

## संदर्भ

1. मैनेजर पाण्डेय : 'उपन्यास का समाजशास्त्र' शीर्षक अध्याय, अनभै साँचा, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृ. 48
2. Ramakrishnan, E.V.(Ed.) : Introduction, Narrating, Narrating India: The Novel In Search of The Nation, Sahitya Academy, Delhi, 2005, pg.12.
3. Mukharjee, Meenakshi (Ed.) : Introduction, Early Novels In India, Sahitya Academy, 2002, pg. vii

4. Ramakrishnan, E.V.(Ed.) : Introduction, Narrating, Narrating India: The Novel In Search of The Nation, Sahitya Academy, Delhi, 2005, pg.12
5. Singh Namvar: Reformulating The Questions in Minakshi Mukharjee (Ed.), Introduction, Early Novels India, Sahitya Academy, 2002, pg. 2.
6. Ibid, pg. 3
7. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, 27वाँ संस्करण, संवत् 2050 वि., पृ. 249
8. वही, पृ. 249
9. वही, पृ. 293-294
10. वही, पृ. 295
11. वही, पृ. 274
12. वही, पृ. 293
13. मैनेजर पाण्डेय : राष्ट्रवाद, उपन्यास और प्रेमचंद' शीर्षक अध्याय, अनभै साँचा, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृ. 146-147
14. मैनेजर पाण्डेय : 'उपन्यास और यथार्थ : एक टिप्पणी', हंस, जनवरी, 1999. पृ. 14
15. मैनेजर पाण्डेय : राष्ट्रवाद, उपन्यास और प्रेमचंद' शीर्षक अध्याय, अनभै साँचा, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृ. 147
16. वही, पृ. 147-148
17. निर्मल वर्मा : आलोचना, अप्रैल-जून, 1980 पृ. 2, संपादकीय में नामवर सिंह द्वारा उद्धृत
18. मैनेजर पाण्डेय : राष्ट्रवाद, उपन्यास और प्रेमचंद शीर्षक अध्याय, अनभै साँचा, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, 2002, पृ. 148
19. वही, पृ. 148
20. वही, पृ. 149
21. वही, पृ. 149
22. वही, पृ. 153
23. वही पृ. 150
24. Ahmad, Aijaz: Jameson's Rhetoric of Otherness, In Theory, OUP, Delhi, 1992, pg. 118-119

## औपन्यासिकता और समय

आशुतोष कुमार

सबसे पहले कुछ बातें उपन्यास और समय के रिश्ते पर। जब भी हम कहते हैं कि 'हमारा समय', तो एक सवाल खड़ा होता है कि हमारा समय कौन सा समय है? क्या सचमुच 'समय' को हमारा समय या किसी और का या आगे का या पीछे का समय जैसे टुकड़ों में बाँटा जा सकता है? मैं बाख्तिन के एक सूत्र से अपनी बात शुरू करना चाहता हूँ। बाख्तिन ने उपन्यास विधा के विकास के शुरुआती दौर पर बहुत गंभीरता से विचार किया है। महाकाव्य से उपन्यास की तुलना करते हुए उन्होंने जिस एक बात पर विशेष जोर दिया वह था उपन्यास का काल संबंधी दृष्टिकोण। बाख्तिन ने कहामहाकाव्य का एक संरचनात्मक लक्षण यह है कि वह चित्रित संसार को जातीय संसार के उद्गम के शिखरों और उपलब्धियों के निरपेक्ष अतीत में रखता है। निरपेक्ष अतीत एक विशिष्ट मूल्यपरक दृष्टिकोण है। महाकाव्यात्मक विश्व दृष्टिकोण के लिहाज से पूर्वज, पुरखे इत्यादि काल से अधिक मूल्य से संबंधित श्रेणियाँ हैं। वे महाकाव्य के समूचे संसार पर लागू होती हैं। इस अतीत में सभी कुछ अच्छा है। जो कुछ भी बहुत अच्छा है वह अतीत है। महाकाव्य का निरपेक्ष अतीत वर्तमान के लिए अच्छाई का प्रतिमान है।

बाख्तिन ने महाकाव्य के संदर्भ में अतीत की निरपेक्षता की जो चर्चा की है, उससे वर्तमान कोई संवाद संभव नहीं है। वह पहले से निर्मित है। एक दिया हुआ अतीत है। इस अतीत में न तो हम कोई हस्तक्षेप कर सकते हैं, न ही उसका हम अपने जीवन में कोई रचनात्मक उपयोग कर सकते हैं। यह समय को अतीत, वर्तमान और भविष्य के तीन निरपेक्ष टुकड़ों में बाँटने का एक पुराना संस्कार है। अगर हम इस बात को आधुनिकता की चर्चा और उसकी परियोजना से जोड़कर देखें तो हमारा ध्यान उस बात पर जाए बगैर नहीं रहता कि खुद 'आधुनिकता' जैसा शब्द समय को अतीत, वर्तमान और भविष्य के तीन अलग-अलग टुकड़ों में बाँटकर देखता है। जब आप कहते हैं कि आधुनिकता इतिहास में एक खास दौर से शुरू होती है और आधुनिकता एक ऐसी चीज है जो दुनिया को बदल देती है, तो कहीं-न-कहीं आधुनिकता और उसके पहले के समय के बीच में एक बहुत साफ, स्पष्ट और परिभाषित करने लायक विभाजन किया जाता



है। यह जो विभाजित समय की अवधारणा है यह एक पिरामिड जैसी शक्ति लेती है। जैसे पिरामिड में एक आधार होता है, एक बीच का टुकड़ा तथा आखिर में एक चोटी होती है। समय आधार से शुरू होकर चोटी तक पहुँचता है और उसके बाद वो खत्म हो जाता है। कुछ इसी तरह की समय की अवधारणा इस विचार में दिखाई पड़ती है कि जब यह कहा जाता है कि इतिहास का अंत हो गया है। इतिहास को एक सरल रेखा में आगे बढ़ना था और आगे बढ़ते-बढ़ते वह एक ऐसी जगह पर आ गया है जहाँ से उसके आगे बढ़ने की कोई गुंजाइश नहीं है। ये एक ऐसा विचार है जिसकी पिछले दिनों काफी चर्चा हुई है। मैं यहाँ यह कहना चाहता हूँ कि उपन्यास समय की इस समूची अवधारणा के खिलाफ खड़ा होता है।

यह ठीक है कि उपन्यास आधुनिकता के साथ आया, लेकिन यह जरूरी नहीं है कि आधुनिक विज्ञानवाद ने समय की जो धारणा पेश की है, उपन्यास उसी धारणा को स्वीकार करके चला हो। यह विभाजित समय स्मृति, यथार्थ और कल्पना के बीच एक विसंवाद पैदा करता है। जबकि स्मृति और भविष्य की कल्पना के बीच का संवाद एक ऐसी बुनियादी चीज है, जिससे उपन्यास की औपन्यासिकता परिभाषित होती है।

दरअसल स्मृति और भविष्य की कल्पना और उनके बीच का संवाद एक ऐसी बुनियादी चीज है, जिससे उपन्यास की औपन्यासिकता तय होती है। यह चर्चा बहुत हुई है कि उपन्यास एक संवादधर्मी या एक लोकतांत्रिक विधा है। लेकिन अगर उपन्यास एक ऐसी विधा है जो बहुत सारी दृष्टियों को लेकर चल सकती है जिसमें बहुआयामिता होती है, तब उसमें लेखकीय दृष्टिकोण का सवाल एक पहली बन जाता है। कोई उपन्यास लेखक कितनी भी दृष्टियों की परीक्षा करे या कितना ही उनसे संवाद करे, लेकिन जब उनको किसी कृति में ढालने की कोशिश करेगा तो उसमें उसकी अपनी दृष्टि क्या कहीं नहीं होगी? क्या हम इस तरह के एकदम तटस्थ नितान्त पूर्वग्रह-मुक्त किसी रचना-प्रक्रिया की कल्पना कर सकते हैं? ऐसे में ओरहान पामुक की एक बात याद आती है जो उन्होंने 'नोबेल पुरस्कार' स्वीकारते समय अपने वक्तव्य में कही थी : "उपन्यास एक ऐसी विधा है जिसमें आप अपनी कहानी कुछ यूँ कहते हैं जैसे वह किसी दूसरे की कहानी हो और दूसरों की कहानी यूँ कहते हैं जैसे वह अपनी कहानी हो। अपनी एक कहानी तो सबके पास है। आप अपनी कहानी भी कहना चाहते और दूसरों तक भी पहुँचना चाहते हैं। लेकिन इस कहने-सुनने में अपने पूर्वग्रहों के प्रति आलोचनात्मक होने की कोशिश करना और दूसरों के प्रति पूर्वग्रह-मुक्त होने की कोशिश करना यह एक औपन्यासिक उद्यम है।" यह एक सचेत कोशिश है जो लेखक को व्यापक यथार्थ के साथ संवाद करने की सुविधा दे सकती है।

यह संबोधित दूसरा दिक् से अधिक काल में अवस्थित होता है। दो-एक सुपरिचित उदाहरणों से इस संदर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है। 'गोदान' की औपन्यासिकता होरी और राय साहब के संवाद से अधिक होरी और गोबर के संवाद से निर्धारित होती है। 'शेखर : एक जीवनी' की काव्यात्मकता भले ही शशि और शेखर के संवाद से आई हो, उसकी औपन्यासिकता माता, पिता और बाबा मदन सिंह जैसे चरित्रों के साथ शेखर की असमाप्त जिरहों से निर्मित होती है। ध्यान रहे कि समयों के बीच का यह संवाद पीढ़ियों के बीच का संवाद से भिन्न वस्तु है। यह वही वस्तु है जो बाणभट्ट की आत्मकथा, मैला आँचल, अनामदास का पोथा, तमस, मय्यादास की माड़ी जैसे सभी श्रेष्ठ उपन्यासों की औपन्यासिकता का स्रोत है।

ओरहान पामुक ने अपने उसी वक्तव्य में एक बात और भी कही थी जो ध्यान देने लायक है। उन्होंने कहा कि भूख, भूमिहीनता और आश्रयहीनता आज की मनुष्यता की सबसे बड़ी दुविधाएँ हैं। लेकिन आज मीडिया हमें साहित्य की अपेक्षा अधिक तेजी से इसकी जानकारी

दे पाता है। साहित्य की बुनियादी जिम्मेदारी यह है कि वह मनुष्यता की मूलभूत चिंताओं के बारे में बतलाए और उनकी जाँच-पड़ताल करे। लेकिन साहित्य में जो चिंताएँ हावी हैं वे हैं बाहर छूट जाने की चिंता, किसी गिनती में न होने की चिंता और इसके साथ लगी हुई बेफालतू (वर्थनेसलैश) होने की भावना, सामूहिक अपमान, अवैधताएँ, आहत संवेदनाएँ, काल्पनिक अवमाननाएँ और राष्ट्रवादी उन्माद वगैरह-वगैरह। वो लिखते हैं कि मैंने पश्चिम से बाहर की दुनिया को इन चिंताओं के चलते अनेक तरह की जहालतों में देखा है। लेकिन मैंने पश्चिम को भी अपनी अमीरी में और इस गुमान में फूलकर गुब्बारा बनते देखा है कि उन्होंने हमें 'रेनेसाँ' दिया, 'ज्ञानोदय' दिया, 'आधुनिकता' दी। और उनकी जहालतें भी हमसे छोटी नहीं हैं। ओरहान पामुक इस वक्तव्य में मेरी समझ से यह कहने की कोशिश नहीं कर रहे हैं कि ऐतिहासिक अपमानों का आश्रयहीन होने, भूमिहीन होने और भूख के सवाल से कोई विपरीत रिश्ता है। या वो यह कहने की कोशिश कर रहे हैं कि भूख के बारे में लिखना समाजशास्त्र का काम है उपन्यास का काम नहीं है। वे तो भूख, आश्रयहीनता और भूमिहीनता की चिंताओं का जातीय अपमान, बाहर छूट जाने की चिंता और किसी गिनती में न होने की चिंताओं के बीच जो आत्यंतिक रिश्ता है उसकी तरफ इशारा कर रहे हैं।

उनका इशारा स्पष्ट रूप से औपनिवेशिक इतिहासबोध की तरफ है। शोषण की और अपमान की उस बड़ी परियोजना की तरफ है जिसमें वर्गीय शोषण, लैंगिक शोषण, राष्ट्रीय शोषण आदि अनेक शोषण मिलकर शोषण का एक वृहद् आख्यान बनाते हैं। ये सब जो मनुष्य के साथ घटित हुआ है उसमें मनुष्य की अपनी अस्मिता, उसकी अपने जैसा या अपने मुन्य होने का जो खंडित अहसास है उसमें उसको कहीं-न-कहीं छूने की गहरी चिंता है जिसे उन्होंने अपने लेखन में व्यक्त (एड्रेस) करने की कोशिश की है।

इस बात को समेटने के लिए आखिर में मैं आपसे गार्सिया मार्खेज के एक उपन्यास 'एकांत के सौ वर्ष' की चर्चा करना चाहूँगा जिसके बारे में आप सभी जानते हैं। पिछले कई वर्षों से इसकी चर्चा शायद इसलिए होती रही है क्योंकि यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें समय का अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच में बँटवारा नहीं है। यह एक ऐसा उपन्यास है जिसमें ये तीनों हमेशा एक साथ मौजूद रहे हैं। इस उपन्यास की शैली को जादुई यथार्थवाद कहा जाता है। यह अयथार्थ और यथार्थ का साथ-साथ चलना है। साथ ही, उपन्यास में हम समय को भी तीनों स्तरों अतीत, वर्तमान और भविष्यपर एक साथ चलते हुए देखते हैं। उपन्यास के आखिर में हम यह देखते हैं कि वहाँ एक महाविनाश होता है। एक नरसंहार होता है और एक जलप्रलय जैसी स्थिति पैदा होती है। लेकिन हम यह भी देखते हैं कि उस उपन्यास में जो कुछ भी होता है उन सब की भविष्यवाणी पहले ही की जा चुकी थी। गोया कि जो कुछ हुआ वह पहले से ही तय था। तो क्या हम इस उपन्यास को एक नियतिवादी उपन्यास के रूप में पढ़ें?

क्या हम यह समझें कि मार्खेज यही कहना चाह रहे हैं कि मनुष्य के साथ जो कुछ हो रहा है उसको तो होना ही है या उसको तो होना ही था। मुझे लगता है कि शायद मार्खेज इस बात की सिफारिश कर रहे कि इस उपन्यास को समय और यथार्थ की सरलीकृत धारणाओं के साथ न पढ़ा जाए। इस उपन्यास को उस तरह न पढ़ा जाए कि जैसे इसे किसी एक ही तरह से पढ़ा जा सकता हो। वो इस बात की सिफारिश कर रहे हैं कि इस उपन्यास को हर पाठक अपने एक नए और मौलिक तरिके से पढ़ सकता है। और वो उस सच्चाई की तरफ इशारा कर रहे हैं जहाँ मनुष्य के इतिहास की, उसके मनुष्य की इतिहास निर्माण की क्षमता में बहुत सारी ऐसी स्थितियाँ भी होती हैं जिसे मनचाहे तरीके से दूर नहीं किया जा सकता। लेकिन जिसमें हमेशा उस इतिहास को बदलने की कभी न बुझने वाली चाह भी शामिल रहती

है। इस उपन्यास में स्मृति और विस्मृति, कल्पना और कल्पनाहीनता, यथार्थ की खोज और यथार्थ की फैंटेसी, इन सब चीजों को जब हम एक साथ देखते हैं, तब हम उन सारी यातनाओं को याद करते हैं जो मनुष्य के साथ घटित हुई। जो हमें घटित होने के बाद भी अवास्तविक लगती है। जो सारे जनसंहार, जो सारी क्रूरताएँ, वो सारी अमानवीयताएँ जिसकी कल्पना भी हमें असंभव लगती है। जो मनुष्य के साथ वास्तव में घटित हो चुकी हैं और हो रही हैं, उनके साथ आज बीते हुए मनुष्य का क्या रिश्ता हो सकता है, उसकी खोज करने के लिए यह उपन्यास हमें प्रेरित करता है। इस तरह से समय की, इतिहास की इस बहुस्तरीयता को शायद हम औपन्यासिकता कह सकते हैं। जाहिर है कि यह औपन्यासिकता ऐसी चीज नहीं है जो केवल उपन्यास में ही मिलती हो। यह औपन्यासिकता खासतौर पर उपन्यास के उदय के बाद से दूसरी विधाओं में भी देखी जा सकती है। जाहिर है, औपन्यासिकता ऐसी चीज नहीं है जो केवल उपन्यास में मिलती हो। औपन्यासिकता, खासतौर पर उपन्यास के उदय के बाद से, दूसरी साहित्यिक विधाओं में भी लक्षित जा सकती है।

(समयांतर, जून 2011 से)

## उपन्यास और सुधारवाद

---

वैभव सिंह

नवजागरण और सुधार के दौर में हर मुल्क का मध्यवर्ग अपनी विवाह, धर्म और परिवार की संरचनाओं का पुनर्गठन करता है। वह परंपरा से सवाल पूछता है और परंपरा से परंपरा को काटने की कोशिश कर आधुनिकता तक अपना सफर पूरा करता है। परंपरा का मोह भी इस दौर में उतना ही प्रबल रहता है जितना परंपरा के प्रतिरोध का आग्रह। परंपरा से उसका मोह सिर्फ भोलेपन से भरा मोह नहीं होता बल्कि परंपरा की रक्षा करने में उसे स्वार्थ भी नजर आता है। इसी तरह परंपरा तोड़ने में भी वह सिर्फ क्रांतिकारी बाना नहीं धारण किए होता बल्कि उसके टूटने में ही वह अपनी सत्ता-संरचना को नए सिरे से उभरता देखता है। 19वीं सदी का उपन्यास साहित्य भी परंपरा से मोह और परंपरा से प्रतिरोध की टकराहट का साहित्य है। इस समय के हिंदी साहित्य का बड़ा हिस्सा इन्हीं प्रश्नों से टकराने के कारण सुधारवादी रचनाओं की श्रेणी में रखा जाता है। हिंदी में उपन्यासों का आगमन थोड़ी देर से हुआ और जब हुआ तो सुधारवाद के लक्ष्य उसमें काफी प्रमुख बनकर उभरे। अगर यह कहा जाए कि जो लोग उपन्यास लिख रहे थे, उनके लिए सामाजिक यथार्थवाद नहीं बल्कि सामाजिक सुधारवाद ही प्रमुख था तो गलत नहीं माना जाएगा। समाज को अपने ढंग से बनाने की दृढ़ आकांक्षा को उसमें साफ तौर पर पढ़ा जा सकता है। साहित्यिक टेक्स्ट पहली बार आधुनिकता के पक्ष में समाज में हस्तक्षेप करते दिखाई देते हैं। इससे पहले भी वह परंपरा से टकराते रहे हैं लेकिन परंपरा की कोई योजनाबद्ध आलोचना विकसित नहीं कर सके। 19वीं सदी में स्थिति थोड़ी अलग है जहाँ आधुनिकता से परंपरा को काटने की नहीं बल्कि परंपरा का आधुनिकता से समायोजन तलाशने की कोशिश ऐसे लोगों द्वारा की गई जो समाज में वर्ण-वर्ग और लिंगगत रूप से हमेशा से ही फायदे में रहे हैं। ऐसे में इस दौर के साहित्य के प्रति सिर्फ क्रूर या करुण होने के दुराग्रही विभाजन को स्वीकारने का प्रश्न नहीं बल्कि उसकी जटिलताओं की परख करना

ज्यादा महत्वपूर्ण है। इस समय साहित्य अपने को किसी गंभीर सामाजिक जिम्मेदारी से जुड़ा पाता है और इस जिम्मेदारी को निभाने में उसकी सार्थकता भी तय होने लगती है। लेकिन यह साहित्य लेखन का एक अपेक्षाकृत अपरिपक्व दौर भी था क्योंकि इसमें व्यक्ति मन की अनगिनत जटिलताएँ, अंतर्भाव और अंधकार में डूबे कोने अभी रचनाकारों की पकड़ से अछूते थे। सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि जैसी स्थूल थी, वैसी ही स्थूल थी सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति। स्त्रियों से जुड़े मुद्दे बेहद अहम थे। लेकिन पश्चिम में नारीवाद और अश्वेत साहित्य के विकास के दौर में पुराने साहित्य का जैसा मूल्यांकन हुआ है, डिकेन्स और शेक्सपियर का तीखा विश्लेषण हुआ है, हिंदी में नारीवादी आलोचकों ने जरा पुराने साहित्य की वैसी जाँच-परख नहीं की है। इससे नारीवादी आलोचना का विकास भी प्रभावित हुआ क्योंकि अतीत का सही क्रांतिकारी मूल्यांकन न होने से वह बौद्धिक ऊर्जा भी नहीं पैदा हो सकती जो किसी विचारधारा के विकास की अनिवार्य शर्त होती है। इस विडंबना की एक वजह यह भी है कि हिंदी में कई महत्वपूर्ण और जानी-मानी स्त्री लेखिकाएँ हैं लेकिन आम तौर पर स्त्री लेखिकाएँ स्त्री-शोषण पर तो लिखना चाहती हैं लेकिन नारीवादी होने को लेकर कई तरह के भय-संकोच की शिकार हैं। बल्कि ऐसी लेखिकाओं के बारे में आलोचना लिखते समय भी उनकी खूबी के रूप में इसे पेश किया जाता है कि वे स्त्री जगत व उसकी समस्याओं के बारे में लिखती हैं लेकिन नारीवादी कतई नहीं हैं। नारीवाद से हिंदी का यह उपेक्षा व आतंक का संबंध ऐसी परिस्थितियों में विचित्र ही कहलाएगा जब पूरी दुनिया में इसे एक विचार-दृष्टि के रूप में स्वीकार किया गया है और इसने न सिर्फ आलोचना के पुराने प्रतिमान तोड़े बल्कि परंपरागत चेतना को बदलने का नया औजार उपलब्ध करा दिया। हिंदी में सुव्यवस्थित नारीवादी आलोचना अब तक विकसित नहीं हो सकी है और जिस तरह 19वीं सदी के पुरुष सुधारक ही ज्यादातर स्त्रियों के बारे में बोलते व लिखते थे, कुछ-कुछ उसी तरह अब भी हिंदी के पुरुष आलोचक ही नारीवादी दृष्टि के प्रचार का जिम्मा अपने कंधों पर ढो रहे हैं। हाँ, कभी-कभी कुछेक स्त्रियों को साथ मिलाकर वे आलोचना जगत में अपनी वैधता का प्रचार अवश्य कर लेते हैं।

अगर उस दौर के चार-पाँच आरंभिक उपन्यासों का विवेचन करें तो हम समाज व साहित्य को विरासत में मिले कई प्रभावों के बारे में बहुत नहीं तो थोड़ी अंतर्दृष्टि अवश्य हासिल कर सकते हैं। पंडित गौरीदत्त का देवरानी-जेठानी की कहानी (1870), श्रद्धाराम फिल्लौरी का भाग्यवती (1877), लाला श्रीनिवासदास का परीक्षागुरु (1882), राधाकृष्णदास का निस्सहाय हिंदू, (1885) इस समय के प्रमुख उपन्यास थे जिन्होंने कई सामाजिक मुद्दों को उठाया और इनके रचनाकारों ने भी उपन्यास लेखन के लक्ष्य को अपनी सांस्कृतिक चिंताओं से जोड़कर देखा। इस दौर में डिप्टी नजीर अहमद भी उर्दू में कई उपन्यास लिख चुके थे और स्त्री शिक्षा की दृष्टि से उनका उपन्यास 'मिरातुल अरूस' विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। परीक्षागुरु व निस्सहाय हिंदू के अलावा तीनों ही कृतियों का उद्देश्य स्त्री शिक्षा के महत्व की स्थापना करना है ताकि लोग घर की स्त्रियों की पारंपरिक अशिक्षा को दूर कर उन्हें शिक्षित बनाने पर ध्यान दें। 'देवरानी-जेठानी की कहानी' में मेरठ के अग्रवाल बनियों, मिरातुल अरूस में दिल्ली के उच्च जाति के मशहूर खानदान 'भाग्यवती' में काशी के ब्राह्मण, 'परीक्षागुरु' में दिल्ली में कारोबार करने वाले एक साहूकार और 'निस्सहाय हिंदू' में गोहत्या की चिंता करने वाले उच्च जाति ब्राह्मणों की कथा कही गई है। इन्हीं उच्च जाति की हिंदू स्त्रियों के बारे में निर्मित चिंताओं के मद्देनजर ही उमा चक्रवर्ती ने अपने लेख 'वॉटएवर हैप्पेंड टू वैदिक दासी' में लिखा "स्त्रियों से जुड़े सवालियों के संदर्भों में 19 वीं सदी का पूरा ध्यान उच्च जाति की हिंदू

स्त्रियों पर केंद्रित था, चाहे वह अतीत में उनकी उन्नत दशा को प्रकट करना हो या वर्तमान में उनकी निम्न दशा में सुधार करने की चेतना हो।”

स्त्री शिक्षा का मुद्दा ऐसे शिक्षित पुरुष वर्ग के बीच से निकल कर आया था जो बंगाल से लेकर पंजाब तक नए स्कूल-कॉलेज, मदरसों या घर में अनौपचारिक पढ़ाई के जरिए शिक्षा का प्रसार करते हुए स्त्रियों के नए व्यक्तित्व की रूपरेखा खींच रहा था। परिवार में स्त्री की हैसियत पर विचार किए बगैर उसके लिए नई-नई भूमिकाएँ और अपेक्षाएँ प्रस्तावित की जा रही थीं। श्रद्धाराम फिल्लौरी ने अपने उपन्यास ‘भाग्यवती’ की भूमिका में ही लिखा है “बहुत दिनों से इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिंदी भाषा में लिखूँ जिसे पढ़ने से भारतखंड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो क्योंकि यद्यपि कई स्त्रियाँ कुछ पढ़ी-लिखी तो होती हैं परंतु सदा अपने ही घर में बैठे रहने के कारण उनको देश-विदेश की बोलचाल और अन्य लोगों से वरत-व्यवहार की पूरी बुद्धि नहीं होती है।” यानी स्त्री को घर से बाहर निकलने की छूट देने के लिए सुधारक अब भी नहीं तैयार थे, वे बस इतना चाहते थे कि वह घर के बाहर के संसार से परिचित हो जाए। परिचित भी उन्हीं चीजों और सीमाओं तक हो जहाँ तक पुरुष चाहते हैं। इस दौर में भारतीय स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते हुए लेखक उनको भारतीय संस्कृति की विशिष्टता के प्रतीक के रूप में डालते हुए ‘पश्चिमी मेमसाहबों’ की आलोचना करते थे। पर वे यह नहीं समझ पाते थे कि खुद यूरोप में स्त्रियों की दशा इससे बहुत अलग नहीं थी। वहाँ भी स्त्री-पुरुष का सामाजिक कार्यों और व्यक्तित्व के आधार पर कड़ा लैंगिक विभाजन था। 19वीं सदी के यूरोप में स्त्री-पुरुष के रिश्तों पर विचार करते हुए उते फ्रेवर्ट ने लिखा था “बुजुर्ग माहौल होने के बावजूद वहाँ स्त्री पर ही जिम्मेदारी थी कि वह मध्यवर्गीय मूल्यों की रक्षा करे और सौंदर्य प्रेम व वफादारी जैसे समस्त प्राकृतिक गुणों से पुरुषों को आनंद पहुँचाए।” (द पब्लिक द प्राइवेट, इश्यूज ऑफ डेमोक्रेटिक सिटिजनशिप, संपा. गुरप्रीत महाजन, सेज, 2004)

इसके अलावा ‘अनवूमनली’ व्यवहार करने वाली स्त्रियों की कड़ी आलोचना भी होती थी। वहाँ भी लड़कों को रोजगार के लिए पढ़ाया जाता था जबकि उनकी बहनों को एक अच्छी गृहिणी, माँ और पत्नी बनने के लिए। यानी जिन अंग्रेज औरतों की कथित उच्चखलता व अति-स्वतंत्रता के विपरीत हिंदुस्तानी औरत का मॉडल निर्मित किया जा रहा था, उसकी स्थिति भी अपने पुरुष समाज में वैसी ही थी जैसी भारत की औरतों की। लेकिन चूँकि उपनिवेशवाद को अपनी संस्कृति के लिए भव्य आत्ममुग्धता खड़ी करनी थी इसलिए अपने समाज की स्त्रियों को ही नहीं बल्कि अंग्रेज औरतों को भी पितृसत्ता की कसौटी पर कसने की कोशिश की गई। पितृसत्ता का यह अंतर्राष्ट्रीय संस्करण था जिसमें अंग्रेज और भारतीय स्त्री, दोनों की मुक्ति को मुश्किल बनाने के हर संभव प्रयास होते थे। इसमें उपनिवेशक और उपनिवेशित, दोनों ही एक-दूसरे की संस्कृति के बारे में भ्रामक दृष्टिकोण का प्रचार करते थे जिससे उनके बीच का शक्ति-संबंध बदल सके। स्त्रियों के चरित्र व सामाजिक स्थिति के बारे में व्याख्याएँ उपनिवेशक-उपनिवेशित के इन्हीं रिश्तों की शिकार होती रहीं। ये ऐसा सांस्कृतिक टकराव था जिसमें स्त्री की सांस्कृतिक विवशताओं को समझने के स्थान पर उसकी बुराइयों और कल्पित महानताओं के आधार पर एक नकारात्मक किस्म का स्त्री विमर्श विकसित करने की कोशिश की जाती थी। भारतीयों को अगर अंग्रेज स्त्रियों की सच्चरित्रता और वफादारी पर संदेह था तो अंग्रेज हिंदू स्त्रियों की बेचारगी व पिछड़ेपन के आधार पर सांस्कृतिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में उनकी महानता के दावों को खंडित करते थे। 1927 में अमेरिकी महिला कैथरीन मेयो की

किताब 'द मदर इंडिया' की स्थापनाओं को इस संदर्भ में फिर से याद किया जा सकता है जहाँ उपनिवेशकों के लिए स्त्री मुक्ति का प्रोजेक्ट साम्राज्यवाद की आवश्यकता को सिद्ध करने के तर्क के रूप में परिवर्तित हो गया था।

औरत को समझदार मशीनी गुड़िया में बदलने की हर कोशिश मौजूद है इस किस्म के सुधारवाद में। वह घर संभालती है, सीने-पिरोने का काम करती है, घर के सौदे का हिसाब करती है और फिर जी खोलकर घर वालों से बतियाती है और उन्हें खुश रखती है। इस समय दो औरतों के बीच के अंतर को दिखाने के लिए उन्हें अलग-अलग रूप से गढ़ा गया। एक अच्छी दूसरी बुरी। एक निपुण है दूसरी निकम्मी। एक धर्म-कर्म में रुचि लेती है, दूसरी को इसकी परवाह ही नहीं है। 'देवरानी-जेठानी की कहानी' में भी दो भाइयों की बहुओं के बीच का अंतर दिखाया गया है। एक है जिसे घर का कामकाज नहीं आता और हमेशा लड़ती रहती है और दूसरे भाई की बहू ऐसी है जो हर काम में निपुण है और अपनी सेवा-टहल से उन्हें प्रसन्न रखती है। इस दूसरी बहू की जीवनचर्या इस तरह है 'सबेरे उठकर बुहारी देती। चौका-बासन कर दूध बिलोती। फिर नहा-धो के भगवान का नाम लेती। रोटी चढ़ाती। जब लाला छोटेलाल रोटी खा के दफ्तर चले जाते थोड़ी देर पीछे दौलतराम और उसका बाप दुकान से रोटी खाने आते। जब वे खा लेते और सास-जिठानी भी खा चुकतीं तब सबसे पीछे आप रोटी खाती। फिर सोना-पिरोना मोजे बुनना फुलकारी काढ़ना, टोपियों पर बेल लगाना आदि में जिस काम को जी चाहता, ले बैठती। और जब कभी ज्ञान चर्चा छेड़ देती तो भगवत गीता के श्लोक पढ़-पढ़कर ऐसे सुन्दर अर्थ करती कि सुनकर सब मोहित और चकित हो जातीं। रात को जब सब ब्यालू कर चुकते, यह अपने चौबारे चली जाती और रात को दस बजे तक जहाँ-तहाँ की बातचीत करके हँसती और बोलती रहती। 'यानी स्त्रियों पर घर-परिवार चलाने की नए सिरे से जिम्मेदारी तय की गई जिसमें उनसे समझदार होने की अपेक्षा तो की गई पर पुरुषों के आधिकार क्षेत्र से उन्हें बाहर भी रखा गया। हर किस्म के पर्दे का भी परोक्ष व प्रत्यक्ष समर्थन दिख जाता है। स्त्रियों के लिए सबसे बड़ी सीख यह नहीं है कि वह अपना काम निपुणता से करें बल्कि ज्यादा अहम सीख यह है कि वे पुरुषों के अधिकारों को बरकरार रखने में उनका सहयोग करें। डिप्टी नजीर अहमद के उपन्यास 'मिरातुल उरूस' में असगरी नामक पढ़ी-लिखी स्त्री की समझदारी की कहानी है जो सीना-पिरोना जानती है, कर्ज और कानून का जंजाल समझती है और रुपये-पैसे का सही हिसाब रखती है। लेकिन इतने गुणों के बावजूद उसकी शादी के बाद उसके पिता दूरअदेश खों उसे समझाते हैं कि "हजरत आदम बहिश्त में अकेले घबराते थे, इसलिए उन्होंने अपने मनोरंजन के लिए औरत को पैदा किया। औरत का फर्ज है मर्द को खुश रखना; मगर अफसोस है कि दुनिया में किस कदर कम औरतें इस फर्ज को अदा करती हैं। मर्दों का दर्जा खुदा ने औरतों पर ज्यादा किया न सिर्फ हुक्म देने से बल्कि मर्दों के जिस्म में ज्यादा कुव्वत और उनकी अक्लों में ज्यादा रोशनी दी है।"

सुधारवाद की सबसे बड़ी सीमा यह थी कि वह जिनकी स्थिति में सुधार चाहता था, उन्हीं के अधिकारों पर नए सिरे से पाबंदी लगाने के लिए भी खास सतर्क था। इस किस्म का सुधारवाद पुरुष-स्त्री के बीच नए संबंधों के निर्माण में बुरी तरह फेल हो जाता है। मुस्लिम धर्म के सुधारवादी और हिंदू धर्म के सुधारवादी पितृसत्ता को संरक्षण देने के मामले में लगभग एक ही धरातल पर खड़े नजर आते हैं।

इस दौर के समस्त औपन्यासिक साहित्य में पितृसत्ता द्वारा औरत की जिंदगी में जो कदम-कदम पर मुसीबतें खड़ी की जाती हैं उनका जिक्र नहीं है। बस शिक्षा देने भर के जादुई

असर का महिमागान किया गया है। इसके अलावा कौटुम्बिक व्यभिचार, घरेलू हिंसा, प्रताड़ना, अभाव, भेदभाव ऐसे विषय हैं जिन्हें ऐसे देश में हर स्त्री को भुगतना पड़ता है जहाँ उन्हें सुंदर कपड़ों व शस्त्रों वाली देवी के रूप में पूजने का काम भी जोर-शोर से किया जाता है। स्त्रियों का पुरुषों से किसी बात पर संघर्ष नहीं होता। संघर्ष होता भी किसी से है तो घर के नौकर-नौकरानियों से होता है जो सौदे-सुलुफ में बेईमानी करते हैं। नौकर-बहू के इस संघर्ष में अंततः जीत बहू की होती है क्योंकि वह नौकर की पोलपट्टी खोलकर रख देती है। भाग्यवती में नंदा नामक नौकर और मिरातुल उरूस में मामा नामक नौकरानी घर में गबन करते हैं और जब चतुर बहुओं के द्वारा पकड़े जाते हैं तो घर से निकाले जाते हैं। यानी पुरुषों की तुलना में औरतों की हीनतर स्थितियों को ढँकने के लिए नौकरों-चाकरों से औरतों के संघर्ष को थीम बनाकर पेश किया गया। कमजोर वर्ग के लिए करुणा के स्थान पर उससे सावधान रहने और उसके शत्रुतापूर्ण इरादों को भाँपने की शिक्षा भी यही उपन्यास देते हैं। यह परिवार में स्त्री भूमिका के संस्थानीकरण का नए ढंग से किया जाने वाला सचेत प्रयास था। ऐसे में उसी दौर में लिखी ताराबाई शिंदे की किताब हमारे ज्यादा काम की हो सकती है। जब पुरुष सुधारक धर्म-संस्कृति की रक्षा करते हुए सुधारों के पक्ष में आवाज उठा रहे थे तब ताराबाई शिंदे ने पति परमेश्वर की धारणा को ही नहीं बल्कि सीधे परमेश्वर को चुनौती दी थी जो खुद भी मर्द होने के कारण औरतों से भेदभाव करता है। उन्होंने परमेश्वर को चालाक व पुरुष होने का अभिमान रखने वाला बताते हुए सख्त टिप्पणी करने के अंदाज में पूछा, 'अहा रे देव! तेरी भी ऐसी विचित्र गति क्यों है? आजन्म पति के लिए कोल्हू के बैल की तरह पिसने वाली स्त्री को अपने मुख से शब्द निकालने की न अनुमति है, न घर पर उसका अधिकार। यही है तेरा न्याय? हे विधाता, स्त्री के माथे पर यह कैसा वनवास लिख डाला तूने। यदि ऐसी ही हर स्त्री की तकदीर है तो उसका निर्माण ही क्यों किया तूने! कम से कम तुम्हें लाख-लाख गालियाँ तो न सुननी पड़ती। हे परमेश्वर तुम भी बड़े चालाक हो। अपनी ही जाति को स्वच्छंदता और स्वतंत्रता दे दी। तुम्हें भी पुरुष होने का अभिमान है!' यानी हिंदी प्रदेश में शिक्षा व विकसित चेतना का अभाव पितृसत्ता की मजबूती से पहरेदारी कर रहा था और इसी का परिणाम है कि एक ओर जहाँ बँगला तथा मराठी भाषाओं में स्त्रियों की आत्मकथाएँ प्रकाशित हो रही थीं, वहीं हिंदी में किसी स्त्री का लेखन या आत्मकथा सामने नहीं आई।

लेकिन इस दौर के सुधारवादी उपन्यासों में परिवार में पुरुष की तुलना में स्त्रियों की हीनता पर खास ध्यान न देकर उन्हीं को शिक्षा व समझदारी के जरिए बेहतर परफार्म करने के लिए संदेश दिया गया। हैसियत व अधिकारों के स्तर पर स्त्री-पुरुष के बीच की असमानता को सामने लाने की बजाय औरत को औरत से भिड़ा दिया गया है और दिखाया जाता है कि किस प्रकार स्त्रियाँ ही स्त्रियों के खिलाफ साजिशें करती हैं और इन चीजों से अनजान पुरुषों में खुद कभी दुर्भावना नहीं होती, बल्कि कभी-कभी स्त्रियों के भड़काने पर ही वे गलत फैसले ले लेते हैं। 'भाग्यवती' उपन्यास में नायिका भाग्यवती काफी पट्टी-लिखी और समझदार है लेकिन उसी की ननद व जेठानियाँ उसे चोरी के इल्लाम में फँसाती हैं जिससे आग-बबूला होकर उसके ससुर पंडित जगदीश तय कर लेते हैं कि 'उस दुष्टा भाग्यवती को अभी पकड़ के घर के बाहर निकाल दो।' ऐसे में सवाल यह नहीं है कि स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन, कन्या जन्म पर शोक का विरोध या कुछ सीमा तक बच्चों के लालन-पालन व घरेलू कामकाज में अंधविश्वासों का विरोध कर सुधारक अपने युग की विकासशील चेतना का परिचय दे रहे थे या नहीं? सवाल यह है कि परिवार में पुरुषों की सदियों पुरानी केंद्रीय वर्चस्वशाली भूमिका



को तोड़े बिना क्या स्त्री को सचमुच अधिकार मिल सकते थे जिससे कि वह आजादी व सम्मान का जीवन जी सके? परिवार में ही स्त्री को स्त्री बनाया जाता है और उसके पहनावे से लेकर आचरण तक को नियंत्रित किया जाता है। आज भी स्त्री का जब यौन उत्पीड़न होता है, उससे छेड़खानी होती है तो दोष उसी के माथे पर मढ़ा जाता है कि जरूर उसने भड़काऊ कपड़े पहने होंगे या अपनी हरकतों से पुरुषों को आकर्षित किया होगा। ऐसे में परिवार में स्त्री की दशा में वास्तविक सुधार तभी आ सकता था जब उत्पादन व संपत्ति के स्वामित्व में साझा करे। इसके अभाव में जो भी रियायतें औरत को मिलती हैं उसकी विडंबना यह है कि वह पुरुषों के बनाए तंत्र में अपने लिए अगर स्थान चाहती है तो उसे अपनी हैसियत व योग्यता को स्वीकृति दिलाने के लिए पुरुषों पर ही अधिक निर्भर रहना पड़ता है और यह निर्भरता पुरुष-सत्ता को सही ठहराने की सांस्कृतिक विवशता में परिवर्तित हो जाती है।

एक तर्क रखा जाता है कि एक बार जो सुधार पुरुषों द्वारा शुरू किए गए वे कितने ही सीमित क्यों न हों लेकिन वह प्रक्रिया एक बार आरंभ होने के बाद पुरुषों के हाथों से निकल जाती है और स्त्रियों की स्वतंत्रता का दरवाजा खुल जाता है। ऊपर से देखने में यह तर्क सही लगता है पर सच यह भी है कि प्रक्रिया पुरुष नहीं शुरू करते बल्कि समाज की वस्तु-स्थितियों से इनका जन्म होता है। 19वीं सदी की वस्तुस्थिति पहले की सदियों की तुलना में भिन्न थी क्योंकि शिक्षा का विस्तार होने लगा था। ऐसे में स्त्री मुक्ति की प्रक्रिया पुरुषों द्वारा आरंभ नहीं की जाती है बल्कि अपनी स्थिति का लाभ उठाकर वह नियंत्रित ज्यादा की जाती है। आज के सन्दर्भों को सामने रखकर शायद चीजों को समझा जा सके। आज भी स्त्री को पढ़ा-लिखाकर आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं किया जाता बल्कि बेहतर वर मिलते ही घर-संस्कृति के चूल्हे में झोंक दिया जाता है। इसलिए प्रश्न पुरुषों के द्वारा सुधार शुरू करने व फिर उस प्रक्रिया का उनके हाथ से निकल जाने का नहीं बल्कि यह है कि पुरुष अपने फायदे के लिए इस ऐतिहासिक प्रक्रिया को किस सीमा तक कुंठित करते हैं? और स्त्रियों की मुक्ति को लगातार बाधित करते हैं?

यह सिर्फ जटिल अंतर्विरोध का मामला नहीं था बल्कि जटिल वर्चस्व का भी मामला था जिसमें स्त्रियों पर से वर्चस्व ढीला करने के लिए नहीं बल्कि उसे और कसने के लिए कुछ रियायतें दी जा सकती थीं। हर संस्कृति में ऊपरी जड़ता व स्थिरता के भीतर आंतरिक हलचलों मौजूद रहती हैं और इन हलचलों में ही कहीं उत्पीड़ित वर्गों के प्रति दृष्टिकोण की समीक्षा करने उसे बदलने व पुराने दृष्टिकोणों को नष्ट करने की संभावनाएँ भी छिपी होती हैं। 19वीं सदी का सुधारवाद भी इन्हीं हलचलों की उपज है पर वह अपने घोषित लक्ष्यों को किसी परिपक्व परिणति तक पहुँचने की बजाय युग की सीमाओं से टकराकर अपने को भी निष्फल बना लेता है। इसमें स्त्री को नहीं बल्कि पुरुष को ज्यादा अधिकार मिलते हैं कि वह स्त्री को पढ़ा-लिखाकर किस तरह से अपने परिवार-समाज में बदइंतजामी की शिकार हो रही अपनी पारंपरिक सत्ता व संपत्ति का ज्यादा अच्छे ढंग से संवर्धन कर सके। इसमें जिस प्रकार संपत्ति से अधिक कुशल इस्तेमाल के लिए नए तौर-तरीके अपनाए जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री के बेहतर उपयोग की रणनीति बनाई जाती है। संपत्ति और स्त्री दोनों बेहतर मैनेजमेंट की माँग करने लगते हैं। सामंती समाज में प्रजनन-श्रम तक सीमित स्त्री फिर एक बार सुधारवादियों के हाथों चतुर बहू बना दी जाती है और व्यक्तित्व अर्जन के क्षेत्र में सांस्कृतिक बाधाओं को लांघना तो दूर उसके सही विश्लेषण से भी वंचित कर दी जाती है। वस्तुकरण से मानवीयकरण की इस प्रक्रिया की विफलता इसमें निहित, है कि जिस स्त्री के लिए इस प्रक्रिया की आवश्यकता है, वही इसे निर्धारित करने

की स्थिति में नहीं है बल्कि प्रक्रिया का नियंत्रण उनके हाथ में है जो अविवेक व चतुराई के घातक मिश्रण के कारण स्त्री को अपने बराबर मानने के लिए तैयार नहीं हैं। सुधारकों की सहज मानवीय संवेदनाएँ स्त्रियों को मिलती हैं लेकिन उन संवेदनाओं में मर्यादा-रक्षा का जो आग्रह छिपा है, वे उसकी भी शिकार हो जाती हैं।

एक नए मध्यवर्ग की भी चिंताएँ इस दौर के उपन्यास साहित्य में हैं जिसके तहत शहरों की ठगी व लूट से वह अपने को बचाना चाहता है। धोखेबाजी, लूट व ठगी के कई किस्से इन उपन्यासों में मौजूद हैं और संपत्ति संरक्षण की मध्यवर्गीय चिंताएँ भी। उपन्यासों में हाशिए की यह कहानियाँ भी कम रोचक नहीं हैं और दिखाती हैं कि किस तरह तत्कालीन मध्यवर्ग की आत्मचेतना मूलतः एक भयभीत व असुरक्षित समुदाय के रूप में बदलती जा रही थी और वह शिक्षा की नाव पर सवार होकर सामाजिक अनिश्चितता की वैतरणी को पार करने के लिए संघर्षरत थी। इसमें चमत्कारी बाबाओं की ठगी, चोरों की फरेबी और जालसाल औरतों का संसार है जिनसे परिवार और संपत्ति की रक्षा करनी है। एक नई शहरी संस्कृति की तरफदारी है जिसमें इन लोगों को अपना हुनर दिखाने का मौका न मिले और यह संस्कृति सिर्फ पुलिस प्रशासन के बलबूते नहीं बल्कि परिवार की स्त्रियों को ज्यादा चौकस और शिक्षित करके निर्मित की जानी है।

इन दिनों पब्लिक स्फीयर की धारणा पर बड़ा जोर है जिसमें मुख्य रूप से बुर्जुआ वर्ग की राज्य से स्वतंत्र सामाजिक गतिविधियों के अध्ययन पर खास जोर दिया जाता है। इन गतिविधियों में साहित्य, कला, पत्रकारिता व राजनीतिसभी कुछ शामिल रहता है। यह पब्लिक स्फीयर राज्य की ताकत पर अंकुश लगाता है क्योंकि राज्य की शक्ति की तुलना में इसके पास वैचारिक ताकत ज्यादा होती है। इस धारणा को नवजागरण पर भी इस्तेमाल करके देखा गया है और भारतेंदु से लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी तक के योगदानों को इसी धारणा से समझने की कोशिश वसुधा डालमिया और फ्रेंचिस्का ऑर्सनी ने की है। पर इस धारणा की भी सीमाएँ स्पष्ट हैं क्योंकि इसमें राष्ट्र व समाज के सवाल का कई बार काफी दूर तक जाकर अमूर्तन कर दिया जाता है और गेल ओम्बेट ने बड़ी पीड़ा के साथ इसी बात को लिखा है कि पूरे औपनिवेशिक काल में बुर्जुआ राष्ट्रवाद ने सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक स्फीयर) का दायरा बड़ा सीमित और संकीर्ण बनाए रखने की ही कोशिश की। इस विडंबना को उन्होंने आधुनिकता से भी जोड़कर देखा जिसमें प्रगति, तार्किकता और सार्वभौमिक मानवाधिकारों का इस कदर अमूर्तन किया जाता है कि समाज के कई पीड़ित वर्ग जैसे स्त्रियाँ निम्न जातियाँ और गुलाम इसकी परिभाषा के दायरे से बाहर रखे जाते रहे। लेकिन इन्हीं उत्पीड़ितों ने भौतिक धरातल पर कड़े संघर्ष कर आधुनिकता में अपना स्पेस सुरक्षित किया और राष्ट्र व आधुनिकता को ज्यादा गहरे अर्थों में ठोस व व्यावहारिक सच्चाई में बदलने का प्रयास किया। गेल ओम्बेट ने पार्थ चटर्जी की उस मान्यता को भी चुनौती दी है जिसके मुताबिक 19वीं सदी में राष्ट्र हकीकत में राज्य के दायरे के बाहर निजी संसार (प्राइवेट स्फीयर) घर और अंदरूनी जगत में अपना आकार ले रहा था। घर-परिवार की संस्कृति के भीतर कहीं राष्ट्रीय गौरव की तलाश थी क्योंकि समाज व राजनीति में अंग्रेज पहले ही अपनी श्रेष्ठता व शक्ति को भारतीयों के ऊपर थोपने में सफल हो चुके थे। ओम्बेट ने फुले व अन्य गैर-ब्राह्मण विचारकों के तर्कों का हवाला देते हुए बताया है कि घर-निजी संसार में राष्ट्र का निर्माण होते देखना भ्रम फैलाने जैसा है क्योंकि जाति विभाजन इस तरह के राष्ट्र निर्माण को बाधित करने की हर किस्म की कोशिश करता था। (गेल ओम्बेट, द स्ट्रगल फॉर सोशल जस्टिस एंड द एक्सपेंशन ऑफ पब्लिक

स्फीयर; द पब्लिक द प्राइवेट किताब में संकलित) इन उपन्यासों व अन्य विधाओं में स्त्री को राष्ट्र के आदर्श प्रतीक में ढालने की कोशिशें भी मौजूद हैं। बंकिमचंद्र के उपन्यास और भारतेन्दु के नाटकों में इसके उदाहरण मौजूद हैं। कह सकते हैं कि राष्ट्र का स्त्रीकरण करने के लिए तो सहमति थी पर स्त्री को राष्ट्र के भीतर बराबरी का दर्जा पाने के लिए अभी कई दशकों तक इंतजार करना था।

अर्नेस्ट गेलनर ने कहीं लिखा है कि राष्ट्र कभी राष्ट्रवाद को नहीं पैदा करता बल्कि राष्ट्रवाद ही राष्ट्र को जन्म देता है। 19वीं सदी में भी बौद्धिक वर्ग की सबसे बड़ी चिंता भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने की थी। इसलिए वह बार-बार अतीत की महानता का उद्बोधन करता था जिससे लोगों का यह भ्रम दूर हो सके कि भारत की वर्तमान हीन दशा के कारण उसके राष्ट्र के रूप में विकसित होने की कोई संभावना ही नहीं है। इसमें देशोन्नति और आत्मोन्नति के सिद्धांत भी परस्पर घुल-मिल जाते थे। देश के विकास के लिए शराब पीने और पर-स्त्रीगमन को छोड़ देने की जरूरी बताया जाता था। इस प्रकार नैतिक शुद्धतावाद भी राष्ट्र के पुनर्सृजन की अनिवार्य शर्त बन जाता था। राष्ट्रवाद अपने क्लासिकल अर्थों में एक बाहरी पाखंड या दिखावे की बजाय भावबोध के स्तर पर ग्रहण और भावबोध के स्तर पर ही अनिवार्यता के अनुभव से जुड़ा होता है। इसमें भविष्य के बारे में सुंदर आकर्षक और मनोहारी कल्पनाएँ करने की प्रवृत्ति मौजूद होती है और राष्ट्रीय पराजय या हताशा के क्षणों में उन कल्पनाओं को यथार्थ का प्रतिरूप मानने का आग्रह भी निहित रहता है। राष्ट्रवाद भी तुलसी के रामराज्य और मार्क्स के वर्गहीन समाज की तरह अंततः एक यूटोपिया ही है जो अपने बुनियादी आदर्शों के अनुरूप यथार्थ को बदलकर मनुष्य की तमाम समस्याओं को सुलझाने का दावा करता है। यह बात अलग है कि राष्ट्रवाद का यह यूटोपिया अपने विकृत रूप में समाज के बड़े हिस्से के लिए दुःस्वप्न में बदल जाता है। राष्ट्रवाद नागरिकों का कल्याण कर सकता है तो उन्हें अराजकता, जंग और हिंसा की भट्टी में झोंक भी सकता है। भारत में कल्पित राष्ट्र और क्षेत्र-स्थानीयता के बीच का द्वंद्व इस समस्या को और बढ़ा सकता है। यहाँ यह द्वंद्व कई बार इतना प्रखर हो जाता है कि भारत का एक छोटा-सा हिस्सा ही राष्ट्र को महत्वपूर्ण मानता है और उसी के संदर्भ में देश की एक समग्र भौगोलिक इकाई के रूप में कल्पना करता है। इसके विपरीत सुदूर इलाकों में बसी बड़ी आबादी ऐसी है जो राष्ट्र के विरोध में न होने के बावजूद अपनी क्षेत्र-स्थानीयता को ज्यादा महत्वपूर्ण मानती है। यह आबादी राष्ट्र के संदर्भ में क्षेत्र-स्थानीयता को नहीं देखती बल्कि क्षेत्र-स्थानीयता के संदर्भ में राष्ट्र की स्थिति, परिकल्पना व व्यवहार को परिभाषित करने को जरूरी समझती है। झंडा, रेल या साड़ी करेंसी जैसे राष्ट्र के प्रतीक भी स्थानीय लोकाचार, दरिद्रता या विवशता से संवाद करने की बजाय उसका मजाक उड़ाते हुए अधिक प्रतीत होते हैं।

राष्ट्रवाद के लिए त्याग और समर्पण की माँग तो की जाती है साथ ही अपने राष्ट्रवाद को दूसरे राष्ट्रों के राष्ट्रवाद से कुछ अलग, विशिष्ट दिखाने के लिए इसमें तमाम नैतिक उद्बोधन, आस्थाएँ और सद्गुण भी जोड़ दिए जाते हैं। नैतिक शुद्धतावाद के इस राष्ट्र विमर्श की धुरी में स्त्रियाँ ही मौजूद थीं और उन्हीं की पश्चिमी स्त्रियों से भिन्नता रेखांकित करते हुए भव्य राष्ट्रीय-सामाजिक गुणों का पाठ निर्मित किया जाता था। 19वीं सदी के अपने विशिष्ट राजनीतिक संदर्भ थे। जो लोग परंपरा की तुलना में सुधार के पक्ष में रहते थे, वही राष्ट्रीयता का सवाल आने पर घनघोर परंपरावादी हो जाते थे। जैसे कि भारतेन्दु के नाटक नीलदेवी (1881) में यूरोपियन स्त्रियों की तुलना में देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन दशा पर अफसोस जताया गया है,

वहीं दूसरी ओर यह कहकर भी सफाई दी कि, “इससे यह शंका किसी को न हो कि मैं स्वप्न में भी यह इच्छा करता हूँ कि इन गौरांग युवती समूहों की भाँति हमारी कुल लक्ष्मीगणा भी लज्जा को तिलांजलि देकर अपने पति के साथ घूमे।” यानी सुधारकों ने अपनी ओर से तय कर दिया कि पुरुषों के साथ घूमने भर से स्त्रियों के भीतर लज्जा समाप्त हो जाती है। जाहिर है कि जब पति के साथ घूमने भर से लज्जा जाती है तो अकेले घूमने से तो धरती पर प्रलय ही आ जाती होगी।

थोड़ा आश्चर्य इस बात का होता है कि जिस पश्चिम व पश्चिमी मेमसाहब के नकारात्मक प्रभाव से अपनी उच्चवर्गीय स्त्रियों को बचाने की चिंता की जा रही थी उसी पश्चिम से प्रेरित होने के लिए पुरुषों से अपीलें भी की जा रही थीं। यानी पुरुषों को पश्चिमी सभ्यता से सीख ग्रहण करने और स्त्रियों को उसी पश्चिमी सभ्यता के छूत से दूर रहने के लिए कहा जा रहा था। इस मामले में बालकृष्ण भट्ट के दो लेखों ‘स्त्रियाँ’ और ‘हमारी गुदड़ी के लाल’ की तुलना की जा सकती है। ‘स्त्रियाँ’ नामक लेख में भट्ट जी ने स्त्रियों को हीन समझने, उन पर अत्याचार करने या शास्त्रों में उनके साथ अन्याय करने की घोर निंदा की है। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के चरित्र को सामने रखकर यह भी बताया है कि स्त्रियाँ भी वीरता के मामले में पुरुषों से पीछे नहीं हैं। पर अंततः उनके लिए भी स्त्री पश्चिम व पूरब की सभ्यता के टकराव में पूर्वी सभ्यता को उत्कृष्ट साबित करने वाली प्रतीक पहले है व्यक्ति बाद में। हिंदू स्त्री के माध्यम से ही जैसे वह यूरोपीय सभ्यता की प्रगति के दावे को निरर्थक बना सकते हैं, बाकी तो हर चीज में उनकी श्रेष्ठता सिर झुकाकर स्वीकार करनी ही पड़ रही है। घर के बाहर पिट रहा, इज्जत के मामले में तार-तार हो रहा तथा गुलामी स्वीकार कर चुका मर्द अब अपनी स्त्रियों की परम सांस्कृतिक विलक्षणता तथा श्रेष्ठता की कल्पनाओं में हीनभावना से उबरने की चेष्टा में जुट जाता है। ‘स्त्रियाँ’ नामक लेख में भट्ट जी लिखते हैं “अपना तन-मन जलाकर और सर्वस्व सुख से हाथ धोकर कुल की मर्यादा का निर्वाह कर देना आर्य-कुल-कामिनी ही जानती हैं जो यूरोप की सुशिक्षित रमणी सौ बार जन्म लेकर भी नहीं कर सकती है।” यानी कहाँ हमारी आर्य-कुल-कामिनियाँ और कहाँ यूरोप की रमणियाँ इसी लेख में यूरोपीय स्त्रियों को नैतिकता के मामले में पतित व भ्रष्ट भी-बताया गया और कहा गया कि भारत ललनाओं में बन्धनी और कुलटाएँ भी इतना साहस करने की हिम्मत न करेंगी जैसा वहाँ अच्छे-अच्छे घरों की कुलांगनाएँ करती हैं। यानी हिंदुओं की कुलटाएँ भी वहाँ की अच्छे घरों की स्त्रियों से अधिक नैतिक हैं। पर भट्ट जी पुरुषों का मामला आने पर पश्चिम के बारे में ठीक उलट सोच प्रदर्शित करते हैं। ‘हमारी गुदड़ी के लाल’ में वह लिखते हैं “यूरोप के नौजवानों से अब हम अपने यहाँ के नवयुवकों को मिलाने हैं तो उनमें और इनमें बड़ा अंतर देखने में आता है। यूरोप में ऐसी कोई बात नहीं है जो आगे बढ़ने से इन्हें रोक सके बल्कि हर बात सामाजिक, मजहबी तथा घरेलू डोमेस्टिक सब इस ढब से रखी गई है कि उनको अपने लिए तरक्की करने में बाधा डालना कैसा बल्कि हर तरह का आराम पहुँचाती है। यूरोप के नौजवान तो हमारे युवकों के लिए प्रेरणास्रोत बन सकते हैं, जबकि यूरोप की स्त्रियों की चर्चा आते ही सांस्कृतिक विकास की चिंता बैचैन करने लगती है। सामाजिक व व्यक्तिगत विकास के मामले में पुरुषों को ही आगे आना था जबकि स्त्रियों को अभी उस हिंदू पितृसत्ता के प्रति वफादार रहना था जो उनके जीवन को भले ही नर्क बनाए पर पश्चिम के अहंकार के सामने पुरुषों की नाक को, ऊँचा रखे। यह पूरा मामला केवल पश्चिम व पूर्व की सभ्यता की असमानता को ही व्यक्त नहीं बल्कि स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिल असमानता को ज्यादा स्पष्टता से व्यक्त करता है।

स्त्री-पुरुष संबंधों की इस जटिलता में स्त्री के मनोजगत का औपनिवेशीकरण होता है जिससे वह पुरुषों की बातों के लिए विनम्रता दिखाएँ, उसके संबंध में किसी भी प्रश्नवाचकता को मन में जगह न दें। जिस तरह से 19वीं सदी के पुरुष औपनिवेशिक गुलामी के शिकार हो जाने के बावजूद उसे सही व उपयोगी मानते थे उसी प्रकार उनके मन में विश्वास था कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की सुधारवादी गुलामी का औचित्य ढूँढ लेंगी और उसी में अपने विकास की ठीक उसी तरह से संभावनाएँ देखेंगी जिस तरह से वे खुद उपनिवेशवाद में अपने विकास की स्थितियाँ निर्मित होते देख रहे थे। पुरुषों का उपनिवेशवाद के आगे समर्पण खुद परिवार की उनकी अपनी स्त्रियों से पुरुषों के समक्ष नए ढंग के समर्पण की आशा का जनक बन गया था। वे अंग्रेज हाकिमों के आगे झुककर उपनिवेशवाद के फायदे उठा रहे थे तो परिवार की स्त्रियों से यह अपेक्षा करते थे कि वे पुरुष, जो भी कई चीजें व सुविधाएँ उन्हें दे रहे हैं, उसमें कोई मीन-मीख निकाले बगैर उसे स्वीकार करती रहें। व्यक्तित्व अर्जन के क्षेत्र में आड़े आने वाली सांस्कृतिक बाधाओं के सामने विवशता को पूर्ववत् स्वीकृति देकर पुरुषों से अपेक्षा रखें और इंतजार करें कि वह इन बाधाओं को उनके सामने से हटाएगा। जिस तर्क से औपनिवेशीकरण को वैधता मिलती थी लगभग उसी तर्क से परिवार में पुरुषों की सत्ता को भी वैधता प्राप्त होती थी। अंग्रेजी शासन में पुरुष की स्थिति एक शिक्षित चाकर की थी जो अपने मन में गुलामी के औचित्य को भली-भाँति अनुभव करता था, उसी प्रकार वह परिवार में स्त्री को भी पढ़े-लिखे गुलाम की छवि में देखता था और स्त्रियों के मन में गुलामी के औचित्य स्थापन के प्रति सीमा से अधिक आश्वस्त था।

(‘भारतीय उपन्यास और आधुनिकता’ नामक पुस्तक से)

## लेखक परिचय

- गोपाल राय** : बक्सर (बिहार) में 13 जुलाई, 1932 को जन्म। मृत्यु 25 दिसंबर, 2015 में। आलोचक और संपादक। 'समीक्षा' पत्रिका के संपादक रहे।
- अजित कुमार** : लखनऊ (उ. प्र.) में 09 जून, 1933 को जन्म। कवि और आलोचक।
- भोलाभाई पटेल** : मेहसाना (गुजरात) में 7 अगस्त, 1934 को जन्म। मृत्यु 20 मई, 2012 को। आलोचक, अनुवादक और निबंधकार।
- परमानंद श्रीवास्तव** : गोरखपुर (उ. प्र.) में 10 फरवरी, 1935 को जन्म। मृत्यु 5 नवम्बर, 2013 को। कवि और आलोचक। 'आलोचना' पत्रिका के संपादक रहे।
- राजी सेठ** : नौसेरा छावनी (अब पाकिस्तान में) सन् 1935 में जन्म। कथाकार, कवयित्री और अनुवादक। 'युगसाक्षी' पत्रिका की सहायक संपादक रहीं हैं।
- रमेशचन्द्र शाह** : अल्मोड़ा (उ. प्र. अब उत्तराखंड) में 15 नवंबर, 1937 को जन्म। कवि, कथाकार, आलोचक और निबंधकार।
- नित्यानंद तिवारी** : गाजीपुर (उ. प्र.) में 8 अप्रैल, 1938 को जन्म। आलोचक।
- मैनेजर पाण्डेय** : लोहटी (गोपालगंज) में 23 सितंबर, 1941 को जन्म। आलोचक।
- सत्यप्रकाश मिश्र** : दोस्तपुर (सुल्तानपुर, उ. प्र.) में 16 जनवरी, 1945 को जन्म। मृत्यु 27 मार्च, 2007 में। आलोचक और संपादक। 'माध्यम' और 'चेतना' पत्रिकाओं के संपादक रहे।
- शंभुनाथ** : देवघर (बिहार, अब झारखंड) में 21 मई, 1948 को जन्म। आलोचक। 'समकालीन सृजन' पत्रिका के संपादक।
- वीरेंद्र यादव** : जौनपुर (उ. प्र.) में 5 मार्च, 1950 को जन्म। आलोचक और अनुवादक। 'प्रयोजन' पत्रिका के संपादक रहे।
- जवरीमल्ल पारख** : जोधपुर (राजस्थान) में 8 अगस्त, 1952 को जन्म। आलोचक और पटकथा लेखक।
- मदन सोनी** : सागर (म. प्र.) में सन् 1952 में जन्म। आलोचक।
- विनोद शाही** : चरखी दादरी (हरियाणा) में 1 जनवरी, 1955 को जन्म। आलोचक, कहानीकार और कवि।
- रोहिणी अग्रवाल** : मानसा (पंजाब) में 9 दिसंबर 1959 को जन्म। कहानीकार और आलोचक।
- अवधेश कुमार सिंह** : 1960 में जन्म। आलोचक, संपादक और अनुवादक।
- प्रणय कृष्ण** : इलाहाबाद (उ. प्र.) में 20 नवंबर 1965 को जन्म। आलोचक। 'समकालीन जनमत' पत्रिका के संपादक।
- आशुतोष कुमार** : भेलमा (भभुआ, बिहार) में 5 जनवरी 1968 को जन्म। आलोचक।
- वैभव सिंह** : उन्नाव (उ. प्र.) 4 सितंबर, 1974 को जन्म। आलोचक और अनुवादक।

## केन्द्रीय हिन्दी संस्थान

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार  
संपर्क : हिन्दी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन : 0562-2530684,  
वेबसाइट : www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

### संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

### संस्था के प्रमुख उद्देश्य

● भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिन्दी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ● विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिन्दी शिक्षण का प्रसार, हिन्दी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिन्दी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिन्दी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहित और हिन्दी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन ● अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ● संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ● समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फैलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिन्दी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

### संस्थान के कार्य

● **शिक्षणपरक कार्यक्रम** : (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिन्दी शिक्षण (ii) हिन्दीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम, (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिन्दी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● **अनुसंधानपरक कार्यक्रम** : (i) हिन्दी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिन्दी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिन्दी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिन्दी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिन्दी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास** : (i) हिन्दीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिन्दी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिन्दीतर राज्यों के लिए हिन्दी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण पाठ्य पुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिन्दी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिन्दी शिक्षण संबंधी पाठ्य सामग्री का निर्माण, (vi) हिन्दी तथा हिन्दीतर भारतीय भाषाओं के द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

● **संस्थान के प्रकाशन** : हिन्दी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेक अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्य पुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका - 'गवेषणा', 'मीडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

● **पुस्तकालय** : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिन्दी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)

● **संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय** : हिन्दी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिन्दी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

● **योजनाएँ** : ● भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिन्दी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ● अफगानिस्तान के नान्दारहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ● विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरीशस, बेल्जियम, रूप आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिन्दी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ● हिन्दी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिन्दी कॉर्पोरा परियोजना, हिन्दी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिन्दी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

डॉ. कमल किशोर गोयनका, उपाध्यक्ष के.हि.शि.मं.

प्रो. नंद किशोर पंडेय निदेशक

## ग्राहक/सदस्यता-प्रपत्र

संपादक

पक्षधर

प्रिय महोदय,

पक्षधर के लिए वार्षिक/पंचवार्षिक/आजीवन सदस्यता शुल्क रुपये.....

का धनादेश/चेक/ड्राफ्ट द्वारा भेज रहा/ रही हूँ। कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ :

नाम.....

पता.....

.....

दूरभाष.....

पता:

सम्पादक

पक्षधर

C-4/604 ऑलिव काउंटी,

सेक्टर-5, वसुंधरा

गाजियाबाद-201012

मो. 09560236569

ई-मेल: pakshdharwarta@gmail.com

सदस्यता शुल्क :

एक प्रति ₹ 75

वार्षिक व्यक्तिगत ₹ 200, संस्थाओं के लिए ₹ 300 (डाक खर्च सहित)

पाँच वर्षों के लिए ₹ 1000

आजीवन ₹ 2500

विदेश के लिए (वार्षिक)75 डॉलर \$

आप सीधे बैंक खाते में भी सदस्यता शुल्क जमा कर सकते हैं।

बैंक खाता का विवरण :

A/C No. 31266280438

बैंकस्टेट बैंक ऑफ इंडिया

शाखादिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

IFSC-SBIN0001067

MICR Code-110002030

ड्राफ्ट/चेक 'पक्षधर' के नाम से भेजें। दिल्ली से बाहर के चेक के साथ 50 रुपए अतिरिक्त जोड़ें।